काव्यमीमांसा

अनुवादक
पण्डित केदारनाथशर्मा सारस्वत
(सुप्रभातम्-सम्पादक)



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

UNIVERSAL
LIBRARY

काव्यमीमांसा

अनुवादक

पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत
'सुप्रभातम्'-सम्पादक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक—
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन,
पटना—३

प्रथम संस्करण; वि० सं० २०११; सन् १९५४ ईस्वी

मूल्य ८) : सजिल्द ९॥)

मुद्रक—
बालकृष्ण शास्त्री,
ज्योतिष प्रकाश प्रेस,
बनारस

प्राक्कथन

काव्य-मीमांसाके रचयिता कविराज राजशेखर काव्य-शास्त्रके आचार्योंकी उस प्राचीन परम्परामें आते हैं, जिसका प्रारम्भ सुदूर अतीतके धूमिल क्षितिजमें केवल अस्पष्टरूप से अभिव्यञ्जित है। स्वयं राजशेखरने 'काव्यमीमांसा' के आरम्भमें लिखा है कि जिस कवि-रहस्यका उद्घाटन वे करने जा रहे हैं, उसका सर्वप्रथम निर्माण इन्द्रने किया था। उसी सिलसिलेमें, काव्यशास्त्रके भिन्न-भिन्न अंगोंके प्रथम प्रणेताके रूपमें उन्होंने उक्ति-गर्भ, सुवर्णनाम, प्रचेता, यम, चित्राङ्गद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर, उतथ्य, कुबेर, कामदेव, भरत, नन्दिकेश्वर, धिषण (बृहस्पति), उपमन्यु तथा कुचमारका उल्लेख किया है[1]। आज हम जिस परिस्थितिमें हैं, उसमें यह कहना कठिन है कि इन नामोंमेंसे कितने प्रामाणिक हैं; क्योंकि अधिकांशके विषयमें हमें कोई ज्ञान नहीं है। किन्तु इतना निश्चय है कि इनमें से कई नाम ऐसे हैं जो ऐतिहासिक तथा प्रामाणिक हैं। उदाहरणतः 'कामसूत्र' में 'सुवर्णनाभ' और 'कुचमार' की चर्चा आई है। 'भरत' के 'नाट्यशास्त्र' की प्रामाणिकताके सम्बन्धमें तो कोई शंका हो नहीं है। भरतके नाट्यशास्त्रके अन्तमें 'नन्दिभरत' नामका भी उल्लेख है। सम्भवतः यह 'नन्दिभरत' और 'नन्दिकेश्वर' दोनों एक हों।

इस प्रसंगको अधिक विस्तार न देते हुए हम इतना तो अवश्य कहेंगे कि भारतीय काव्य-शास्त्रकी परम्परा किसी-न-किसी रूपमें वैदिक संहिताओंके युगसे ही चलती आ रही है। किन्तु काव्यशास्त्रका स्पष्ट और वैज्ञानिक रूप हमें प्रथम-प्रथम 'भरत' मुनिने अपने नाट्य-शास्त्र में दिया। वैसे तो 'अग्निपुराण' में भी साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्तोंका स्थान-स्थान पर सुन्दर विवेचन मिलता है; किन्तु वे अंश जिनमें यह विवेचन सम्पन्न हुआ है, कहाँ तक भरतके नाट्यशास्त्रसे प्राचीनतर हैं, यह सन्देहास्पद है। भरतके नाट्यशास्त्रका समय प्रायः ईसवी सदीका प्रारम्भ माना जाता है। उस समयसे काव्यशास्त्रकी जो धारा प्रवाहित हुई, वह अविच्छिन्न रूपसे चलती चली आई है। काव्यशास्त्रके इन भरत-परवर्त्ती आचार्योंमें हम निम्नलिखित नामोंका उल्लेख करना चाहेंगे—

---

१. 'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनामः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकानि चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकारिकं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति।'

मेधावी, भट्टिकाव्यकार, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वन्यालोककार, राजशेखर, भट्टनायक, कुन्तक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, महिमभट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, केशवमिश्र, अपय्य दीक्षित, जगन्नाथ और नागेशभट्ट।

हमारे हिन्दी रीति-साहित्यके आचार्योंने भी काव्य-शास्त्रकी अनुपम विवेचना की है; किन्तु केशव, बिहारी, भूषण मतिराम आदिसे लेकर भानु कवितकने जो प्रतिपादन किया है, वह मुख्यांशमें संस्कृत-साहित्यसे ही अनुप्राणित है। ऐसी स्थितिमें हमारा यह दृढ विश्वास है कि हिन्दीके काव्य-शास्त्रके समुचित ज्ञानके लिए संस्कृतके आकरभूत काव्य-शास्त्रसे परिचय आवश्यक है। संस्कृतके काव्यशास्त्रमें 'राजशेखर' और उनकी 'काव्य-मीमांसा'का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह रस, गुण अथवा अलंकारोंके प्रतिपादनको अपना प्रमुख लक्ष्य मानकर नहीं चलती; किन्तु शास्त्रसंग्रह, शास्त्र-निर्देश आदि आधारभूत तथा गम्भीर विषयोंका प्रतिपादन करती है और उसी क्रममें रस, अलंकार आदि का भी विश्लेषण आता है। राजशेखरने जिस विद्वत्ताके साथ काव्यमीमांसाकी रचना की है, उसे ध्यानमें रखते हुए 'बाल-रामायण' में एक स्थलपर यह श्लोक आया है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूति-रेखया
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

तात्पर्य यह है कि आदि कवि वाल्मीकि ही इतर जन्मोंमें क्रमशः भवभूति और राजशेखरके रूपमें प्रकट हुए। इससे हम राजशेखरके पाण्डित्य और उनकी प्रसिद्धि का अनुमान लगा सकते हैं।

हिन्दीमें अबतक राजशेखरकी काव्यमीमांसाका प्रामाणिक अनुवाद नहीं था। यह हमारे लिए सभी दृष्टियोंसे चिन्ताजनक स्थिति थी। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्की ओर से पण्डित श्रीकेदारनाथशर्मा सारस्वत जैसे अधिकारी विद्वान् द्वारा इसका अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हमें गौरवका अनुभव होता है। सारस्वतजीने प्रकांड विद्वान् स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माका शिष्यत्व प्राप्त किया है और 'सुप्रभातम्' जैसे विख्यात संस्कृत-पत्रका सम्पादन कर विशिष्टरूपसे ख्याति-अर्जन किया है। हमें विश्वास है कि काव्यके मनीषी और साहित्यके प्रेमी इस अनुवादका समुचित स्वागत करेंगे।

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री
परिषद्-मंत्री

विषय-सूची



कविराज राजशेखर

विक्रम संवत्सरकी नवम, दशम और एकादश शताब्दियोंका समय, संस्कृत वाङ्मयका दीप-निर्वाण काल कहा जा सकता है। इन तीन शतकोंमें संस्कृत वाङ्मयकी विभिन्न शाखाओंपर सूक्ष्मरूपसे पर्याप्त तथा विस्तृत विवेचन, समीक्षण एवं परीक्षण किया गया। इस मीमांसाकालमें, प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों द्वारा सूत्रोंके रूपमें संकलित संक्षिप्त शास्त्रीय विषयोंपर, तत्कालीन कुशाग्रमति विद्वानोंने, तर्कों युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा गम्भीरतम रूपमें वैज्ञानिक विवेचन किये। इन दार्शनिक विचारधाराके विद्वानोंके समीक्षणोंसे इन तीन शताब्दियोंमें संस्कृत-वाङ्मय-कल्पतरु, अनेक शाखाओं तथा प्रशाखाओं द्वारा विस्तृत, गहन एवं परिपुष्ट होता रहा है। इसी समय विभिन्न विषयोंपर तत्कालीन विद्वानोंमें विवाद (शास्त्रार्थ) प्रणालीका प्रचार हुआ और बौद्ध एवं जैन विद्वानोंने भी संस्कृत-वाङ्मयकी इस मीमांसामें महत्वपूर्ण भाग लिया।

इन्हीं शतकोंमें जहाँ आचार्य शंकर, भट्ट कुमारिल, मण्डन मिश्र, उद्योतकर, आचार्य उदयन, सायण, माधव, विज्ञानेश्वर आदि प्रकाण्ड दार्शनिक, मीमांसक, तार्किक तथा धर्मशास्त्री आलोचक विद्वान् उत्पन्न हुए, वहीं बौद्ध-आचार्य धर्मकीर्ति, कमलशील, जैन-आचार्य पाल्यकीर्ति आदिने संस्कृत दर्शन, व्याकरण आदि विषयोंपर तथा साहित्य-क्षेत्रमें आचार्य वामन, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, मम्मट, भोज आदि विद्वानोंने रस, अलंकार, ध्वनि एवं रीति विषयोंपर, सूक्ष्मतर और गंभीरतम मीमांसाओं द्वारा संस्कृत-भाण्डागारको अनेक अमूल्य उज्ज्वल रत्न प्रदान किये।

इन शतकोंके अनन्तर जो विद्वान् उत्पन्न हुए, वे इन्हीं विद्वानोंकी रचनाओं पर टीका-टिप्पणियाँ, शुष्क-शास्त्रार्थ, संग्रह एवं निबन्ध-ग्रन्थोंकी रचनाएँ करते रहे। मौलिक गवेषणाओं और विचारोंकी वह छटा फिर न दीख पड़ी।

इन शतकोंमें साहित्य-सम्बन्धी रचनाओं एवं मीमांसाओंके प्रधान क्षेत्र दो थे—प्रथम कश्मीर और दूसरा कन्नौज। इस अवसर पर जहाँ कश्मीरके संस्कृत-प्रणयी राजाओंके शासनकालमें, आनन्द, अभिनव, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक विद्वानोंने जन्म-लिया; वहाँ कान्यकुब्जके यशोवर्मा, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि संस्कृतानुरागी राजाओंके शासन-कालमें वाक्पतिराज, भवभूति, राजशेखर आदि विद्वानोंने आश्रय प्राप्त कर साहित्य-क्षेत्रमें अद्भुत प्रतिभाका परिचय दिया और संस्कृत-साहित्य-भाण्डारकी सर्वतः श्री-वृद्धि की। इनमें कविराज राजशेखरका प्रमुख स्थान है, जिनकी विस्तृत चर्चा हमारा प्रमुख ध्येय है। नैषध जैसे महाकाव्य तथा खण्डनखण्डखाद्य—जैसे उत्कृष्टतम कोटिके दार्शनिक ग्रन्थोंके प्रणेता श्रीहर्ष भी इसी कान्यकुब्जकी राजसभामें थे।

राजशेखर, अपने समयके सिद्धहस्त नाटककार, प्रौढ महाकवि, गम्भीर मीमांसक और चतुरस्र विद्वान् थे। राजशेखरकी रचनाओंमें चार नाटक, एक भूगोल-सम्बन्धी निबन्ध, एक महाकाव्य और एक काव्यरचना-शास्त्रपर आलोचनात्मक विस्तृत निबन्धका पता चलता है।

हम पहले कह आये हैं कि साहित्य-सम्बन्धी रचनाओंमें प्रथम स्थान कश्मीरका और दूसरा कन्नौजका था। इनमें यह अन्तर देखा जाता है कि जहाँ कश्मीरी कवियोंकी प्रवृत्ति श्रव्यकाव्योंमें अधिक देखी जाती है, वहाँ कन्नौजके कवियोंमें दृश्यकाव्यों—नाटकों—की ओर अधिक अभिरुचि थी। इन शतकोंमें कश्मीरमें हरविजय, श्रीकण्ठचरित, हरचरित-चिन्तामणि, भारत-मंजरी, रामायण-मंजरी—जैसे महाकाव्योंका प्रणयन हुआ, इधर कन्नौजमें, महावीर-चरित, उत्तर-रामचरित, मालती-माधव, बाल-रामायण, बाल-भारत, विद्धशालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी एवं चण्डकौशिक—जैसे उत्कृष्ट नाटकोंकी रचना हुई।

इसके अतिरिक्त भाषाके सम्बन्धमें भी कुछ अन्तर देखा जाता है। कश्मीरके कवियोंकी रचनाएँ एकमात्र संस्कृत भाषामें पाई जाती हैं। प्राकृतमें उनको स्वतन्त्र-रचनाका प्रायः अभाव है। नाट्य-रचनाके अभावके कारण भी कश्मीरियोंकी रचनाओंमें प्राकृत नहीं पाई जाती। परन्तु मध्यदेशमें संस्कृतके समान प्राकृत, अपभ्रंश, भूत-भाषा, सौरसेनी आदि प्राकृत भाषाओंका भी कविताकी भाषाके रूपमें प्रचुर प्रयोग हुआ है। तत्कालीन वाक्पति राजदेवने प्राकृतभाषामें 'गौडवध' नामक महाकाव्यकी रचना की थी। भवभूति और राजशेखर तो इस विषयके प्रबल पक्षपाती थे। राजशेखरने इस मध्यदेशके कवियोंके लिए सभी भाषाओंमें प्रवीण होना आवश्यक बताया है।[1] इस सम्बन्धमें हम आगे चलकर विस्तृत विवेचन करेंगे। इसके पूर्व राजशेखरके समय, देश, कुल आदि विषयोंपर विचार किया जायगा।

समय

राजशेखरका समय निर्णय करना अन्य-अन्य संस्कृत-कवियोंके समान दुरूह नहीं है। राजशेखरने जो चार नाटक लिखे हैं, उन सबकी प्रस्तावनामें गौरवके साथ उन्होंने अपनेको कन्नौजके राजा महेन्द्रपालका गुरु बताया है[2] और अन्तिम नाटक 'बालभारत'में महेन्द्रपालके पुत्र महीपालको अपना संरक्षक लिखा है। महेन्द्र-पालका दूसरा नाम निर्भयराज भी था। कर्पूरमञ्जरी सट्टकमें उसे निर्भयराजके नामसे स्मरण किया गया है।[3] बालभारत नाटकमें महेन्द्रपालके पुत्र महीपालको अपना संरक्षक माना है। इससे यह सिद्ध है कि राजशेखर कन्नौजके राजा महेन्द्रपालके विद्यागुरु थे और उसकी मृत्युके अनन्तर उसके पुत्र महीपालके भी सभाकवि थे।

राजा महेन्द्रपाल गुर्जर–प्रतिहार–वंशका राजा था। राजपुतानेके गुर्जर-प्रतिहार-वंशके शासक नागभट्टने, जिसकी राजधानी भिन्नमाल या भिलमाल थी, सर्वप्रथम कन्नौजपर शासन स्थापित किया। नागभट्टके उत्तराधिकारी रामभट्टने ८३४ से ८४० ई० तक तथा उसके पुत्र मिहिर-भोजने ८४० से ८९० ई० तक शासन किया। इसने अपनेको विष्णुका अवतार कहकर आदि-

---

१. यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।
—काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

२. किमपरमपरैः परोपकार-व्यसन-निधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य।
रघुकुल-तिलको महेन्द्रपालः सकलकला-निलयः स यस्य शिष्यः॥
—विद्धशालभञ्जिका, अङ्क—१।

३. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥ —कर्पूरमञ्जरी, १–९।

वराहकी उपाधि धारण की। मिहिरभोजका पुत्र महेन्द्रपाल था। पंजाबको छोड़कर समस्त आर्यावर्तमें इसका राज्य था। इसकी राजधानी गंगा तटपर स्थित गाधिपुर थी। गाधिपुर और महोदय—ये दोनों नाम कान्यकुब्जके हैं, जो आजकल कन्नौजके नामसे विख्यात है। रायबरेली जिलेके अइनी ग्राममें तथा शिडनीमें प्राप्त शिलालेखोंमें राजा महेन्द्रपालकी चर्चा है, जो विक्रम-संवत् ९७४ (ई० सन् ९१७–१८) का है। इस दृष्टिसे कन्नौजके राजा महेन्द्रपालका समय विक्रमाब्द ९४७–९६५ (ई० ८९०–९०८) तक अर्थात् १८ वर्षोंका होता है। उसके पुत्र महीपाल देवका समय विक्रमाब्द ९६७–९९७ (ई० सन् ९१०–९४०) तक है। अतः राजशेखरका समय विक्रमाब्द ९३७–९७० (ई० सन् ८८०–९२०) तक निर्विवाद माना जा सकता है।

राजा महीपालदेवकी सभामें एक प्रसिद्ध कवि आर्य क्षेमीश्वर थे; जिन्होंने चण्डकौशिक नामक नाटककी रचना की है। इसका हिन्दी-अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने सत्य हरिश्चन्द्र नामसे किया है। ये राजशेखरके समय या उसके कुछ अनन्तर महीपालके सभाकवि रहे होंगे। इनके सम्बन्धमें आर० डी० बनर्जीने लिखा है कि आर्य क्षेमीश्वरका संरक्षक महीपाल, बंगालके पाल-वंशका राजा था और चण्ड-कौशिकका निर्माण बंगालमें हुआ था।[1] परन्तु यह बनर्जी महोदयका भ्रममात्र है। कारण यह कि आर्य क्षेमीश्वरने अपने नाटककी प्रस्तावनामें महीपाल-देवके सम्बन्धमें लिखा है कि महीपालने कर्णाटकोंको हराया था।[2] ऐतिहासिक प्रमाणों-द्वारा यह सिद्ध है कि राष्ट्रकूट वंशके राजा तृतीय-इन्द्रने कन्नौजके महीपालको पराजित किया था। महीपालने चन्देले राजा हर्षदेवकी सहायतासे पुनः राज्य प्राप्त किया। यह घटना ईसवी सन् ९१५–९१७ की है। अतः क्षेमीश्वरको बंगालके पालवंशीय राजा महीपालका सभापण्डित मानना कथमपि युक्ति-संगत नहीं है। क्योंकि इस पालवंशके किसी भी राजाने कर्णाटककी लड़ाई नहीं लड़ी थी और न आर्यचाणक्यकी नीतिका अनुसरण ही किया था। इस विषय पर अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं; किन्तु विस्तार न करके इतना कहना ही अलम् होगा।

उक्त प्रमाणोंसे विक्रमकी नवम शताब्दीका मध्यभाग राजशेखरका निश्चित समय माना जा सकता है।

साहित्यकारोंकी दृष्टिसे भी राजशेखरका यही समय हो सकता है। राजशेखरने काव्य-मीमांसामें कश्मीरके उद्भट, वामन, आनन्दवर्द्धन तथा कन्नौजके वाक्पति-राजदेव एवं भवभूतिके नाम उद्धृत किये हैं। इनमें उद्भट कश्मीरके राजा जयापीड़की सभाके सभापति थे।[3] जयापीड़का समय विक्रमाब्द ८३६–८७० (ई० सन् ७७९–८१३) है। यही समय वामनका भी

---

१. देखिए, आर० डी० बनर्जी : पाल्स आफ बंगाल, पृष्ठ–७३.

२. यः संश्रित्य प्रकृतिगहनामार्यचाणक्यनीतिं
जित्वा नन्दान् कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय।
कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं
दोर्दर्पाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेवः॥

—चण्डकौशिक, १।

३. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥ —राजतरंगिणी, ४–४९५।

है।[1] सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोकके रचयिता आनन्दवर्द्धन कश्मीरके राजा अवन्तिवर्माके सभा पण्डित थे[2], जिनका शासनकाल विक्रमाब्द ९१४–९४१ (ई० सन् ८५७–८८४) था। अतः आनन्दके कुछ ही उपरान्त राजशेखरका होना निश्चित है। इसके पूर्व उनका अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

इधर राजशेखरको क्षेमेन्द्र,[4] सोमदेव और सोड्ढलने उद्धृत किया है। ये तीनों कवि विक्रमाब्द १०४०–१०६० के लगभग हुए हैं। अतः इनके पूर्व राजशेखरका होना सिद्ध है। श्रीकण्ठचरित-महाकाव्यके प्रणेता मङ्खने भी राजशेखर की चर्चा की है[5] यह ११ वीं शताब्दी-का है।

इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्रने औचित्य-विचार-चर्चा तथा सुवृत्त-तिलकमें राजशेखरको उद्धृत किया है। आचार्य अभिनव गुप्तने भी भरत-नाट्यशास्त्रकी टीकामें राजशेखरके नाटकोंके पद्य-उद्धृत किये हैं। मम्मटने काव्य-प्रकाशमें प्रायः राजशेखरके नाटकोंसे उदाहरण लिये हैं। अतः वे इनके पूर्वकालीन थे।

वंश और देश

राजशेखर महाराष्ट्र-देशवासी थे और यायावर-वंशमें उत्पन्न हुए थे। यायावरका अर्थ है—जो निरन्तर चलनेवाले हों। प्राचीन समयके ऋषियोंमें दो प्रकारके ऋषि होते थे—१. यायावरीय और २. शालीय। यायावरीयोंका व्रत था कि वे एक स्थानमें न रहकर प्रायः यात्रा करते रहते थे। संन्यासियोंके लिए भी यही नियम है। परन्तु यायावरीय संन्यासी नहीं होते थे। ये गृहस्थ या वानप्रस्थी सन्त थे। महाराष्ट्र देशमें आज भी कुछ ऐसे सन्त देखे जाते हैं; जो गौओं और अनेक व्यक्तियोंको साथ लेकर प्रायः यात्रा और भजन-कीर्तन करते रहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी एक सूक्तमें ऐसे यायावरोंका वर्णन आया है कि 'निरन्तर यात्रा करने वाले

---

१. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥
—राजतरङ्गिणी, ५ तरंग, ४९६ श्लो०।

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ५—१४९।

३. कविर्वाक्पतिराज-श्री-भवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ४—१४०।

४. क्षेमेन्द्रने अपने ग्रन्थोंके अन्तमें लिखा है—कश्मीरके राजा अनन्तदेवके शासन-कालमें ग्रन्थ-रचना की। यह अनन्तदेव कवियोंका सम्मानकर्ता और भोजराजका सम-कालीन था। इसका समय ईसवी सन् १०५० है। देखिए—

स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ। सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यौ द्वावास्तां कविबान्धवौ॥
—राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ७, श्लो० २५९।

५. प्रक्रमैर्हठवक्रिम्णो मुरारिमनुधावतः।
श्रीराजशेखरगिरो नीवी यस्योक्तिसम्पदाम्॥
—श्रीकण्ठचरित, २५ स०, ७४ श्लोक।

व्यक्तियोंकी जांघें पुष्ट होती हैं, आत्मा प्रबल होती है और यात्रा-श्रमसे उनके पाप दूर होते हैं' आदि[१]। ऐसे ही किसी यायावर महात्माके वंशमें जन्म लेनेके कारण राजशेखरने गौरव-वृद्धिके लिए अपने वंशको यायावरीय शब्दसे अलंकृत किया है।

बाल-रामायण नाटककी प्रस्तावनामें अपना परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है कि वे महाराष्ट्र-चूड़ामणि अकालजलदके चतुर्थ अर्थात् प्रपौत्र और दुर्दुकके पुत्र थे। उनकी माताका नाम शीलवती था[२]। इस नाटककी प्रस्तावनासे यह भी पता चलता है कि उनके पिता किसी राज्यके महामन्त्री भी थे[३]। वे स्वयं अपनेको उपाध्याय लिखते हैं। अतः वे ब्राह्मण थे।

उनके इस यायावर वंशमें अकालजलदसे लेकर अनेक विद्वान् कवि हुए हैं, जिनकी सामान्य और विशेषरूपसे राजशेखरने प्रशंसाकी है। इन कवियोंमें अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कादम्बरीराम और कविराजका नाम दिया गया है[४]।

अकालजलद इस यायावरकुलके अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि राजशेखरने अपने पिताके सम्बन्धमें अत्यन्त साधारण परिचय देते हुए और अपने पितामहके लिए मौन रहकर प्रपितामहका नाम अत्यन्त गौरवके साथ लिखा है। उनके नामसे परिचित होनेमें वे अपना गौरव समझते थे। ये अकालजलद कौन थे और इन्होंने क्या-क्या लिखा? यह पता नहीं चलता। बल्लभदेवकृत सुभाषितावलीमें अकालजलद नामाङ्कित एक पद्य दाक्षिणात्यके नामसे उद्धृत है, जो शार्ङ्गधरपद्धतिमें अकालजलदके नामसे ही संगृहीत है। यह पद्य निश्चय ही अकालजलदका है; क्योंकि इसमें श्लेषसे अकालजलदका नाम आया है। सम्भव है वे इस एक सुन्दर अन्योक्तिके कारण ही अकालजलदके नामसे प्रसिद्ध हो गये हों। पाठकोंकी जानकारीके लिए उसे हम यहाँ उद्धृत करते है—

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथु-पङ्क-कूट-लुठितैर्यस्मिन् मुहुर्मूर्छितम्।
तस्मिञ्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य यच्चेष्टितम्
येनाकण्ठनिमग्न-वन्य-करिणां यूथैः पयः पीयते॥

---

१. पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥ —ऐ० ब्रा०, ७. १५. २।

२. 'तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्र-चूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसूनुरुपाध्याय श्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन'

—बालरामायण, १।

तदकालजलदप्रणप्तुस्तस्य गुणगणः किमिति न वर्ण्यते।

—विद्धशालभञ्जिका, १।

३. सूक्तमिदं तेनैव मन्त्रिसुतेन।

४. स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरल-कविराज-प्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥

—बालरामायण, १।

जिस सूखे सरोवरमें मेंढक अपने बिलोंमें पड़े-पड़े मृतप्राय हो रहे थे, कछुए शीतलता प्राप्त करनेके लिए पृथ्वीमें धँसे जा रहे थे और बड़े-बड़े मत्स्य कीचडके ढूहों पर छटपटा कर मूछित हो रहे थे, इस अवसर पर अकालजलद (मेघ) ने आकर सूखे सरोवरमें ऐसी वर्षा की कि अब उसमें जंगली हाथियोंके झुंड गले तक डूब कर जल पी रहे हैं।

अकालजलदकी इस अन्योक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी मुक्तक या प्रबन्ध रचनाका पता नहीं चलता। सुभाषितावलीमें और भी दो-तीन पद्य दाक्षिणात्यके नामसे उद्धृत हैं। सम्भवतः ये अकालजलदके ही हों। राजशेखरके कथनानुसार कादम्बरीराम नामक कविने नाटकोंकी रचना की और उनमें अकालजलदके श्लोकोंको इस प्रकार समाविष्ट किया कि वे श्लोक कादम्बरीरामके ही प्रतीत होते थे।[1]

राजशेखरने अकालजलदकी काव्य-प्रशस्ति लिखी है, जिससे प्रतीत होता है कि उन्होंने मुक्तक-शैलीके अनेक पद्य लिखे होंगे और वे तत्कालीन समाजमें अत्यन्त आदरणीय व्यक्ति थे[2]।

इनके अतिरिक्त सुरानन्द नामक कवि भी यायावर वंशके थे और राजशेखरके पूर्वजोंमें थे। इनके सम्बन्धमें राजशेखरने लिखा है कि सुरानन्द चेदिदेशके राजा रणविग्रहकी सभाके रत्न थे।[3]

यह चेदिदेश वर्तमान महाकौशलका एक भाग था, जो नर्मदा तटपर स्थित है। इसकी राजधानी त्रिपुरी थी, जो वर्तमान जबलपुर जिलेमें अब भी विद्यमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। बालरामायणमें भी राजशेखरने चेदिराजका वर्णन किया है[4]। सुरानन्द इसीके सभाकवि थे। इनकी रचनाएँ भी नहीं मिलतीं। राजशेखरने काव्यमीमांसाके १३ वें अध्यायमें अपहरण-सम्बन्धी विवेचनामें सुरानन्दका मत उद्धृत किया है।[5] इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि काव्यमीमांसाके तीन अध्यायोंमें वर्णित अपहरण-पद्धति और उसके भेदोंकी नवीन-कल्पनामें राजशेखरको सुरानन्दके ग्रन्थसे कुछ प्रकाश प्राप्त हुआ हो।

इसके अतिरिक्त यायावर-वंशके तरल नामक कविका भी वर्णन आता है,[6] किन्तु उनकी भी रचना प्राप्त नहीं है। कविराज नामक किसी कविका नामोल्लेख भी यायावर

---

१. अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव।
ख्यातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः।
—जल्हण : सूक्तिमुक्तावलि।

२. अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचन-चन्द्रिका।
नित्यं कवि-चकोरैर्या पीयते न तु हीयते। —जल्हण : सूक्तिमुक्तावलि।

३. नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम्॥ —सूक्तिमुक्तावलि।

४. सीतास्वयंवरनिदानधनुर्धरेण दग्धा पुरस्त्रितयतो विभुना भवेन।
खण्डं निपत्य भुवि या नगरी बभूव तामेष चैद्यतिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति॥
—बालरामायण, ३-६८।

५. 'सोयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः'—इति सुरानन्दः,
—काव्यमीमांसा, १३ अध्याय।

६. यायावर-कुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम्।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा॥ —सूक्तिमुक्तावली।

वंशके कवियोंमें आता है। सम्भव है, यह स्वयं राजशेखरने अपने लिए ही लिखा हो; क्योंकि वे स्वयं अपनेको कविराज कहनेमें अधिक आग्रह रखते थे। कर्पूरमंजरीमें उन्होंने अपने लिए 'कविराज' शब्दका स्पष्ट प्रयोग किया है[1]। यह भी सम्भव है कि इस नामके अन्य कवि हुए हों, क्योंकि कविराज नामके अनेक कवि हो चुके हैं। बंगालके राजा लक्ष्मणसेनकी सभामें भी एक कविराज कवि थे।[2]

राजशेखर महाराष्ट्र थे। उन्होंने बालरामायण नामक नाटकमें अपने प्रपितामह अकालजलदको महाराष्ट्र-चूड़ामणि लिखा है।[3] कुन्तल, विदर्भ, लाट और चेदी इन चारों देशोंके कुछ-कुछ भागोंको मिलाकर महाराष्ट्र देश बनता है। मध्ययुगमें राजाओंके परस्पर युद्धोंके कारण समय-समयपर इन देशोंकी सीमाएँ बदलती रही हैं। राजशेखरके ग्रन्थोंके अवलोकनसे उपर्युक्त चारों देशोंसे उनका सम्बन्ध रहा है। चेदीके राजा रणविग्रहके यहाँ इनके एक पूर्वज सुरानन्द रहते थे। कर्पूरमंजरी सट्टक और विद्धशालभञ्जिका—नाटिका—दोनों ही रूपकोंकी नायिकाएँ लाटदेशकी राजकुमारियाँ हैं। विद्धशालभञ्जिकामें हैहयवंशीय किसी कलचुरी राजाको नायक बनाया है; जिन कलचुरियोंका शासन किसी समय चेदी और उसके आसपास रहा है।

लाटदेशका, जो गुजरात और पूर्वखान देशके भागोंको मिलाकर एक देश था, एक भाग महाराष्ट्र भी था। इस देशसे राजशेखरका अधिक परिचय था। लाटदेश-वासियोंकी प्राकृत भाषापर राजशेखर मुग्ध थे। काव्यमीमांसाके पाठ-पद्धति-प्रकरणमें उनके प्राकृतोच्चारणकी बहुत प्रशंसा की है[4]। इतना ही नहीं, बालरामायण नाटकमें लंकासे लौटते हुए रामने लाट देशका वर्णन करते हुए भी उस देशकी प्राकृतभाषाका ही विशेष वर्णन किया है[5]।

---

१. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥ —कर्पूरमञ्जरी, १–९।

२. गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः॥
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च॥

राघवपाण्डवीय काव्यका कर्ता कविराज नामक कवि इनसे पृथक् है, जो कदम्बके राजा कामदेवका सभापंडित था। उसका समय ११८२–११९७ माना गया है।

३. महाराष्ट्र-चूड़ामणेरकालजलदस्य चतुर्थः —बालरामायण, प्रस्तावना।

४. पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥ —काव्यमीमांसा, अ० ७।

५. यद्योनिः किल संस्कृतस्य, सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वचः
तांल्लाटांल्ललिताङ्गि! पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्॥
लक्ष्यीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटी-लडह-वीक्षितैः।
लक्ष्यीभवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम्॥

—बालरामायण, १० अङ्क, ४८–४९।

इसके अतिरिक्त प्रभुदेवी नामक किसी लाट-ललनाके संबन्धमें राजशेखरने अपनी सरसताका स्पष्ट वर्णन करते हुए लिखा है कि 'वह मर जानेपर भी अभी तक हृदयमें बैठी है।' यह कवयित्री न तो प्रसिद्ध है और न इसकी कोई रचना ही मिलती है; परन्तु विविध-कलाओंमें पारंगत एवं राजशेखरकी प्रणयिनी होनेके कारण उसे कवियोंकी पंक्तिमें स्थान प्रदान किया गया है[1]।

इस प्रकार लाटदेशका अधिक संबन्ध होनेसे मालूम होता है कि राजशेखर प्रथम अवस्थामें लाटदेशके राजाके यहाँ रहे हों और अन्तमें उससे अनबन होनेके कारण कन्नौजराज महेन्द्रपालके यहाँ आ गये हों। कारण यह कि लाटदेशसे प्रेम-प्रदर्शित करते हुए भी राजशेखरने बालरामायणके सीता-स्वयंवर प्रकरणमें वहाँके राजाको लम्पट, मायावी और सदा बनने-ठननेमें ही रहनेवाला आदि कहकर खूब बनाया है[2]।

राजशेखर विदर्भ देशके थे, जो आजकल बरारके नामसे हैदराबाद तक विस्तृत है। यह महाराष्ट्र देशका एक प्रधान अंग है। राजशेखरने इसी देशको कुन्तल देश भी लिखा है[3]। इससे मालूम होता है कि उनके समय बरारपर कुन्तल (कर्नाट) देशके राजाओंका शासन था। विदर्भके वर्णनमें राजशेखरने इसे सरस्वतीका जन्मस्थान और वाङ्मयकी विलास-भूमि बताया है[4]। काव्यमीमांसामें सारस्वतेय काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्यावधूका गान्धर्व

---

१. सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति॥
—सूक्तिमुक्तावली।

२. प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथमयं वीर-शृंगार-लम्पटो लाटेश्वरः ?
हेमप्रभा—लाटेश्वर एषः, तदस्मिन्…दीयन्तां सुन्दर-कटाक्षनिक्षेपाः।
सीता—यः प्रतिदिनं मण्डनमात्रव्यापारे सक्तचित्तः ?
प्रतीहारी—(स्वगतम्) स्वभावेन मायावान् मायावी अयम्।
रावणः—सत्यं शृंगार-लम्पट एवायं लाटराजः, किमत्र वीरव्यपदेशेन ?
—बालरामायण, अङ्क ३।

३. प्रतीहारी—कथमयं क्रथकैशिकाधिपतिः ?
हेमप्रभा—कुन्तलेश्वर एषः। तदस्य दर्शनेन सफलीकुरु नयन-निर्माणम्।
सीता—यो महाराष्ट्र-वरिष्ठः।
—बालरामायण, अङ्क ३।

४. सुग्रीवः—भरताग्रज ! अयमग्रे महाराष्ट्र-विषयः।
रामः—यत् क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमम्
स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद् वाङ्मयम्।
तद्यस्मिन्मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तञ्च काव्यामृतम्।
सोऽयं सुभ्रु ! पुरो विदर्भ-विषयः सारस्वती-जन्मभूः॥
किञ्च—रत-विद्या-विदग्धानां विभ्रमोल्लेख-लम्पटः।
नित्यं कुन्तल-कान्तानां किंकरो मकरध्वजः॥
—बालरामायण, १० अध्याय, ७४–७५।

विवाह भी विदर्भके वत्स-गुल्म नामक नगरमें कराया गया है। वत्स-गुल्मका नाम महाभारत[1], बृहत्कथा[2] तथा वात्स्यायन-कामसूत्रमें[3] भी आता है। यह उदयनके समयसे प्रसिद्ध स्थान है। इस समय इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इसके सम्बन्धमें वात्स्यायनने लिखा है कि यहाँके राजघरानोंकी स्त्रियाँ सपत्नियोंके पुत्रोंसे भी वासनापूर्ति कर लेती हैं। सम्भव है, यह अनाचार किसी समय इस देशमें प्रचलित रहा हो[4]। जो हो, राजशेखर महाराष्ट्र थे। हो सकता है, बरार प्रदेशके किसी भागमें उनका जन्मस्थान हो। महाराष्ट्र होनेके कारण उसके समीपवर्ती आन्ध्र, द्रविड़, कर्नाट, लाट आदि देशोंसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

क्षेमेन्द्रने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक प्रबन्धमें एक मनोरंजक श्लोक उद्धृत किया है, जो देश-सम्बन्धी अनौचित्य का उदाहरण है। क्षेमेन्द्रके अतिरिक्त यह पद्य अन्यत्र नहीं पाया जाता। उसे पाठकोंके परिचयार्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है। पाठक स्वयं ही इसके द्वारा अनुमान लगा सकते हैं।

कार्णाटी-दशनाङ्कितः शित-महाराष्ट्री-कटाक्ष-क्षतः,
प्रौढान्ध्री-स्तन-पीडितः प्रणयिनी-भ्रू-भंग-वित्रासितः।
लाटी-बाहु-विवेष्टितश्च, मलय-स्त्री-तर्जनी-तर्जितः,
सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति॥

अर्थात्—कर्णाट-कामिनियोंके दन्तक्षतसे चिह्नित, महाराष्ट्र-महिलाओंके तीक्ष्ण-कटाक्षोंसे आहत, प्रौढ़ आन्ध्र-रमणियोंके स्तनोंसे पीड़ित, प्रियतमाओंके भ्रू-भंगसे वित्रस्त, लाट-ललनाओंकी भुजाओंसे आलिंगित और मलय देशकी अंगनाओंकी तर्जनियोंसे तर्जित राजशेखर कवि, अब (वृद्धावस्थामें) वाराणसी जाना चाहता है[5]।

क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि राजशेखरने दक्षिणापथके देशोंके नामक्रममें एक स्थानमें केवल 'प्रणयिनी-भ्रू-भंग-वित्रासितः' लिखकर देशक्रमका भंग किया है, जो अनुचित प्रतीत होता है।

इस संदर्भसे यह सिद्ध है कि वे महाराष्ट्र देशवासी—बरार प्रान्तके—थे और दक्षिणापथके विविध देशोंसे परिचित भी थे।

---

१. महाभारतमें यह स्थान, नर्मदाके उद्गम स्थल—अमरकंटकके पास बताया गया है। देखिए, महा० वनपर्व, ८३ अध्याय, श्लोक ९।

२. अभूतां दाक्षिणात्यस्य द्विजातेः सोमशर्मणः।
वत्स-गुल्माभिधौ पुत्रौ············ ॥
—बृहत्कथामंजरी, १. ३. ४।

३. दक्षिणापथे सोदर्यौ राजपुत्रौ वत्स-गुल्मौ। ताभ्यामध्यासितो देशो वत्स-गुल्मक इति प्रतीतः।
—कामसूत्र, जयमंगला टीका, ५, ६, ३६।

४. प्रेष्याभिः सह तद्वेषान्नागरिक-पुत्रान् प्रवेशयन्ति वत्स-गुल्मकानाम्। स्वैरेव पुत्रैरन्तःपुराणि कामचारैर्जननीवर्जमुपभुज्यन्ते वैदर्भिकाणाम्।
—वात्स्यायन : कामसूत्र, ५, ६, ३५–३६।

५. वास्तवमें विचार करनेपर यह सत्य प्रतीत होता है। बालरामायणमें इन देशोंका वर्णन करते हुए प्रत्येक देशकी स्त्रियोंके सम्बन्धमें एक-एक अनुष्टुप् श्लोक विशेषरूपसे लिखा है। देखिए—बाल-रामायण, दशम अंक, श्लोक—६८, ७१, ७३, ७५, ७९, ८२, ८७।

उक्त पर्यालोचनसे राजशेखरका विदर्भ देशवासी महाराष्ट्र होना निर्विवाद है। उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी अवन्ति देशकी प्रतीत होती हैं। अवन्ति देशकी रमणियोंके सम्बन्धमें राजशेखरकी सम्मति[1] देखते हुए यह सम्भव प्रतीत होता है कि उसका नाम कुछ और होगा; किन्तु राजशेखरने अपने 'यायावरोय' नामके समान उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' रखा होगा।

राजशेखर और कन्नौज

हम पहले कह आये हैं कि राजशेखरके समय संस्कृत-साहित्यके सम्बन्धमें कश्मीर और कन्नौज—दोनों देशोंमें पर्याप्त कार्य हुआ। उन दोनों देशोंका सांस्कृतिक सम्बन्ध भी घनिष्ट था। एक ही शतकके कश्मीरी और कन्नौजवासी कवियोंने परस्परकी रचनाओंको उदाहरणके रुपमें समुद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि उस समय दोनों देशोंमें साहित्य-प्रचारके साधन सुलभ थे। दोनों देशोंके राजाओंमें उस समय युद्ध भी हुआ था। राजतरंगिणीमें कश्मीरके राजा ललितादित्य द्वारा कन्नौजके राजा यशोवर्माका पराजित होना लिखा है। जैसे—

कविर्वाक्पतिराजश्री-भवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

—राजतरंगिणी, तरंग ४, श्लो० १४०.

अर्थात्—वाक्पतिराज तथा भवभूति आदि कवियोंसे सेवित और स्वयं कवि[2] यशोवर्मा (कन्नौजका राजा) ललितादित्यसे पराजित होकर बन्दियों (भाटों) के समान उसकी स्तुति करने लगा।

प्राकृत-भाषाके 'गोडवहो' (गौडवध) महाकाव्यके प्रणेता वाक्पतिराज, उत्तररामचरित, वीरचरित तथा मालतीमाधवके प्रणेता प्रसिद्ध नाटककार भवभूति और अन्य अनेक कवि कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्माके सभारत्न थे। इनका समय विक्रम-शतकके ७८२, (ई० सन् ७२५) के लगभग था। इनके एक सौ वर्ष बाद कान्यकुब्जके गुर्जर-प्रतीहार-वंशी राजा महेन्द्रपालके समय राजशेखर हुए। कन्नौजके भवभूति और राजशेखर दोनों ही विदर्भ देशके महाराष्ट्र थे। इससे मालूम होता है कि कविता-प्रेमी कन्नौजके राजाओंके यहाँ दूसरे देशोंके कवि आश्रय पाते थे। इसी प्रकार राजशेखरको भी उनका आश्रय प्राप्त हुआ था।

दक्षिण देशवासी महाकवि, मध्यदेशके कान्यकुब्ज नगर तथा इस मध्यदेशकी सभी बातोंसे अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने स्थान-स्थानपर और बार-बार इस देशके रहन-सहन, पठन-पाठन एवं वेश-भूषाकी बहुत प्रशंसा की है।

---

१. विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतकर्मणि। —बालरामायण, १०.

२. कन्नौजका राजा यशोवर्मा स्वयं कवि था। उसने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक लिखा है। सुभाषितावली, सूक्तिमुक्तावली तथा शार्ङ्गधर-पद्धतिमें यशोवर्माके अनेक श्लोक उद्धृत हैं। यह पता नहीं कि श्रीहर्षकी रत्नावलीके समान किसी अन्य कविने उसके नामपर रचनाएँ की थीं या उसने स्वयम ?

भारतके देश-विभाग प्रकरणमें राजशेखरने मध्यदेशकी सीमा वही मानी है, जो मनुस्मृतिकारने लिखी है[1]। अर्थात् दक्षिणमें विन्ध्य, उत्तरमें हिमालय, पश्चिममें 'विनशन' और पूर्वमें प्रयाग। इसमें 'विनशन' वह स्थान है, जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हो गई है। यह पंजाब प्रान्तका स्थाण्वीश्वर (वर्तमान थनेसर) नामक स्थान है, जो सम्राट् हर्षवर्धनकी राजधानी थी। कुछ लोग अम्बाला जिलेके वर्तमान सरहिन्द नामक स्थानको 'विनशन' मानते हैं। इस प्रकार वर्तमान अम्बाला, कुरुक्षेत्र, देहली, इटावा, कन्नौज आदि पश्चिम-उत्तर प्रदेशका भाग मध्यदेश था। भारतके अन्य देशोंसे यह मध्यभाग अधिक आचारवान् और सभ्य था। वात्स्यायनने कामसूत्रमें लिखा है कि **मध्यदेश्या आर्यप्रायाः शुच्युपचाराः**[2]। इस सूत्रकी टीका करते हुए जयमंगलने मनुके उपर्युक्त श्लोकको मध्यदेशकी सीमाके विषयमें उद्धृत किया है। इसके बाद वसिष्ठका मत उद्धृत करते हुए उन्होंने गंगा और यमुनाके मध्यभागको भी मध्यदेश लिखा है[3]। राजशेखरने गंगा और यमुनाके मध्यभागको अन्तर्वेदी और पाञ्चाल दोनों नामोंसे लिखा है। इसमें भी वर्तमान दिल्ली, ब्रजमंडल तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेशका प्रयाग तकका भाग आ जाता है।

मालूम होता है, उस समय पाञ्चाल देशका प्रधान शासन कन्नौज द्वारा ही होता था। अतः इस देशका वर्णन करते हुए राजशेखरने लिखा है कि पाञ्चाल देशके कवियोंकी रचनाओंमें ग्रामीणता नहीं होती। वे उच्चस्तरके शास्त्रीय एवं लौकिक अर्थोंको भव्य और नव्य उक्तियों द्वारा ग्रथित करते हैं।[4]

पांचालदेशके कवियोंकी काव्य-पाठ-प्रणालीको राजशेखरने सबसे उत्कृष्ट बताया है। वे कहते हैं कि इस देशके कवियोंका कविता-पाठ कानोंमें अवर्णनीय माधुर्य बरसाता है। उनका पाठस्वर काव्य-रीतिके अनुसार होता है, उसमें काव्य-गुणोंका विकास होता[5] है, वर्णोंका उच्चारण समुचित ढंगसे किया जाता है और यतियोंपर उचित विश्राम भी होता है। भाषाके सम्बन्धमें भी उन्होंने लिखा है कि भिन्न-भिन्न देशोंके कवि, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा आदि-

---

१. हिमवद्-विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥
—मनु०, अ० २, २१।

२. मध्यदेशके निवासी प्रायः आर्य और पवित्र आचरणवाले होते हैं।
—वात्स्या० कामसूत्र, २. ५. २१।

३. 'गङ्गा—यमुनयोरित्येके' —कामसूत्र, जयमंगलाटीका।

४. इमे अन्तर्वेदिभूषणम् पाञ्चालाः। रामः—(सीतां प्रति)
यन्नार्ये! न तथाऽनुरज्यति कविर्ग्रामीण-गीर्गुम्फने,
शास्त्रीयासु च लौकिकीषु च यथा भव्यासु नव्योक्तिषु।
पाञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजना-
स्त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा॥
—बालरामायण, १०. ८।

५. मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानाम् सम्पूर्ण-वर्ण-रचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चाल-मण्डल-भुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः॥
—काव्यमीमांसा, अ० ७।

किसी एक भाषाके विशेषज्ञ होते हैं। परन्तु इस देशके कवि इन सभी भाषाओंमें विशिष्ट स्थान रखते हैं।[1]

पांचालके प्रधान नगर कान्यकुब्जकी रमणियोंकी वेष-रचनापर राजशेखर अत्यन्त मुग्ध थे। कानोंमें लटकते हुए झुमके, छातीपर झूमते हुए हार और धोतीके ऊपर ओढ़ी जानेवाली एवं टखनोंतक लटकती हुई चादर—इनके ऐसे वेषको कविने प्रणाम किया है।[2]

वे कहते हैं कि कान्यकुब्ज देशकी ललनाओंका वेष-विन्यास, बोलचालकी सुन्दर शैली, केशोंकी आकर्षक रचना और आभूषण पहननेका प्रकार इतना अच्छा होता है कि सभी देशकी सभ्य स्त्रियाँ उसे सीखनेका प्रयत्न करती हैं।[3]

इस प्रकार कविने स्थान-स्थानपर इस देशसे अपना प्रेम प्रकट किया है। भारतीय सीमा विभाजनके लिए भी कान्यकुब्ज या महोदय नगरको ही केन्द्र-विन्दु माना है।

राजशेखरकी रचनाएँ

वर्तमान समयमें राजशेखरकी पाँच रचनाएँ प्राप्त हैं—१. कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), २. विद्धशालभञ्जिका (नाटिका), ३. बालरामायण (नाटक), ४. बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव (नाटक) और ५. काव्य-मीमांसा।

इनमें कर्पूरमञ्जरी (सट्टक) उनकी प्रथम रचना तथा काव्य-मीमांसा अन्तिम रचना है। बालरामायणकी प्रस्तावनामें वे लिखते हैं कि हमारी छः रचनाएँ हैं[4]। इनमें एक 'भुवन-कोश' का नाम तो वे स्वयं लिखते हैं; किन्तु अन्यान्य ग्रन्थोंमें उद्धृत कुछ उदाहरणोंसे उनके

---

१. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः, परिचित-रुचयः प्राकृते लाटदेश्याः,
सापभ्रंशप्रयोगाः सकल-मरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषा-निषण्णः॥

—काव्यमीमांसा, अ० १०।

२. ताडंक-वल्गन-तरंगित-गण्डलेखमानाभिलम्बि दर-दोलित-तार-हारम्।
आश्रोणिगुल्फ-परिमण्डलितोत्तरीयं वेशं नमस्यत महोदय-सुन्दरीणाम्॥

—काव्यमीमांसा, अ० ३।

३. यो मार्गः परिधान-कर्मणि, गिरां या सूक्ति-मुद्रा-क्रमो
भंगिर्या कबरीचयेषु, रचनं यद् भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि! कान्यकुब्ज-ललनालोकैरिहान्यच्च यत्
शिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत् कौतुकिन्यः स्त्रियः॥

—बालरामायण, १०. ९०।

४. ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्,
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा नवेति।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठन-रुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धान्
नैवं चेद्दीर्घमास्तां नट-वटु-वदने जर्जरा काव्य-कन्था॥

—बालरामायण, १. १२।

एक काव्य 'हरविलास'का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त जह्लणकृत सूक्ति-मुक्तावली तथा हारावली नामक सूक्ति-सङ्ग्रह ग्रन्थोंके विशिष्ट-कविप्रशस्ति-प्रकरणमें राजशेखरके अनेक श्लोक पाये जाते हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि राजशेखरने इस विषयपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था।

बालरामायणकी प्रस्तावनामें उन्होंने जिन छः प्रबन्धोंकी चर्चा की है; वे बालरामायणको लेकर छः होंगे। बालभारत या प्रचण्डपाण्डव नाटक बालरामायणके बादकी रचना है। कारण यह कि बालभारतकी रचना महेन्द्रपालके पुत्र महीपालके समय हुई है और बालरामायणकी रचना महेन्द्रपालके समय हो चुकी थी। दूसरी बात यह कि बालभारतके दो ही अंक उपलब्ध होते हैं। इससे यह भी सम्भव है कि वे अपने अन्तिम समय तक इसे पूरा न कर सके हों। इन सब नाटकोंके अनन्तर उनकी अन्तिम रचना काव्यमीमांसा है; क्योंकि उसमें बालभारतका नान्दी-श्लोक उदाहरण रूपमें उद्धृत है। काव्य-मीमांसाके अठारह प्रकरण हैं; जिनमें एक कवि-रहस्य नाम प्रथम प्रकरण उपलब्ध हुआ है। इसप्रकार बालरामायणके रचनाकाल तक लिखे गए उनके छः प्रबन्धोंका ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

राजशेखरने हरविलास नामक एक महाकाव्य भी लिखा है—ऐसा ऐतिहासिक विद्वानोंका मत है। इस सम्बन्धमें युक्ति यह है कि राजशेखरने कवियोंके स्तरकी विवेचना करते हुए लिखा है कि जो किसी एक भाषामें महान् प्रबन्धका निर्माता हो; उसे महाकवि कहते हैं और जो भिन्न-भिन्न भाषाओंमें और भिन्न-भिन्न रसोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक रचना कर सकता हो, वह कविराज है। ऐसे कविराज संसारमें कुछ इने-गिने ही हैं।[1]

इस प्रकार उन्होंने कविराजका स्तर महाकविसे भी उच्च माना है और अपनेको वे बार-बार कविराज कहते हैं[2]। इस दृष्टिसे उन्होंने स्वयं किसी महाप्रबन्धकी रचना करके पहले महाकवित्व अवश्य प्राप्त किया होगा। इनके ग्रन्थोंमें एक बालरामायणको छोड़कर और कोई महाप्रबन्ध नहीं कहा जा सकता। अतः उन्होंने हरविलास नामक महाकाव्य लिखा होगा; जो इस समय उपलब्ध नहीं है।

राजशेखरने हरविलासकी चर्चा कहीं नहीं की है; परन्तु उनके अनुयायी आलोचक जैन-विद्वान् हेमचन्द्रने अपने काव्यानुशासन-विवेकमें इसकी चर्चा की है[3]। इसके अतिरिक्त उणादि-

---

१. योऽन्यतमप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते जगत्यपि कतिपये।

—काव्यमीमांसा, अध्याय ६।

२. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।—कर्पूरमञ्जरी १. ९।

गिरः श्रव्या दिव्याः, प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः,
सुभव्योपभ्रंशः, सरस-रचनं भूत-वचनम्।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कथनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते॥ —बालरामायण १. १०।

३. (क) स्वनामाङ्कता यथा—राजशेखरस्य हरविलासे—

(ख) आशीर्यथा हर विलासे —

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।
प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्॥

सूत्रोंपर वृत्ति-रचना करनेवाले उज्ज्वलदत्तने भी राजशेखरका आधा श्लोक हरविलास काव्यसे उद्धृत किया है[१]। यह भी समझा जाता है कि सूक्ति-मुक्तावलीमें संगृहीत राजशेखरके श्लोक, सम्भवतः हरविलास काव्यके कवि-वर्णन प्रकरणके हों। गद्यकाव्योंके प्रारम्भमें अपने पूर्वज कवियोंकी प्रशस्तियाँ लिखनेकी एक प्रथा थी; जो सर्वप्रथम बाणभट्टके हर्षचरितमें, तदनन्तर धनपालकृत तिलकमंजरी और सोड्ढलकृत उदय-सुन्दरी-कथामें पाई जाती है। पद्य-महाकाव्योंमें यद्यपि सामान्यरूपसे कवि-काव्य-प्रशंसाकी प्रथा तो है; किन्तु मङ्खके श्रीकण्ठ-चरित तथा सोमेश्वरकी कीर्ति-कौमुदीमें विशिष्ट-कवि-प्रशस्तियाँ देखी जाती हैं। अतः यह सभव है कि राजशेखरने हरविलासके प्रारंभमें अपने पूर्वज कवियोंकी प्रशस्तियाँ लिखी हों।

ये प्रशस्तियाँ इन्हीं राजशेखरकी हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। क्योंकि इन प्रशस्तियोंमें यायावर वंशके उन अनेक कवियोंके नाम आते हैं; जो राजशेखरके निजी सम्बन्धी थे और साहित्य-संसारसे अपरिचित थे। जैसे-तरल, सुरानन्द, कादम्बरीराम, कविराज, प्रभुदेवी, सुभद्रा आदि।

कुछ लोगोंका कथन है कि राजशेखरने 'कवि-विमर्श' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमें प्राचीन कवियोंकी प्रशस्तियाँ थीं। उसीसे हारावली और सूक्ति-मुक्तावलीमें उद्धरण लिये गए हैं। किन्तु यह अप्रामाणिक-सा मालूम होता है।

इनके अतिरिक्त राजशेखरने काव्य-मीमांसाके १७ वें अध्यायमें भारतवर्षका संक्षिप्त भूगोल कवियोंकी जानकारीके लिए दिया है। उसके अन्तमें लिखा है कि हमने इस देशके विभागोंका संकेत मात्र कर दिया है; जो इससे अधिक जानना चाहें, वे मेरे रचित 'भुवनकोश'को देखें। यह भुवनकोश भूगोल संबन्धी है। परन्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। कुछ लोगोंका यह अनुमान है कि 'भुवनकोश' काव्य-मीमांसाका एक प्रकरण है; जैसा कि उन्होंने लिखा है।

राजशेखरका प्रधान ग्रन्थ काव्य-मीमांसा है, जो अठारह अधिकरणोंमें पूर्ण हुआ है। उसका प्रथम अधिकरण प्राप्त हुआ है, जिसका नाम कविरहस्य है। यह काव्य-मीमांसा नामक महानिबन्धका अठारहवाँ भाग है। इसके शेष सत्रह भागोंका पता नहीं चलता। यह अधिकरण इतना महत्त्वशाली और अभिनव विचारोंसे परिपूर्ण है, जिससे कि उसे अपने विषयका अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है। यदि यह सम्पूर्ण रूपसे उपलब्ध होता तो इसे निःसन्देह साहित्य-संसारका अमूल्य रत्न कहा जाता। यह राजशेखरकी अन्तिम रचना है।

ग. सुजन-दुर्जन-स्वरूपं यथा हरविलासे—
इतस्ततो भषन् भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः।
अवदाततया किंच न भेदो हसतः सतः॥

१. दशाननक्षिप्त-खुर-प्रखण्डितः क्वचिद्गताधों हरदीधितिर्यथा।
—इति हरविलासे, २, २८।

१. इत्थं देश-विभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम्।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ॥
—काव्यमीमांसा, अध्याय १७।

अतः यह सम्भव है कि वे अन्तिम जीवनमें इसे पूर्ण न कर सके हों। कुछ प्रमाणोंसे यह माना जा सकता है कि वे इस ग्रन्थको पूर्ण कर चुके थे; किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे उसका शेष अंश प्राप्त न हो सका।

राजशेखरने कवि-रहस्य नामक प्रकरणमें रीति, रस, अलंकार तथा अन्यान्य विषयोंके प्रसंगोंपर लिखा है कि इसे अगले प्रकरणमें कहेंगे। जैसे—शास्त्रनिर्देश प्रकरणमें अलंकारको वेदका सातवाँ अङ्ग मानते हुए वे कहते हैं कि अलंकारोंकी व्याख्या आगे करेंगे[1]। रीतियोंके सम्बन्धमें भी उन्होंने ऐसा ही कहा है कि उन्हें आगे कहेंगे। मन्त्र-सिद्धि आदि द्वारा कवित्व प्राप्तिके सम्बन्धमें भी उन्होंने लिखा है कि इस विषयको औपनिषदिक प्रकरणमें कहेंगे[2]। इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि या तो वे समस्त ग्रन्थकी रचना कर चुके होंगे या उसका विषय-विभाग करके ही रह गए हों।

इसके अतिरिक्त अलंकारशेखर नामक अलंकार ग्रन्थकी एकादश मरीचिमें राजशेखरके[1] दो उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनमें एक उभयालंकारिक प्रकरणका प्रतीत होता है[3] और दूसरा उन्नीसवीं मरीचिमें समस्यापूर्ति विषयक उद्धरण मिलता है; जो संभवतः वैनोदिक अधिकरणका होगा[4]।

इन उपर्युक्त उद्धरणोंसे काव्य-मीमांसाका पूर्ण होना प्रतीत होता है, परन्तु अभी तक हमें इसके कवि-रहस्य नामक प्रथम अधिकरणसे ही सन्तोष करना होगा; जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

राजशेखर तथा अन्य भाषाएँ

राजशेखरके समयमें संस्कृतके साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषाओंका प्रचार भी अधिक मात्रामें था। ब्रजभाषाकी मूलभाषा सौरसेनीका भी प्रचार था। एक स्थानपर वे लिखते है—'मधुर-मधुरावासि-मणितिः'। ये सभी भाषाएँ काव्य-भाषाएँ थीं। राजशेखरने इस विषयपर पर्याप्त मीमांसा की है। राजशेखर स्वयं अनेक भाषाओंके विद्वान् थे जिसका उन्हें गर्व था और यत्र-तत्र बार-बार इस विषय पर लिखते रहे हैं। इनकी प्राकृतभाषाकी उत्कृष्ट रचना कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक है। सम्भव है उन्होंने अपभ्रंश और पैशाची आदिमें भी मुक्तक या प्रबन्ध रचनाएँ की हों। उनके समयमें किस देशमें किस भाषाका अधिक प्रचार था और किस देशवासियोंको कौनसी भाषा अधिक प्रिय थी—इस विषयपर राजशेखरकी मीमांसा द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार उच्चारण सम्बन्धी विवेचन भी अत्यन्त मार्मिक है।

---

१. देखिए, काव्यमीमांसा, अध्याय २.

२. देखिए, काव्यमीमांसा, अध्याय ३.

३. यदाह राजशेखरः—

समानमधिकं न्यूनं सजातीयं विरोधि च।
सकुल्यं सोदरं कल्पमित्याद्याः साम्यवाचकाः॥
अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥

४. उत्पाटितैर्नभोभीतैः शैलैरामूलबन्धनात्।
तांस्तानर्थान् समालोक्य समस्यां पूरयेत् कविः॥

—अलंकारशेखर, मरीचि १९।

प्राकृत भाषाके सम्बन्धमें वे लाट देशवासियोंकी प्रशंसा करते हुए थकते नहीं। बालरामायणके दसवें अंकमें उनके प्राकृतभाषणके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वह हम प्रसंगतः पीछे कह आए हैं। काव्य-मीमांसाके सप्तम अध्यायमें वे लिखते हैं कि लाट देशवासी संस्कृतके शत्रु होते हैं; परन्तु प्राकृत-पाठ सुन्दर करते हैं और जब वे प्राकृत कविताका पाठ करते हैं, तब उनके ललित उच्चारणके कारण जिह्वाका संचालन, बहुत भला मालूम होता है[1]। बालरामायणमें वे कहते हैं, जब प्राकृत भाषाके अक्षर कानोंमें प्रवेश करते हैं; तब अन्य भाषाओंका रस कानोंको कड़वा लगता है। लाट-ललनाओंकी जिह्वाद्वारा मधुरतासे उच्चारित प्राकृत भाषा कामदेवको उत्तेजित करती है।[2]

लाटदेशके अतिरिक्त दक्षिणापथमें प्राकृत, पैशाची भाषाओंका अधिकतर प्रचार था। राजशेखर प्राकृत भाषाको संस्कृतसे अधिक कोमल मानते हैं। कर्पूरमञ्जरीका प्राकृत भाषामें निर्माणका कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि संस्कृत भाषा कठोर और प्राकृत कोमल है। संस्कृत और प्राकृतमें उतना ही अन्तर है, जितना कि पुरुष और स्त्रीमें होता है।[3]

राजशेखरके समय कान्यकुब्ज देशके कवियोंने भी प्राकृतका पर्याप्त प्रयोग किया है। राजशेखरके एक शतक पूर्ववर्ती भवभूतिने अपने नाटकोंमें, विशेषतः मालतीमाधवमें इन भाषाओंका प्रचुररूपेण प्रयोग किया है। भवभूतिके दूसरे सहयोगी महाकवि वाक्पतिराजने प्राकृत भाषामें ही "गौडवहो" (गौडवध) नामक महाकाव्य लिखा है।

इस अवसरपर प्राकृत और संस्कृतकी पौर्वापर्य समस्यापर भी राजशेखरने अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ लोगोंका मत है कि प्राकृत प्रकृतिसिद्ध मूल भाषा है और संस्कृत उसका विशुद्ध या परिष्कृत रूप है। दूसरा मत यह है कि संस्कृत मूल भाषा है और प्राकृत उसका विकृत रूप। वह प्राकृतों अर्थात् साधारण जनोंकी भाषा है। इन दोनों मतोंमें राजशेखर प्रथम मतके पक्षपाती हैं। वे प्राकृत भाषाके लिए स्पष्ट ही कहते हैं कि **'यद्योनिः किल संस्कृतस्य'** अर्थात् प्राकृत भाषा संस्कृतकी जननी है।[4] इस प्रकार प्राकृत भाषाके संबन्धमें राजशेखरके विचार अत्यधिक सम्मानपूर्ण मालूम होते हैं।

प्राकृत भाषाके बाद दूसरा स्थान अपभ्रंशका है। राजशेखरने इसे भव्य-भाषा कहा है। वे लिखते हैं **'सुभव्योऽपभ्रंशः'** उनके मतमें मारवाड़, पूर्वी पंजाब तथा स्यालकोटका विस्तृत भाग अपभ्रंश भाषाभाषी था[5]। काठियावाड़ और गुजरातके लोग संस्कृतके साथ अपभ्रंशका सुन्दर उच्चारण करते हैं[6]।

---

१. पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः ।
जिह्वया ललितोल्लाप-लब्ध-सौन्दर्य मुद्रया ॥ —काव्यमीमांसा अ० ७ ।

२. देखिए—बालरामायण, लाटदेशका वर्णन, अंक १० ।

३. परुसा संक्किअ बन्धाः पाउद बन्धो वि होई सुउमारो ।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअ मिहं तरं तेत्तिअ मिमाणं ॥
—कर्पूरमञ्जरी १, ८ ।

४. देखिए—बालरामायण, अंक १, श्लो० ४ ।

५. सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क—भादानकाश्च । —काव्यमीमांसा अ०, १० ।

६. सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् ।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥ —काव्यमीमांसा, अ० ७ ।

राजशेखरके मतमें तीसरा स्थान भूतभाषा या पैशाचीका है। वे इस भाषाकी रचनाको सरस-रचना कहते हैं—'सरस-रचनं भूत-वचनम्'।[1] अवन्ति देश, पारियात्र और दशपुरके निवासी भूत-भाषाका प्रयोग अधिक मात्रामें करते हैं।[2] संस्कृत-संसारके प्रसिद्ध महाकवि गुणाढ्यने पैशाची भाषामें एक लक्ष श्लोकोंकी बृहत्कथाका प्रणयन किया था; जिसका संस्कृतानुवाद क्षेमेन्द्रकी बृहत्कथा-मञ्जरी तथा सोमदेवके कथासरित्सागरके नामसे प्रसिद्ध है।

राजशेखरके समय ये सभी भाषाएँ प्रचलित थीं और इनमें काव्य-रचना भी होती थी। काव्य-मीमांसाके दशम अध्यायमें राजाओंके कवि–दरबारका चित्रण करते हुए राजशेखरने राजसिंहासनके चारों ओर चार भाषाओंके कवियोंके बैठनेकी व्यवस्था की है। उसमें उत्तरकी ओर संस्कृत कवि, पूर्वकी ओर प्राकृत कवि, पश्चिमकी ओर अपभ्रंश कवि और दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कविगणके स्थान निर्धारित किए गए हैं। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन राज-सभाओंमें तथा जन-समाजमें इन भाषाओंके कवियोंका समान रूपसे समादर था।

संस्कृतके किसी भी विद्वान्ने इस प्रकार सामयिक भाषाओंके संबन्धमें इतने सूक्ष्म और विस्तृत रूपसे विवेचन या अन्वेषण नहीं किया इसका मुख्य कारण राजशेखरका विभिन्न भाषाओंमें प्रकाण्ड पाण्डित्य था। उन्हें अनेक भाषाओंके ज्ञानका गर्व था। इसीलिए उन्होंने केवल संस्कृतकवियोंको महाकविके स्तरमें रखकर अपनेको कविराज कहा है; जो महाकविसे अधिक सम्मानसूचक है। अपनेको 'कविराज' कहते हुए वे लिखते हैं कि ऐसे विविध-भाषा-विशारद कवि संसारमें दो तीन ही हैं। कविराज राजशेखरकी अन्य संस्कृत महाकवियोंसे यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। उनके समय प्राकृत भाषाके अतिरिक्त अन्यान्य विविध भाषाओंका सुन्दर विकास और प्रचार हो रहा था। इसी कारण राजशेखर अन्य संस्कृत–कवियोंकी अपेक्षा अधिक उदार, आलोचक और आदरणीय थे।

राजशेखरकी प्रशस्तियाँ

जिस प्रकार राजशेखरने अपने पूर्वज कवियोंकी अनेक प्रशस्तियाँ लिखी हैं, उसी प्रकार राजशेखरके परवर्ती कवियोंने उनकी और उनके काव्योंकी प्रशस्तियाँ लिखी हैं; जिनसे राजशेखरकी कविता तथा उनके विशेष गुणोंपर प्रकाश पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिए उन प्रशस्तियोंका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

राजशेखरकी निजी काव्यगोष्ठीके दो सदस्योंकी सूक्तियाँ तो राजशेखरने अपनी प्रशंसामें स्वयं ही उद्धृत की हैं। उनकी कविगोष्ठीके सदस्य मृगांकलेखा-कथाके रचयिता भट्ट अपराजितने[3] उनके सम्बन्धमें एक प्राकृत-सूक्ति लिखी है जिसे राजशेखरने कर्पूरमञ्जरीमें उद्धृत

---

१. देखिए, बालरामायण, अंक १, श्लो० ४।

२. आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।

—काव्यमीमांसा, अ० १०।

३. भट्ट अपराजित राजशेखरके समकालीन और उनके मित्र थे। उन्होंने मृगांकलेखा-कथा नामक एक आख्यायिका लिखी है; जो उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं होता, इनका एक श्लोक सुभाषितावलीमें मिलता है।

—देखिए-सुभा० श्लो० १०२४।

किया है। इससे मालूम होता है कि राजशेखरमें स्वाभाविक कविताका संस्कार बालकपनसे ही था; जो आगे चलकर महान् रूपमें विकसित हुआ।

'बाल कई कइ राओ णिब्भअ राअस्स तह उवज्झाओ ।
इति अस्स परंपराए अत्ता माहत्त मारूढो ।।

अर्थात्—राजशेखर क्रमशः उन्नतिके शिखरपर आरूढ हुए। पहले बालकवि कहलाए, तदनन्तर कविराज नामसे प्रसिद्ध हुए और उसके उपरान्त निर्भयराज या महेन्द्रपालके अध्यापक हुए।

इसी प्रकार राजशेखरकी कविगोष्ठीके दूसरे सदस्य कृष्णशंकर शर्माने[1] भी इनकी कवितापर अपनी सम्मति लिखी है; जिसे राजशेखरने विद्धशालभञ्जिकाकी प्रस्तावनामें उद्धृत किया है—

पातुं श्रोत्ररसायनं, रचयितुं वाचः सतां सम्मताः,
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रस-स्रोतसः।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः ! श्रृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ।।

हे भाई! यदि तुम कर्णामृत पान करना चाहते हो; यदि सहृदय-हृदय-चमत्कारिणी सूक्तियोंकी रचना करना चाहते हो; यदि काव्यशास्त्रकी प्रौढ व्युत्पत्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषी रखते हो और यदि जीवन वृक्षके सुमधुर फलोंका आस्वाद लेना चाहते हो तो राजशेखरकी सुधा–वर्षिणी सरस-सूक्तियोंको सुनो।

तिलकमञ्जरी नामक गद्यकाव्यके निर्माता महाकवि धनपालने[2] राजशेखरकी प्रशस्तिमें लिखा है—

समाधि-गुण-शालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः।
यायावर-कवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ।।
—तिलकमञ्जरी, ३३।

अर्थात्—यायावर—कवि राजशेखरकी रचनाएँ मुनियोंकी वृत्तियोंके समान समाधि गुणवाली, प्रसन्न और परिपक्व होती हैं।

लाटदेशके कायस्थ कवि सोड्ढलने[3] उदयसुन्दरीकथा-नामक चम्पू-काव्यके प्रारम्भमें कविवंश-वर्णन करते हुए राजशेखरके सम्बन्धमें लिखा है—

---

१. कृष्णशंकर शर्मा भी राजशेखरके कविगोष्ठी सदस्य थे। ये नामसे ही कान्यकुब्ज देशवासी प्रतीत होते हैं। इनके या इनकी रचनाके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

२. धनपाल विशालापुरीका निवासी काश्यप गोत्रज सर्वदेवका पुत्र था। सर्वदेवने जैन धर्मकी दीक्षा ली थी। अतः धनपाल भी जैन था। इसे मुंजराजने सरस्वतीकी उपाधि दी थी। इसने भोज, मुंज आदिका वर्णन किया है। यह राजशेखरके कुछ ही उत्तरकालका तिलक-मञ्जरी नामक गद्यकाव्यका प्रणेता विक्रमकी दशम शताब्दीके प्रथम भाग (९६०-१००० ई०) का है।

३. सोड्ढल या सोढ्ढल लाटदेश निवासी कायस्थ था। यह कोंकणके राजाओंका राजपंडित था। ये छित्तिराज, नागार्जुन और मुम्मुनिराज तीन भाई थे। ये ई० १०२६ से

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः।
नृत्यत्युदारं भणिते रसस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः॥

अर्थात्—यायावर राजशेखरकी कविताकी प्रशंसा विद्वत्समाजके मूर्द्धन्य व्यक्ति करते हैं; जिनकी काव्य-रचनामें सरस-पदोंकी शोभा रसमयी नटीके समान सुन्दर नृत्य करती हुई-सी दीखती है।

राजशेखरका आदर्श

राजशेखरने अपने सम्बन्धमें एक दैवज्ञकी उक्ति उद्धृत की है; जो प्रायः प्रसिद्ध है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

अर्थात्—पहले जो वाल्मीकि कवि था, वह जन्मान्तरमें भर्तृमेण्ठके नामसे उत्पन्न हुआ, वही तीसरे जन्ममें भवभूतिके नामसे और चौथे जन्ममें अर्थात् वर्तमान समयमें राजशेखरके रूपमें उपस्थित है।

वास्तवमें राजशेखरके आदर्श उनके पूर्वजन्मा कवि भवभूति थे। वे भी विदर्भदेशके महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और कन्नौजके राजा यशोवर्माके सभाकवि थे। राजशेखर भी विदर्भदेशके महाराष्ट्र ब्राह्मण तथा कन्नौजके तत्कालीन राजा महेन्द्रपालके शिक्षक एवं सभाकवि थे। भवभूतिने अपने जीवनमें महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालती-माधव नामक संस्कृतके उत्कृष्टतम नाटकोंकी रचना की थी और राजशेखरने भी चार नाटकोंकी रचना की है। रचनाशैलीमें भी राजशेखरने भवभूतिका ही अनुसरण अधिक अंशमें किया है। वेद, व्याकरण, दर्शन आदि विविध विषयके ज्ञानमें भी राजशेखर भवभूतिके समान ही प्रौढ थे।

राजशेखरके दूसरे आदर्श भर्तृमेण्ठ थे। भर्तृमेण्ठ या मेण्ठ काश्मीरके राजा मातृगुप्तके समयमें हुए हैं। ये जातिके महावत थे। इन्होंने हयग्रीववध नामक महाकाव्य बनाकर मातृगुप्तको सभामें सुनाया। मातृगुप्त स्वयं कवि था। उसने काव्यके समाप्त होने तक उसके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी अच्छी या बुरी सम्मति प्रकट न की। अन्तमें 'काव्यका लावण्य छलक कर भूमिपर न गिर जाय'—इसलिए मानों उसने सोनेका थाल मंगाकर काव्यग्रन्थको उसमें रखवा दिया। काव्यका इस प्रकार समुचित सम्मान देख कर स्वयं मेण्ठ और सभी सभ्य चकित हो गये। यही मेण्टराज, राजशेखरके द्वितीय आदर्श हैं। इनका हयग्रीव-वध महाकाव्य इस समय उपलब्ध तो नहीं है; किन्तु उसके अनेक श्लोक अलंकार ग्रन्थों तथा सुभाषित ग्रन्थोंमें उद्धृत किये गए हैं। सम्भव है, राजशेखरने इसी महाकाव्यके आदर्शपर हरविलास काव्यकी रचना की हो। राजशेखरने मेण्ठराजकी वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की है।[1] प्राचीन-कविसमाजमें मेण्ठका नाम अत्यन्त आदरके साथ लिया जाता है। ये विक्रमकी पाँचवी शताब्दीके कवि हैं।

१०७० तक राज्य करते थे। उस समय लाट देशका राजा वत्सराज था। उसका समय (ई० १०५० ई०) है। यही समय कविका भी है।

१. मातृगुप्त—देखिए, राजतरंगिणी, तरंग ३. श्लो० २२५-२६०।

२. वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्द्धानं कविकुञ्जराः॥—जल्हण : सूक्तिमुक्तावली।

राजशेखर उदार विचारोंके विद्वान् कवि थे। उन्होंने पुरुषोंके समान स्त्रियोंकी विद्वत्ता और कवित्वका भी सम्मान किया है। उच्चवर्णके कवियोंके समान हीनवर्णके विद्वानोंकी रचनाओंको भी गौरव और आदर प्रदान किया है। वे कहते हैं कि "पुरुषोंके समान ही स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं।[१] ज्ञानका संस्कार आत्मासे सम्बन्ध रखता है। उसे स्त्री या पुरुषका भेदभाव नहीं है। सुनते और देखते हैं कि अनेक राजकुमारियाँ, मन्त्रियोंकी पुत्रियाँ, वेश्याएँ एवं नाट्यप्रयोक्ताओंकी स्त्रियाँ शास्त्रों की प्रकाण्ड विदुषियाँ और कवयित्रियाँ हैं।"

राजशेखरने विशिष्ट-कवि-प्रशस्ति—प्रकरणमें विकटनितम्बा,[२] शीला भट्टारिका[३], सुभद्रा[४] एवं प्रभुदेवी[५] आदि कवयित्रियोंकी प्रशंसा भी की है। प्रभुदेवीके सम्बन्धमें हम पहले भी विस्तृत रूपसे कह आए हैं। राजशेखरकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी विदुषी थी।

इसी प्रकार हर्षवर्द्धनके दरबारमें रहनेवाले चाण्डाल-कवि दिवाकर[६] और इनके भी पूर्व कुम्भकार-कवि द्रोणकी[७] भी प्रशस्तियाँ राजशेखरने लिखी हैं।

एक स्थानपर भारतके प्राचीन विद्वानोंके द्वीपान्तरगमनके सम्बन्धमें भी उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है; जिसे आजकलके धर्माभिमानी पण्डित पातित्य-कारक समझते हैं।[८]

इससे यह मालूम होता है कि उस समयके विद्वान् अत्यन्त उदार एवं प्राचीन इतिहास परम्पराके पूर्ण जानकार होते थे।

राजशेखर नामके दो विद्वान् और भी हुए हैं; जिनमें एक दक्षिण देशका राजा था। शंकर-दिग्विजयमें इसकी चर्चा की गई है, 'नृपतिः कश्चन राजशेखराख्यः' यह शंकराचार्यका

---

१. पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः, संस्कारो ह्यात्मनि समवैति। न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो, महामात्य-दुहितरो, गणिकाः, कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च—काव्यमीमांसा, अध्याय १०।

२. के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन गुम्फिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्य-मधुरा गिरः॥

३. शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
शीला भट्टारिका वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

४. पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया॥

५. सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलास-भूः।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति॥

६. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाण-मयूरयोः॥

७. सरस्वती-पवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम्।
व्यासस्पर्द्धी कुलालोऽभूद् यद्द्रोणो भारते कविः॥

—जल्हण : सूक्तिमुक्तावली—राजशेखर

८. किं च महाकवयोऽपि देश-द्वीपान्तर-कथा—पुरुषादि-दर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्तिस्म। —काव्यमीमांसा, अध्याय—४।

समकालीन है। नवीन गवेषणाओंके पूर्व प्राचीन विद्वान् इसी राजशेखरको इन नाटकोंका प्रणेता समझते थे ; परन्तु अब यह सर्वथा भ्रममात्र सिद्ध हो चुका है। एक तो यह राजा था और शंकर समकालीन था। दूसरे, शंकर-दिग्विजयको ऐतिहासिक विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थ भी नहीं मानते।

राजशेखर नामक दूसरा एक जैन विद्वान् प्रबन्धकोषका निर्माता था, जो प्रायः १३ वीं शताब्दीका है। अतः हमारे चरितनायक राजशेखर इन दोनोंसे भिन्न यायावरीय राजशेखर नवम शताब्दीके हैं जैसा कि ऊपर हम लिख आए हैं।

राजशेखरके नाटकों तथा उसके कवित्व आदिके सम्बन्धमें विस्तृत आलोचना करनेका यह अवसर नहीं है। अब उनके नवीन उपलब्ध एवं प्रधान एवं अनूदित ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' के सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया जायगा।



काव्य-मीमांसा

काव्य नाम रचनाका है और कवि, रचना करनेवालेका। ये दोनों शब्द अनादि वैदिक-कालसे अपने इसी वास्तविक अर्थमें प्रयुक्त होते आ रहे हैं। वेदोंमें संसारकी रचना करनेवाले स्रष्टाका नाम कवि है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'। उस स्रष्टाकी सदा नवीन और अमर रचनाका नाम काव्य है—'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। प्राचीन कवियोंका उल्लेख करते हुए ब्रह्माको आदि कवि कहा गया है—'एकोऽभून्नलिनात्, ततश्च पुलिनात्, वल्मीकतश्चापरः'।

संसारका आदि ग्रन्थ ऋग्वेद छन्दोबद्ध काव्य है। साधारण काव्यमें रोचकता और रमणीयता लानेवाला तथा काव्यका जीवनभूत अलंकार भी उसमें है। वेदकी अनेक ऋचाओंमें विविध प्रकारकी उपमाएँ, रूपक, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि अलंकारोंका दर्शन होता है। वास्तवमें भाषा या वाक्यको रुचिकर, सुखद और हृदयंगम बनानेके लिए अलंकारकी आवश्यकता अनिवार्य है। अतः अलंकारशास्त्र भी वैदिक अतएव अनादि है।

रामायण, महाभारत एवं पुराणोंमें इस काव्य रचना शैलीका क्रमशः विकास हुआ है। इसके अनन्तर पाणिनि आदि ऋषियोंने 'जाम्बवती-विजय या पाताल-विजय जैसे काव्योंकी रचना की।

इस प्रकार इस वाक्यरचना-शैलीको तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—१. प्रभुसम्मित-वाक्य, २. सुहृत्सम्मित-वाक्य और ३. कान्तासम्मित-वाक्य। वेद, प्रभुसम्मित वाक्य हैं; जिनमें शब्दकी प्रधानता है अर्थात् यह राजाका आदेश है। इस आदेशमें किसी प्रकारका तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता और न उसके अर्थकी आलोचना ही की जा सकती है। इसे आँखें मूँदकर मानना ही कर्तव्य है। दूसरे, इतिहास, पुराण आदिके वाक्य, अर्थ-प्रधान होते हैं; जिनमें शब्दोंकी ओर ध्यान न देकर उनके तात्पर्यका ग्रहण किया जाता है। जैसे—मित्र इधर-उधरके अनेक दृष्टान्तों द्वारा कर्तव्य या अकर्तव्यका उपदेश करता है। अतः ये सुहृत्सम्मित वाक्य हैं। तीसरे, कान्तासम्मित वाक्यमें शब्द और अर्थ दोनोंकी प्रधानता नहीं होती; प्रत्युत उनके द्वारा उत्पन्न सरस एवं विलक्षण ध्वनि, हृदय पर अनिर्वचनीय प्रभाव डालती है। जैसे—कमनीया कामिनी प्रियपतिको अपने हाव-भाव आदिके द्वारा सरसतासे वशीभूत कर लेती है और अपनी बातें मनवा लेती है। उसी प्रकार वाक्य, सरस, कोमल और कान्त पदावलीके द्वारा निकलती हुई ध्वनिसे हृदयको प्रभावित करते हैं और अपनी हृदयग्राहिणी पदावलीसे नीरस नीति और कृत्याकृत्यके उपदेशको प्रच्छन्न रीतिसे हृदयमें उतार देते हैं।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय प्रकारके वाक्य, ईश्वरीय आदेश और श्रद्धेय वाक्य होनेके कारण, किसी प्रकारकी कृत्रिमता या विवेचनाके योग्य नहीं हो सकते। तीसरे प्रकारके कान्तासम्मित वाक्योंमें रंजक और आकर्षक सामग्रीकी यथेच्छ योजनाका अवसर प्राप्त होता है। अतः इस वाक्य-रचनाकी सामग्री या साहित्यका विस्तार भी प्रचुर मात्रामें हुआ है। इस सरस वाक्य-रचना-शैलीकी विस्तृत सामग्री और इसके दर्शनका नाम काव्य-विद्या या साहित्य-विद्या है।

इस अवसर पर साहित्य शब्दका विस्तृत विवेचन अप्रासंगिक-सा होगा। अतः हम सूक्ष्मरूपसे साहित्य शब्दका अर्थ महाराज भोजदेवके शब्दोंमें उद्धृत करते हैं—

"अभिधा-विवक्षा-तात्पर्य-प्रविभाग-व्यपेक्षा-सामर्थ्य-अन्वय-एकार्थीभाव-दोषहान-गुणोपादान-अलंकारयोग-रसावियोगरूपाः शब्दार्थयोः द्वादश सम्बन्धाः साहित्यम्—इति उच्यते।"

—भोजदेव : शृङ्गार-प्रकाश, सप्तम प्रकाश।

इसप्रकार संस्कृतमें साहित्य शब्द, काव्य-विद्याके सीमित अर्थमें प्रयुक्त है। साहित्य शब्दके पूर्व इसका नाम अलंकार शास्त्र था। कारण यह कि विक्रमकी आठवीं शताब्दी तकके विद्वानोंने इस विषयपर गम्भीर एवं सूक्ष्म गवेषण नहीं किये। उन्होंने काव्यमें गुणों एवं रसोंको मानते हुए भी उनका अन्तर्भाव अलंकारोंमें ही किया है। इस शास्त्रके प्रधान और प्रथम आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी आदि, अलंकारको ही काव्यकी आत्मा मानते रहे हैं। कुछ आगे चलकर वामनने रीति या शैलीको काव्यकी आत्मा कहा है। किन्तु नवम शतकमें उत्पन्न आचार्य आनन्दवर्द्धनने उसपर गम्भीरताके साथ विवेचन किया और व्यंजना व्यापारके द्वारा उत्पन्न ध्वनिको काव्यकी आत्मा माना। इसी समय भट्टनायक, आचार्य अभिनव आदिने भरतप्रणीत नाट्य-शास्त्रके रस-सूत्रकी व्याख्या करते हुए इस मतका विस्तार किया और आचार्य मम्मटने अपने प्रगाढ एवं प्रौढ पाण्डित्यसे इन मतोंको स्थिरता प्रदान की। हम पहले ही कह आये हैं कि यह मीमांसाका समय था। इस समय संस्कृत-वाङ्मयकी सभी शाखाओंपर गम्भीर और सूक्ष्मतम दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन हुए और सभी शास्त्रोंका साहित्य विस्तृत और सुव्यवस्थित हुआ। इसी प्रकार उस शास्त्रकी भी व्यवस्था की गई। तभीसे यह काव्य-शास्त्रके नामसे प्रचलित हुआ।

अलंकारशास्त्र कबसे प्रचलित हुआ—इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु उपमा आदि कुछ अलंकार वैदिक कालसे प्रचलित थे। महर्षि यास्कने निरुक्तमें गार्ग्यके उपमा-लक्षणकी आलोचना करते हुए उपमालंकारके उदाहरणमें अनेक ऋचाएँ उद्धृत की हैं और भूतोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि उसके अनेक भेदोंका प्रदर्शन भी किया है। पाणिनिने भी उपमान, उपमेय आदिके सम्बन्धमें अनेक सूत्रोंका प्रणयन किया है।

अग्निपुराणमें भी अलंकारोंकी चर्चा है। किन्तु उसमें अनेक ऐसे विषयोंका समावेश है; जिन्हें देखते हुए उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध-सी प्रतीत होती है। हाँ, इस विषयमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतका नाट्यशास्त्र है; जिसमें एक शब्दालंकार और तीन अर्थालंकारोंके नाम मिलते हैं। इसका रचनाकाल ईसवी सन्‌की पहली या दूसरी शताब्दी माना गया है। इसके अनन्तर चतुर्थ शताब्दीके लगभग भामहकी चर्चा की गई है। इसके अनन्तर दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि आचार्योंके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वास्तवमें नाट्यशास्त्रकी रचना ईसासे कई सौ वर्ष पूर्व की है।

इन आचार्योंके समयतक इस शास्त्रकी गम्भीर एवं दार्शनिक शास्त्रोंमें गणना नहीं थी। आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्तपादाचार्य, महिमभट्ट एवं मम्मटभट्ट आदिने इस विषयपर दार्शनिक शैलीसे नवीन विचारधाराका प्रचलन करके इस शास्त्रको गम्भीर एवं

महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंकी श्रेणीमें लानेका पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु यह सब प्रयत्न कुछ न्यून या अधिक रूपमें विश्रृंखलित परिस्थितिमें था। इस अवसर पर अनेक शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् एवं तत्कालीन अनेक भाषाओंके वेत्ता कविराज राजशेखरने अपने समयके अनुसार काव्य या साहित्यविद्याको प्रामाणिक महान् शास्त्रोंकी गणनामें लानेका सुव्यवस्थित, नियमित एवं प्रशंसनीय प्रयत्न किया; जो काव्यमीमांसाके रूपमें था।

खेदका विषय है कि यह महान् ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। उसके अठारह भागों या अधिकरणोंमें एक प्रथम भाग कवि-रहस्य प्राप्त हुआ है; जिसका हिन्दी अनुवाद साहित्यानुरागी सहृदयोंके सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

इस भागके उपलब्ध होनेसे संस्कृत-साहित्य-भाण्डारकी गौरव-वृद्धि हुई है। कारण यह कि कविरहस्यका विवेच्य विषय, दार्शनिक प्रौढ लेखन-शैली, वैज्ञानिकता एवं गंभीर-गवेषणा सभी कुछ विशाल—विस्तृत संस्कृत-साहित्य-संसारमें अपूर्व और अतुलनीय है। उनकी इस नई सूझसे साहित्य-संसारका महान् उपकार हुआ है। कविराज राजशेखर इस शैलीके प्रथम प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने कविरहस्यमें कवियोंके लिए जिन सामग्रियोंका जिस शैलीसे प्रतिपादन किया है; उसे आदर्श मानकर महाकवि क्षेमेन्द्र, जैनाचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट, महाराज भोजदेव, शारदातनय, हलायुध, देवेश्वर एवं अमरसिंह आदिने अपने ग्रन्थोंकी रचना करके साहित्य-जगत्के इस आवश्यक विषयको विस्तृत करते हुए 'संस्कृत-काव्य-रचना-शास्त्र' की अभिवृद्धि की है।

यह तो पता नहीं कि वे अपनी इस महती रचनाको पूर्ण कर सके या नहीं; किन्तु कविरहस्यके शास्त्रसंग्रह नामक प्रथम अध्यायमें उन्होंने काव्यमीमांसाके अठारहों अधिकरणोंकी विषयसूची देकर समूचे ग्रन्थका विषय-निर्देश किया है। उनके अनुयायी परवर्ती लेखकोंने इस विषयसूचीके अनुसार अनेक विषयोंका विवेचन अपने-अपने ग्रन्थोंमें अंशतः किया है। अस्तु।

हम ऊपर कह आये हैं कि इस ग्रन्थकी भाषा-शैली, गवेषणा और विवेचनाकी पद्धतियाँ संस्कृत-साहित्यमें नवीन थी। यही कारण है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकका संस्कृत-संसारमें समुचित सम्मान और प्रचलन न हो सका। दूसरे, संस्कृतकी अध्ययनाध्यापन-पद्धति भी इतनी संकीर्ण एवं अनुपयुक्त हो गई है कि उसमें ऐसे नवीन और गहन विषयोंका समावेश असम्भव है। इसके अतिरिक्त संस्कृतमें साहित्यरुचिका भी पर्याप्त ह्रास भी हो गया है। सहृदयताका स्थान शुष्कता और नीरसताने ले लिया है। काव्यचर्चा, कवि-गोष्ठी, साहित्यालोचन आदि अतीतकी वस्तुएँ हो गई हैं। शुष्क, निष्फल और असार विषयोंका किसी प्रकार पठन-पाठन और टीकाग्रन्थोंका वाद-विवादमात्र प्रचलित है। यह समयकी महिमा है। यही कारण है कि संस्कृत परीक्षाओंमें कहीं-कहीं पाठ्य होकर भी यह पुस्तक समुचित अध्यापनके अभावसे प्रचलित न हो सकी।

वर्तमान समय हिन्दी-साहित्यका है। यह विकासोन्मुख साहित्य है। काव्यचर्चाओं, कविगोष्ठियों और कविसम्मेलनोंका प्रचलन पर्याप्तरूपमें है। अच्छे-अच्छे कवि और आलोचक उत्पन्न हो रहे हैं। अतः हिन्दी साहित्यप्रेमियोंके लिए इसका अध्ययन उपयोगी होगा। अतिप्राचीन होनेपर भी उनके लिए काव्यमीमांसा अवश्य पथ-प्रदर्शक और आलोचनाका विषय हो सकती है। अतः हम काव्यमीमांसाके अठारहवें भाग कविरहस्यके अठारह

अध्यायोंका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक समझते हैं। इस परिचयके बिना संस्कृतकी दार्शनिक शैली और दार्शनिक भाषामें लिखे गये 'कविरहस्य'का रहस्य समझनेमें साधारण पाठकोंको कठिनाईका अनुभव हो सकता है। अतः इसके विषयोंपर प्रकाश डालना आवश्यक है। यद्यपि इसके भिन्न-भिन्न प्रकरणोंपर विस्तृतरूपसे लिखनेका अवसर नहीं है; किन्तु इस संक्षिप्त परिचयमें स्थूलरूपसे ही विवेचन किया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण 'काव्यमीमांसा' अठारह अधिकरणोंमें लिखी गई है। प्रस्तुत 'कविरहस्य' उसका प्रथम अधिकरण है। इस अधिकरणमें अठारह अध्याय हैं। इन अठारह अध्यायोंमें प्रथम तीन अध्याय समस्त काव्यमीमांसाकी भूमिकाके रूपमें हैं और शेष पन्द्रह अध्यायोंमें कविरहस्यका विषय वर्णित किया गया है।

प्रथम अध्याय

अनेक प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रोंके आधार पर इस ग्रन्थकी निर्माणशैलीका आदर्श ग्रहण किया गया है। शास्त्रारम्भकी शैली वात्स्यायन कामसूत्र और कौटिलीय अर्थशास्त्रके आधार पर है। इसके अतिरिक्त ब्रह्ममीमांसा और धर्ममीमांसाकी शैलीको भी ग्रन्थकारने आदर्श माना है। काव्यविद्या या साहित्य शास्त्रको सभी प्रकारसे प्राचीन शास्त्रोंकी श्रेणीमें लानेका सफल प्रयत्न किया गया है। वैदिक, लौकिक, पौराणिक एवं दार्शनिक सभी दृष्टियोंसे इस शास्त्रको उपयोगी और प्रामाणिक सिद्ध करनेकी युक्तिपूर्ण चेष्टा भी की गई है।

प्रायः सभी शास्त्रोंके विकासका यह क्रम रहा है कि पहले उनका स्वरूप स्वल्प और संक्षिप्त रहता है, अनन्तर उनपर भाष्य, व्याख्या, वार्तिक, विवृति, टीका, टिप्पणी आदि द्वारा विवेचन होता रहता है और नवीन शाखा-प्रशाखाओं द्वारा उनका विस्तार होता रहता है। इस प्रकार एक शास्त्र सम्बन्धी साहित्य, विशाल और विस्तृत हो जाता है। नदियोंका प्रवाह जिस प्रकार उद्गम स्थानमें अतिस्वल्प रहता है, किन्तु उनके समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते उसका विशाल विस्तार हो जाता है। वस्तुतः यही स्थिति शास्त्रोंकी है।

किन्तु कुछ लोगोंका मत है कि पहले शास्त्रोंका विस्तार विपुल था। ऋषियोंने एक-एक विषयपर बहुत कुछ लिखा था। कालक्रमसे मनुष्योंका आयुर्ह्रास और बुद्धिह्रास होता गया और शास्त्र, अस्त-व्यस्त होकर लुप्तप्राय हो गये। अन्तमें विद्वानोंने उनका सार-संग्रह करके सरल संक्षिप्त ग्रन्थोंकी रचना की और उनकी रक्षा की। इस प्रकार ये दो मत हैं। राजशेखरके समय दूसरे मतकी मान्यता अधिकरूपमें प्रचलित थी। यद्यपि वे स्वयं प्रथम मतके ही समर्थक थे।

प्राचीन परम्पराके अनुसार अधिकांश शास्त्रोंकी उत्पत्ति प्रजापति-ब्रह्मा या शिवसे मानी गई है। उन्हें ईश्वरीय देन माना गया है। किसी शास्त्रकी प्रामाणिकताकेलिए उसकी उत्पत्तिका क्रम ब्रह्मा या शिवसे होना आवश्यक है। उसके अनन्तर उसकी शिष्य-परम्पराका क्रम बताना भी आवश्यक है। इसे 'गुरु-पर्व-क्रम' कहा जाता है।

दूसरे, किसी शास्त्रका साक्षात् या परम्परा सम्बन्धसे वेदोंके साथ सम्बद्ध होना भी उसकी प्रामाणिकता और उपादेयताका कारण होता है; अन्यथा वे अवैदिक अतएव उपेक्षित माने जाते हैं।

तीसरे, किसी शास्त्रका प्रयोजन पुरुषार्थ-सिद्धि होना आवश्यक है। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें एक, दो या सभी पुरुषार्थोंकी प्राप्ति किसी शास्त्रकी उपादेयताका कारण होती है। लौकिक-विद्याओंका प्रयोजन धर्म और अर्थ है। उनके द्वारा काम-पुरुषार्थकी सिद्धि भी होती है। दर्शनशास्त्रोंका प्रयोजन परम पुरुषार्थ-मोक्षकी प्राप्ति है। इन सब बातोंका ध्यान रखते हुए राजशेखरने तीनों प्रकारोंसे काव्य-विद्याको प्रामाणिक एवं उपादेय सिद्ध करके उसे महान् शास्त्रका रूप देनेका प्रयत्न प्रथम तीन अध्यायोंमें किया है। साहित्यशास्त्रके सम्बन्धमें यह सर्वप्रथम प्रयत्न है। इनके पूर्वकालीन भामह, दण्डी, वामन, उद्भट एवं आनन्दवर्द्धन आदि आचार्योंने काव्य-विद्याके विभिन्न अङ्गोंपर पृथक्-पृथक् रूपसे महत्त्वपूर्ण विवेचन करते हुए भी उसे सुव्यवस्थित और वैधानिक रूप नहीं दिया था। राजशेखरके परवर्ती मम्मट आदि ग्रन्थकारोंने राजशेखरकी इस शैलीको अंशतः अपनाया है।

प्रथम अध्यायका प्रारम्भ दार्शनिक शैलीसे हुआ। दर्शनकार या उनसे प्राचीन आचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ मंगलाचरण श्लोकोंसे नहीं करते थे। उनका प्रारम्भ 'अथ' शब्दसे होता था। 'अथ' शब्दको ओंकारके समान पवित्र और मंगलवाचक माना जाता है। वास्तवमें उसका अर्थ 'अनन्तर' है। अथके पश्चात् अधिकारसूचक 'अतः' शब्द रहता है। जैसे—'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा', 'अथातो धर्म-जिज्ञासा', 'अथ शब्दानुशासनम्'—इत्यादि। राजशेखरने इसी शैलीपर काव्यमीमांसाका प्रारम्भ किया है—'अथातः काव्यं मीमांसयिष्यामहे।' यहाँ मंगलसूचक 'अथ' शब्दका अर्थ है—'बालरामायण' आदि अनेक प्रबन्धोंके लिखनेके अनन्तर अब काव्यकी मीमांसा करते हैं।

इससे आगे चलकर राजशेखरने काव्य-विद्याकी उत्पत्ति और उसके गुरुपर्वक्रमका निर्देश किया है कि शिवजीके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु आदि चौंसठ शिष्योंको प्रथमवार इस विद्या का उपदेश किया गया है और क्रमशः उसका अठारह भागोंमें विस्तार हुआ। एक-एक भाग या अधिकरणका निर्माण एक-एक आचार्यने किया। काव्यविद्याके भिन्न-भिन्न अंगों पर विस्तार करनेवाले जिन-जिन देवताओं और ऋषियोंका उल्लेख इसमें किया गया है; वह राजशेखरकी पौराणिक कल्पनामात्र है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद एवं कामशास्त्रकी परम्पराका अनुसरण करते हुए इन्होंने भिन्न-भिन्न अधिकरणोंके जिन आचार्योंके नाम दिये हैं; वे केवल अनुप्रासके लालित्यके कारण दिये गये हैं। अन्यथा यम, वरुण, कुबेर और शेष आदिका इन विषयोंसे सम्बन्ध कहीं सुना नहीं गया है। इसमें एकमात्र अनुप्रास-रसिकता ही कारण मालूम होती है। जैसे—"यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, श्लेष, शेषः औक्तिकमुक्तिगर्भः"—इत्यादि।

अस्तु! इस प्रकरणमें राजशेखरने अठारहों अधिकरणोंके विषयोंका निर्देश कर दिया है। इस विषय-निर्देश या शास्त्र-संग्रह नामक प्रकरणसे प्रतीत होता है कि राजशेखर, वास्तवमें भरतसे लेकर आचार्य आनन्दवर्द्धनतकके आचार्यों द्वारा शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति, रस, एवं व्यञ्जना आदिके सम्बन्धमें जो कुछ न्यून या अधिक पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंमें लिखा गया था, उस सबका तथा अन्य आवश्यक काव्याङ्गभूत नवीन विषयोंका, समष्टिरूपेण एक सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक और दार्शनिक विवेचन करनेके लिए काव्यमीमांसा नामक बृहत् ग्रन्थ लिखनेकी आयोजना कर चुके थे; किन्तु दैववश उसे पूर्ण न कर सके। उनकी इस योजनाको

आचार्य मम्मट आदिने एक सीमितरूपमें पूर्ण करने की चेष्टा की है। इन्हींके प्रदर्शित मार्गका अनुसरण करके क्षेमेन्द्रने भी औचित्य-विचार-चर्चा, कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक आदि वैज्ञानिक-विवेचनात्मक लघु ग्रन्थ लिखे हैं।

काव्यमीमांसाके अठारह अधिकरणोंमें, नौ अध्यायोंमें अलंकारोंकी मीमांसा की गई है और अलंकारोंके तीन भेद किये गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। शब्दालंकारोंमें अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्दश्लेष इन चार अलंकारोंकेलिए चार अधिकरण लिखे गये हैं। वास्तवमें इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण, विदग्धमुखमण्डन आदि ग्रन्थोंमें इनका विस्तार पाया जाता है। इसी प्रकार अर्थालंकारोंमें भी चार अलंकार मुख्य माने गये हैं—उपमा, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति और अर्थश्लेष। अलंकारोंकी संख्या एक उपमासे बढ़ते-बढ़ते राजशेखरके समय तक साठके लगभग पहुँच चुकी थी; किन्तु राजशेखरने चार शब्दालङ्कार और चार अर्थालंकार मानकर अन्य सभी अलंकारोंका इन्हींमें अन्तर्भाव किया होगा। यह आधार उन्हें उनके कुछ पूर्ववर्ती आलंकारिक आचार्य रुद्रटसे मिला है। रुद्रटने इन्हीं चार-चार अलंकारोंको माना है। उभयालंकारका तात्पर्य संकर, संसृष्टि आदि मिश्रित अलङ्कारोंसे मालूम होता है। इसके अतिरिक्त रूपक अर्थात् नाटकोंके विषयमें एक पृथक् अधिकरण है; जो भरतके नाट्यवेद सम्बन्धी विषयोंका है। रसों और रीतियोंके सम्बन्धमें एक-एक अधिकरणके अतिरिक्त एक औक्तिक अधिकरण भी लिखा है। इस अधिकरणमें उक्ति सम्बधी विचार हैं। सम्भवतः इसमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-सम्बन्धी विचारोंकी मीमांसा की गयी है; जो आचार्य आमन्दके ध्वन्यालोकका मुख्य विषय है।

इन प्राचीन प्रचलित काव्य-विद्याके अंगभूत विषयोंके साथ उन्होंने कविरहस्य, वैनोदिक एवं औपनिषदिक ये तीन अधिकरण स्वतन्त्ररूपेण सम्मिलित किये हैं; जो वास्तवमें राजशेखरके प्रखर-प्रतिभा-प्रसूत हैं और काव्य-रचनाके लिए अत्यावश्यक भी हैं। इनमें कविरहस्यका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। वैनोदिक एवं औपनिषदिक अधिकरणोंके सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि वैनोदिक अधिकरणमें राजशेखरने विविध ऋतुओंके उत्सवों, द्यूत आदि विविध विनोदों तथा काव्यांगभूत कलाओंकी मीमांसा की होगी। औपनिषदिक अधिकरण काम और अर्थशास्त्रोंमें भी हैं। वात्स्यायन और कौटिल्यने अपने-अपने शास्त्रोंमें क्रमशः मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र तथा मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन आदिकी ओषधियाँ, टोटके आदि लिखे हैं। राजशेखरने भी कविता-प्राप्तिके लिए मन्त्र, तन्त्र, व्रत, स्तोत्र आदिके लिए इस औपनिषदिक अधिकरणकी रचना की है। यह उन्होंने स्वयं कहा भी है।

कामशास्त्रके प्रारम्भमें वात्स्यायनने लिखा है कि जब शिवजी कैलास-पर्वतकी गुफामें पार्वतीके साथ सहस्र वर्षोंतक रमण करते थे; उस समय गुफाके द्वारपर पहरा देते हुए नन्दीने एक सहस्र अध्याओंमें कामशास्त्रकी रचनाकी। तदनन्तर गोणिकापुत्र, सुवर्णनाभ, कुचुमार आदि आचार्योंने कामशास्त्रके भिन्न-भिन्न अंगोंपर पृथक्-पृथक् प्रबन्ध-रचना की। कालक्रमसे सभी प्रबन्ध अस्त-व्यस्त और उच्छिन्न-से हो गये, तब वात्स्यायनने उनका संग्रह करके कामशास्त्रका प्रणयन किया और उसके अधिकरणों और प्रकरणोंमें इन विषयोंका निरूपण किया।

कौटिल्यने भी अर्थशास्त्रके प्रारम्भमें प्रायः ऐसा ही लिखा है कि संसारमें जितने भी

भिन्न-भिन्न आचार्योंके अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ मिले, उन सभीका संग्रह करके अर्थशास्त्रके अधिकरणोंका निर्माण किया गया है।

इसी प्रकार राजशेखरने भी लिखा है कि इस प्रकार अठारह अधिकरणोंमें अतिविस्तृत काव्य-शास्त्रको संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणोंकी काव्यमीमांसाका प्रणयन किया।

'अधिकरण' शब्दका प्रयोग भी उन्हींके अनुसार किया गया है। पूर्वमीमांसा-शास्त्रमें भी अधिकरण शब्दका प्रयोग किया गया है। अधिकरण शब्दका अर्थ मीमांसा-शास्त्रमें इस प्रकार लिखा है कि अधिकरणमें पाँच बातें होती हैं—१. जिस विषयका विचार करना हो उसका निर्देश, २. उसपर संशय करना, ३. शंका करना, ४. उसका समाधान करना और ५. पुनः मूल विषयके साथ उसकी संगति करना। इस नियमसे मीमांसकोंने अधिकरण शब्दका प्रयोग अधिक मात्रामें किया है। माधवने ९१५ अधिकरणों की 'अधिकरण-माला' लिखी है। शंकरभट्टने 'मीमांसासार-संग्रह' में १००० अधिकरण लिखे हैं। दूसरे, अधिकरणका अर्थ न्याय करने या धर्म-निर्णय करनेका स्थान है; जहाँ विवादोंपर तर्कों और युक्तियों द्वारा विचार तथा अन्तमें उसका निर्णय किया जाता है। गुप्तकालमें फौजदारी और दीवानी अदालतोंके सम्बन्धमें अधिकरण शब्द प्रचुर मात्रामें प्रयुक्त था। तीसरे, अधिकरण शब्दका अर्थ अधिकार है। अर्थात् जिस भागमें जिस विषयका निर्णय किया जाय, वह उस विषयका अधिकार या अधिकरण कहा जाता जाता है। प्रकरण और अध्याय उसके अवान्तर विभागके रूपमें प्रयुक्त किये जाते हैं। राजशेखरने विषयोंके अधिकारके आधारपर ही अपने अधिकरणोंकी रचना की है।

काम और अर्थशास्त्रमें सभी अधिकरणोंके अवान्तर प्रकरणोंकी विषय सूची दे दी गई है, किन्तु राजशेखरने अन्तमें केवल कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरणकी सूची ही दी है। सम्भव है, उन्होंने प्रत्येक अधिकरणके आरम्भमें उनकी विषय सूची देनेकी प्रथा प्रचलित की हो।

इस प्रकार प्रथम अध्यायमें काव्य शास्त्रका विषय-निर्देश करते हुए राजशेखरने इसकी प्रामाणिकता और उपादेयता सिद्ध की है।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्यायका नाम शास्त्र-निर्देश है। पहले कहा जा चुका है कि किसी शास्त्रका वेदोंसे साक्षात् या परम्परा-सम्बन्ध होना उसकी उपादेयताका परम प्रयोजक होता है। अतः राजशेखरने वेदके छः अंगोंके साथ अलंकारको सातवाँ अंग माना है। वेदके अर्थज्ञानकेलिए शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छः शास्त्रोंका ज्ञान आवश्यक है। इनके बिना वेदका वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार अलंकार शास्त्रका ज्ञान भी वेदार्थ ज्ञानका आवश्यक अंग है; क्योंकि वेदोंमें उपमा आदि अलंकारोंका प्रचुर मात्रामें प्रयोग पाया जाता है।

निरुक्तकार महर्षि यास्कने उपमालंकारकी विवेचना करते हुए अनेक उपमालंकृत मन्त्रोंके उद्धरण दिये हैं और उपमाके अनेक भेदोंका भी वर्णन किया है। राजशेखरने भी ऋग्वेदके एक मन्त्रका उद्धरण किया है; जिसके पूर्वार्द्धमें उपमालंकार और उत्तरार्धमें अतिशयोक्ति या व्यतिरेकालंकार है। इसी प्रकार वेद-मन्त्रोंमें अन्यान्य अलंकार भी दीखते हैं। अतः अलंकार वेदका सातवाँ अंग है—यह तर्कपूर्ण प्रमाण देकर राजशेखरने इस विषय

महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। अतः अपौरुषेय वेदका अंग होनेके कारण यह शास्त्र भी अपौरुषेय है।

वाङ्मय दो प्रकार के हैं—१. अपौरुषेय और २. पौरुषेय। अर्थात् एक ईश्वरीय और दूसरा पुरुषके द्वारा निर्मित। वैदिक वाङ्मय अपौरुषेय है। अतः पहले काव्यशास्त्रका उस अपौरुषेय ज्ञानके साथ सम्बन्ध बताया गया है। इससे इस शास्त्रकी अपौरुषेयता सिद्ध की गई है।

पौरुषेय वाङ्मयमें चौदह विद्याएँ कही गई हैं; जिनका प्रयोजन धर्म और अर्थ की तथा उन दोनोंके द्वारा कामकी प्राप्ति है। इस प्रयोजनके अनुसार साहित्यविद्या भी पन्द्रहवीं विद्या है। इसके द्वारा भी इन पुरुषार्थोंकी प्राप्ति प्रत्यक्ष-सिद्ध है। साहित्यविद्या उन चौदहों विद्याओंका सार-तत्त्व है। क्योंकि सभी विद्याएँ काव्य या साहित्य-शास्त्रका अंग हैं। आचार्य भामहने लिखा है—

"न तच्छास्त्र न सा विद्या न तच्छिल्पं न सा कला। जायते यन्न काव्याङ्गम्।"

इस प्रकार काव्यको अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों प्रकारके शास्त्रोंमें मुख्य सिद्ध करते हुए और शास्त्रोंका विस्तार करनेवाले सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका, विवृति, कारिका एवं पंजिका आदिकी सरल-सुन्दर व्याख्या करते हुए राजशेखरने शास्त्रनिर्देश नामक अध्यायको समाप्त किया है। यह शास्त्रनिर्देश नामक अध्याय अर्थशास्त्र और कामशास्त्रके अन्तमें आया है।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्यायमें काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति, उसका विकास, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति आदिका सरस वर्णन पौराणिक रूपसे करते हुए काव्यको दर्शनशास्त्रोंके समान परमपुरुषार्थ-मोक्षका साधन भी सिद्ध किया गया है।

इस अध्यायकी सभी बातें अनेक आधारोंपर आधारित होनेके साथ अत्यन्त रहस्यमय, मनोरञ्जकतापूर्ण और दार्शनिक तत्त्वयुक्त हैं। इस अध्यायमें अनेक विषयोंका एक साथ ग्रन्थन करते हुए पौराणिकताका सुन्दर पुट दिया गया है, जो किसी वस्तुकी प्रामाणिकताका साधन माना जाता था।

वायुपुराण और महाभारतमें, सरस्वतीको दधीचि ऋषिके द्वारा पुत्रका उत्पन्न होना और उसका जन्मसे ही समस्त विद्याओंका पारंगत होना लिखा है। उसे सारस्वत ऋषि कहा गया है। बाणभट्टने इस कथाको हर्षचरितके प्रारम्भमें काव्यकी भाषामें सुन्दर रूपसे चित्रित किया है। राजशेखरने, इस कथानकका अत्यल्प आधार लेते हुए, सरस्वतीको साक्षात् प्रजापति-ब्रह्मदेवके द्वारा पुत्र-प्राप्तिहोनेका वर्णन किया है और उसे सारस्वतेय काव्य-पुरुष माना है।

प्राचीन समयसे भृगुपुत्र उशनस् (शुक्र) कविके नामसे प्रसिद्ध थे, किन्तु काव्योत्पत्तिकी कथा वाल्मीकिके 'मा निषाद' इस रामायणके श्लोकसे प्रारम्भ होती है। अतः इन दोनोंका सम्बन्ध जोड़कर राजशेखरने काव्यपुरुषका लालन-पालन भार्गव-शुक्रके आश्रममें कराया है और पुत्र-काव्यपुरुषके खो जानेसे व्याकुल सरस्वतीको कविका आश्रम-मार्ग

दिखलानेके कारण वाल्मीकिको सरस्वती द्वारा काव्यरचना शक्ति उत्पन्न होनेके लिए वरदान दिलानेकी कल्पना करके उन्होंने कथाकी अद्भुत ढंगसे योजना की है।

सारांश यह कि छन्दोबद्ध शब्दमय काव्यको ब्रह्माने अपनी सरस्वती द्वारा अनादिकालसे उत्पन्न कर दिया था; किन्तु उसे सरस और आकर्षक बनानेकी सामग्री न थी। इस कारण उसमें रूक्षता थी। रूक्ष पुरुषको सरस बनानेके लिए जिस प्रकार रमणीका प्रेम आवश्यक है; उसी प्रकार शब्दमय काव्यको सरस बनानेके लिए साहित्य-वधूकी आवश्यकता थी। अतः कविने साहित्यको वधूका रूपक देकर उसके द्वारा काव्यको सरस बनानेकी कल्पना की है। यहाँ कान्ता-सम्मित उपदेशका हृदयङ्गम उदाहरण भी उपस्थित कर दिया गया है।

इस प्रकार तीसरे अध्यायमें ग्रन्थकारने काव्य-विद्याकी उत्पत्तिको पौराणिकरूप देते हुए भरत-नाट्यशास्त्रके अनुसार भौगोलिक दृष्टिसे भी उसके स्वरूपका निर्धारण किया है। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य-काव्योंकी प्रामाणिकता भरतके नाट्य-शास्त्र द्वारा सिद्ध हो चुकी थी और उसका विस्तृत साहित्य भी सम्पन्न था। नाट्यके तीन प्रधान अङ्ग हैं—वेश-विन्यास, विलास-विन्यास और वचन-विन्यास। इन तीनोंका नाम-प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति है। इनमें वेश-विन्यास और नृत्य-गीत, हाव-भाव आदि विलास विन्यास मुख्य रूपसे दृश्य काव्यके उपयोगी होते हैं; किन्तु रीति या रचना शैली, दृश्य और श्रव्य दोनों काव्योंमें समानरूपसे उपयुक्त होती है। अतः रीतिको दृश्य-काव्यकी आत्मा मानते हुए वामन आदि आलङ्कारिकोंने इसे काव्यका प्रधान अङ्ग माना है। राजशेखरने इन रीतियोंके निरूपणके लिए पृथक् एक अधिकरणकी भी रचना की है।

प्रस्तुत तृतीय अध्यायमें एक सरस पौराणिक कल्पना द्वारा काव्यकी इन वृत्ति-प्रवृत्ति-रीतियोंका स्वरूपवर्णन करते हुए उनके क्रम-विकासका रहस्यमय वर्णन किया गया है। काव्य-पुरुषकी यात्रा-प्रसङ्गसे उन्होंने भारतके उन चार भागोंके वेष, विलास और वचन रचनाओंका दिग्दर्शन करा दिया है; जिन्हें प्राचीन आचार्योंने निर्धारित किया था।

भारतमें अनेक देशोंके होते हुए भी काव्यों और नाटकोंकी रचनाशैलीके अनुसार उनके चार भाग किये गये हैं—पूर्वमें मगध और बंगाल, मध्यदेशमें पाञ्चाल, पश्चिममें अवन्तिदेश और दक्षिणमें विदर्भ। मालूम होता है प्राचीनतम भारतमें इन्हीं चार देशोंमें इसका विकास हुआ और अन्य देशोंको इन्हींके अन्तर्गत माना गया था। इन चारोंमें पूर्वदेशकी वेष-रचना या प्रवृत्तिका नाम औड्र-मागधी, मध्यदेशकी पाञ्चाल-मध्यमा, अवन्ति देशकी आवन्ती और विदर्भदेशकी दाक्षिणात्या प्रवृत्ति है। इन चारोंका वर्णन राजशेखरने चार श्लोकों द्वारा किया है।

इसी प्रकार इन चार देशोंकी विलास-विन्यास-रचना या नृत्य-कलाका नाम वृत्ति है; जिसमें पूर्वदेशकी वृत्ति भारती, पाञ्चालकी सात्वती, अवन्तीकी आरभटी एवं सात्वती-कैशिकी और विदर्भकी कैशिकी है। ये चार प्रकारके नृत्य हैं; जिनमें अनेक हाव-भाव आदि अन्तर्गत हैं। इनके लक्षण और विशेष स्वरूपका निरूपण भरत नाट्य-शास्त्रमें मिलता है। यह दृश्य-काव्योंका विषय होनेके कारण काव्य-शास्त्रमें अधिक विस्तारसे वर्णित नहीं किया गया है।

इनके अतिरिक्त इन चार देशोंकी काव्यरचना-शैली तीन प्रकारकी है; जिसे रीति कहा गया है। क्रमशः पूर्व देशकी काव्य-रचना-शैलीका नाम गौडी है। पाञ्चालकी शैलीका नाम पाञ्चाली और अवन्ति तथा विदर्भकी रचना-शैलीका नाम वैदर्भी है।

इन रीतियों द्वारा क्रमशः काव्य-रचनाका विकास हुआ है। गौडी रीतिकी रचनामें अक्षरोंका आडम्बर अधिक रहता है। उसमें लम्बे समासों और अनुप्रासोंकी अधिकता रहती है। इसीलिए राजशेखरने लिखा कि जब गौड़ देशमें साहित्य-विद्या-वधूने उस देशके वेषको धारण करके, भारतीवृत्तिके नृत्य और गौडी रीतिकी रचनासे काव्य-पुरुषको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की तो वह प्रसन्न नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि गौडी रीतिकी रचना प्रसाद-गुण-युक्त नहीं होती। इसीसे काव्यमें प्रसाद-गुण नहीं आया।

पाञ्चाली रीति गौडीसे उत्कृष्ट है। जहाँ गौडी-शैलीमें अक्षरों और शब्दोंका आडम्बर मात्र रहता है, वहाँ पाञ्चालीमें दोनोंकी समानता रहती है। कहा है—'**शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चालीरीतिरुच्यते**'। महाकवि बाणभट्टके हर्षचरितमें इस रीतिका प्रचुर प्रयोग दीखता है। इसमें छोटे-छोटे समास, स्वल्प अनुप्रासयुक्त वाक्योंकी रचना तथा वाच्यार्थसे लक्ष्यार्थकी प्रधानता रहती है। इसीलिए राजशेखर लिखते हैं कि साहित्य-विद्या-वधूकी इस रचनासे काव्यपुरुष कुछ प्रसन्न और आकृष्ट हुआ।

तीसरी सर्वोत्कृष्ट काव्य-रचना-शैलीका नाम वैदर्भी रीति है। लिखा है, वैदर्भी शैलीकी रचना बड़े ही भाग्यसे प्राप्त होती है। इस शैलीमें कहीं-कहीं हल्की-फुल्की अनुप्रास छटा, छोटे-छोटे समासयुक्त या समास-हीन प्रसन्न पद तथा व्यङ्ग्यार्थकी प्रधानता रहती है। कालिदास, श्रीहर्ष आदिकी अत्यधिक लोकप्रियताका कारण यही रीति है। इसीकारण राजशेखरने काव्यपुरुष और साहित्यविद्या-वधूका विदर्भदेशके वत्स-गुल्म नामक प्रसिद्ध स्थानमें पाणिग्रहण—संस्कार कराते हुए अपनी कल्पित-कथाका सुन्दर उपसंहार किया है।

अन्तमें लेखकने ब्रह्म और मायाके समान इन दोनोंके सम्यक् ज्ञानको केवल ऐहलौकिक सुखका साधन ही नहीं; पारलौकिक परमपुरुषार्थ मोक्षका साधन भी बताया है; जो दार्शनिकोंका चरम और मुख्य ध्येय है।

साहित्य-विद्या-वधू और काव्यपुरुषके संयोगकी इस कल्पित-कथा द्वारा काव्यकी सृष्टि, उसका बाल्यकाल और यौवन-विकास बताते हुए राजशेखरने काव्यकी प्रामाणिकता, उपादेयता और आवश्यकतापर नवीन ढंगसे रहस्यपूर्ण प्रकाश डाला है।

इस प्रकार ये तीन अध्याय, इस सम्पूर्ण शास्त्रकी पूर्वपीठिकाके रूपमें, निर्मित किये गये हैं।

चतुर्थ अध्याय

यहाँसे कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरणका प्रारम्भ होता है। शास्त्रीय-परम्पराके अनुसार किसी शास्त्रके प्रारम्भमें सर्वप्रथम उसके विषय और उसके अनन्तर शास्त्रके प्रयोजनका निर्देश किया जाता है, यतः उस ओर जनरुचिका आकर्षण हो। इसके अनन्तर तीसरा विषय अधिकारीका निरूपण करना है। अर्थात् इस शास्त्रके अध्ययनका अधिकारी कौन है? कविरहस्यके चतुर्थ अध्यायमें सर्वप्रथम अधिकारी या काव्य-विद्याके शिष्योंकी मीमांसा की गई है।

शिष्योंकी विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि शिष्य तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो पूर्वजन्मके संस्कारवश स्वभावतः बुद्धिमान् होते हैं। दूसरे, वे जो गुरूपदेश, शास्त्राभ्यास एवं परिश्रमद्वारा कवित्व-शक्ति प्राप्त करते हैं। उन्हें आहार्यबुद्धि शिष्य कहा जाता है और तीसरे, दुर्बुद्धि शिष्य; जिन्हें विरञ्चिसम गुरुके प्राप्त होनेपर भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इन्हें मन्त्र, तन्त्र या देवाराधनसे कवित्वशक्ति प्राप्त होती है।

इन तीनोंमें, तीसरेसे दूसरा और दूसरेसे प्रथम श्रेष्ठ है। यदि एकमें ही तीनों गुण हों, अर्थात् स्वाभावतः बुद्धिमान् हो, गुरूपदेश, अभ्यास और श्रम करता हो तथा सरस्वतीके मन्त्र, जप, अनुष्ठान व्रत आदि द्वारा आराधक भी हो, तो फिर वह कवि ही नहीं; कविराज बन सकता है। राजशेखरमें ये तीनों गुण थे। वे कहते हैं कि तीनों प्रकारके शिष्योंको योग्य शिक्षकसे काव्य-रचनाका अभ्यास करना अनिवार्य है—'अहरहः सुगुरूपासना प्रकृष्टो गुणः'।

काव्य-रचना या कवित्वके कारणोंपर विचार करते हुए राजशेखरने आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया है। अन्तमें वे कहते हैं कि समाधि आभ्यन्तर प्रयत्न और अभ्यास बाह्य प्रयत्न है। किन्तु कविताका मूल कारण शक्ति है; जो जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है। शक्तिसे प्रतिभा उत्पन्न होती है और प्रतिभा काव्यकी जननी है। इसके उदाहरण-स्वरूप वे कहते हैं कि जानकी-हरण नामक प्रसिद्ध महाकाव्यके रचयिता कुमारदास और अलंकारशास्त्रके आचार्य मेधावी रुद्र जन्मान्ध-कवि थे। उन्होंने केवल प्रतिभाके प्रकर्षसे ही ऐसी उत्कृष्ट रचना की है।

इस निर्णयके अनन्तर कवि और आलोचकके सम्बन्धमें गम्भीर विवेचन किया गया है। इसका कारण भी प्रतिभा है। प्रतिभा दो प्रकारकी होती है। एक कारयित्री; जिसके द्वारा निर्माण या रचना की जाती है और दूसरी भावयित्री; जो काव्योंके गुणदोषका विवेचन करती है। कुछ व्यक्ति दोनोंको एक ही मानते हैं; किन्तु राजशेखर महाकवि कालिदासके मतका अनुसरण करते हुए समालोचकको कविसे भिन्न मानते हैं। सोनेको उत्पन्न करनेवाला पत्थर, उसकी परीक्षा करनेवाले कसौटी-पत्थरसे भिन्न होता है। यद्यपि दोनों पाषाण ही हैं।

समालोचकोंके चार भेद बताये गये हैं—१. अरोचकी, २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। अरोचकी आलोचक वे हैं; जो अच्छी-से-अच्छी रचनापर भी नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे, जो स्वभावतः दूसरोंकी रचनामें अरुचि रखते हैं। दूसरे वे, जो अरुचिका समुचित प्रदर्शन करते हैं और समुचित रचनाकी प्रशंसा भी करते हैं। ये दोनों क्रमशः मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी भी कहे जाते हैं। कुछ आलोचक प्रतिभा-रहित और विवेक-विकल होते हैं। उनमें गुण-दोष-विवेचन-क्षमता नहीं होती। ऐसे आलोचक सतृणाभ्यवहारी कहे जाते हैं। मत्सरीके लिए तो उत्तमोत्तम रचना भी दूषित प्रतीत होता है। हाँ, ऐसे समालोचक विरले ही होते हैं; जो निष्पक्ष भावसे दूसरोंकी रचनाओं पर विचार प्रकट करते हैं। ऐसे आलोचक तत्त्वाभिनिवेशी कहे जाते हैं।

आलोचनाका महत्त्व वर्णित करते हुए राजशेखरने लिखा है कि यों तो घर-घर काव्यकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हैं; किन्तु वास्तवमें काव्य वही है, जो आलोचकोंके हृदयपटल पर अंकित हो। ऐसे काव्य, संसारमें दो-तीन ही होंगे। अन्तमें वे लिखते हैं कि जो कवि, अपनी और पराई कविताके पदोंके तारतम्यको भलीभाँति समझता है, वह कुकवि हो या सुकवि, आदरणीय है।

पञ्चम अध्याय

पञ्चम अध्यायमें प्रतिभा और व्युत्पत्तिकी सूक्ष्म मीमांसा की गई है। प्रतिभाके समान व्युत्पत्ति भी काव्यकी जननी मानी गयी है। प्राचीन आचार्योंके मतमें व्युत्पत्तिका अर्थ बहुज्ञता या विस्तृत ज्ञान है। राजशेखरके मतमें व्युत्पत्तिका अर्थ बहुज्ञता नहीं; औचित्य है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है!—इस विषय पर विचार करते हुए कहा गया है कि आचार्य आनन्दवर्द्धन व्युत्पत्तिको श्रेष्ठ और प्रतिभाको गौण मानते हैं। आचार्य मंगलके मतमें प्रतिभा मुख्य और व्युत्पत्ति गौण हैं। राजशेखरने दोनोंको समानरूपेण आवश्यक माना है। वे कहते हैं—जैसे, सौन्दर्यके लिए रूप और लावण्य ये दोनों समानरूपसे आवश्यक हैं, उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्यमें प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही समानरूपेण कारण हैं।

आगे चलकर तीन प्रकारके कवि बताये गये हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय-कवि। इनमें श्रेष्ठताका विवेचन करते हुए कहा गया है कि अपने-अपने विषयमें पहले दोनों श्रेष्ठ हैं, किन्तु उभयकवि दोनोंमें श्रेष्ठ है। शास्त्रकवि, काव्यमें रस-सम्पत्तिकी वृद्धि करता है तो काव्यकवि, तर्क-कर्कश अर्थोंको मृदु-मनोहर बना देता है और उभयकविमें दोनों गुण होते हैं।

शास्त्रकवि तीन प्रकारके होते हैं और काव्यकवि आठ प्रकारके होते हैं। जैसे—१. रचनाकवि, २. शब्दकवि, ३. अर्थकवि, ४. अलंकार कवि, ५. उक्तिकवि, ६. रसकवि, ७. मार्गकवि और ८. शास्त्रार्थकवि। इनका विषय नामसे ही प्रतिभासित होता है। उसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित बुद्धिमान्, आहार्यबुद्धि और औपदेशिक कवियोंकी दस अवस्थाएँ कही गई हैं। इनमें प्रथम दो की सात अवस्थाएँ हैं और औपदेशिक कविकी तीन। प्रथम दो कवियोंकी क्रमशः सात अवस्थाएँ ये हैं— १. काव्यविद्या-स्नातक, २. हृदयकवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि और ७. कविराज। तीसरे औपदेशिक कविकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—१. आवेशिक, २. अविच्छेदी और ३. संक्रामयिता। कवियोंकी इन दस अवस्थाओंके लक्षण और विवेचन करनेमें राजशेखरने सर्वथा नवीन विषयका अन्वेषण किया है, जो विद्वानों और कवियोंके लिए मननीय है।

इस अध्यायका अन्तिम प्रकरण पाकप्रकरण है। प्राचीन आलंकारिक विद्वान् भामह और वामनने पाक-विषयक विवेचना की है। किन्तु राजशेखरने अधिक विस्तारके साथ इसके सूक्ष्म भेद प्रदर्शित किये हैं। पाकके सम्बन्धमें मीमांसा करते हुए अनेक आचार्योंके मतोंकी समीक्षा की गई है। अन्तमें इसे एक अनिर्वचनीय शब्द-रचना माना गया है। राजशेखरने नौ प्रकारके पाक माने हैं। जिनमें मृद्वीका, सहकार और नारिकेल पाक उत्तम; बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस-पाक मध्यम एवं पिचुमन्द, वार्ताक तथा क्रमुक-पाक अधम हैं।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्यायमें पदों और वाक्योंकी व्याख्या, उनके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। स्थूलरूपसे पदके पाँच और वाक्यके दस भेद बताये गये हैं। वाक्यके व्यापार-अभिधाके तीन भेद कहे गये हैं।

इन भेदोंके उदाहरणोंका संग्रह करनेमें राजशेखरने अद्भुत गवेषण किया है। काव्यका लक्षण करते हुए उन्होंने गुण और अलंकारयुक्त वाक्यको काव्य माना है। यह भामह आदि प्राचीन आचार्योंके मतानुसार ही है। इस विषयपर विस्तृत विवेचन सम्भवतः उन्होंने किसी अगले अधिकरणमें अवश्य किया होगा।

इसके अतिरिक्त इस अध्यायका अन्तिम और महत्त्वपूर्ण प्रकरण काव्यकी उपादेयता और अनुपादेयता विषयक है। काव्य-विद्याके सम्बन्धमें तीन आक्षेप हैं; जिनके कारण कुछ विद्वान्, उसे पठन-पाठनके अनुपयुक्त एवं समाजके लिए अग्राह्य समझते हैं। पहली बात तो यह कि काव्य, असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण होते हैं। कवियोंके वर्णन स्पष्टतः असम्भव और झूठे मालूम होते हैं। दूसरे, काव्योंके प्रायः शृङ्गार-रस प्रधान होनेसे एवं उनमें वेश्या आदिका चरित्र-वर्णन होनेसे वे असत् विषयोंके उपदेशक हैं। तीसरे, इसमें अनेक असभ्य या अश्लील विषयोंके वर्णन आते हैं।

राजशेखरने इन तीनों आक्षेपोंका युक्ति और तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए एवं इन विषयोंकी वर्णन-परम्परा वेदों और शास्त्रोंमें प्रदर्शित करते हुए यह सिद्ध किया है कि ऐसे विषय कहीं अर्थ-वादरूपमें, कहीं व्यावहारिक शिक्षाके रूपमें और कहीं वस्तु स्थितिका स्पष्टीकरण करनेके लिए वेदों, शास्त्रों और पुराणोंमें भी पाए जाते हैं। काव्यमें इनका समावेश नवीन नहीं है। अतः काव्यविद्या, अन्य विद्याओंके समान ग्राह्य और उपादेय है।

सप्तम अध्याय

सातवें अध्यायमें ब्राह्म, शैव और वैष्णव इत्यादि तीन प्रकारके वाक्य कहे गये हैं। वायु-पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराणके आधारपर ब्राह्म वचन पाँच प्रकारके होते हैं। जैसे—स्वायम्भुव, ऐश्वर, आर्ष, आर्षीक और आर्षिपुत्रक। इनका विस्तृत स्वरूप और लक्षण वायुपुराणके ५९वें अध्यायमें दिया गया है। स्वयम्भू, ब्रह्माका नाम है और उनके वचन स्वायम्भुव वचन हैं। ब्रह्माके भृगु, अंगिरा आदि मानसपुत्र ईश्वर कहे जाते हैं, अतः उनके वचन ऐश्वर कहे जाते हैं। भृगु-अंगिरा आदि ईश्वरोंके योनिज-पुत्र ऋषि कहे जाते हैं, उनके वचन आर्ष हैं। इन ऋषियोंके पुत्र ऋषीक कहे जाते हैं, उनके वचन आर्षीक और उनके पुत्रोंके वचन आर्षिपुत्रक होते हैं।

इसके अनन्तर देवताओं और देवजातियोंकी भाषाओंका विवेचन किया गया है। साहित्य-संसारमें यह नवीन विषय है और यह पौराणिक आधारपर किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें उसका वर्णन आता है। इस विषयकी चर्चाका कारण यह बताया गया है कि कवियोंको समय-समयपर दिव्यपात्रोंके वार्तालाप प्रसंगमें इनकी आवश्यकता पड़ती है। साहित्य-जगत्में इस महत्त्वपूर्ण विषयकी गवेषणाका श्रेय राजशेखरको ही है।

इसके अनन्तर इस अध्यायका दूसरा प्रकरण काकु-सम्बन्धी है। काकु, एक प्रकारका उच्चारण-भेद है। रुद्रटने 'काकुवक्रोक्ति' नामक एक अलंकार माना है। राजशेखरने इसका खण्डन किया है। उनके मतमें यह एक पाठभेद मात्र है। भामह, आनन्द आदि प्राचीन आचार्योंने इसे मध्यम श्रेणीका काव्य माना है। राजशेखरने इसकी विस्तृत मीमांसा की है। यह एक ध्वनिविशेष है। प्राचीन आचार्योंने इसके दो भेद माने है—साकांक्ष और निराकांक्ष। राजशेखरने अभ्युपगमानुनय और अभ्यनुज्ञोपहास नामक दो और भी काकु-भेद माने हैं। वे

कहते हैं कि शास्त्रोंमें काकुका साम्राज्य तो है ही, किन्तु काव्यका यह जीवन है। आंगिक और सात्विक अभिनय द्वारा भी इसकी अभिव्यक्ति की जाती है। कविता पाठ करनेके समय कविको इसे ऐसे स्पष्टरूपसे स्वर द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिए कि अर्थ-प्रतीतिके साथ काव्यका सौन्दर्य भी प्रतीत हो।

काकु-प्रकरणके बाद राजशेखरने काव्यपाठ-प्रकरण दिया है। मालूम होता है, उस समय राज-दरबारोंमें तथा स्वतन्त्ररूपसे काव्यगोष्ठियाँ और कवि-सम्मेलन हुआ करते थे एवं सुन्दर, सुस्वर काव्यपाठका महत्त्व अत्यधिक था। वे कहते हैं—"कवि, काव्यरचना तो अच्छी-से-अच्छी कर लेते हैं, किन्तु उसे पढ़ना सब नहीं जानते। गलेका सुरीलापन और काव्य पढ़नेका ढंग अनेक जन्मके संस्कारोंसे किसी-किसी कविको ही प्राप्त होता है। सरस्वतीके लाड़ले विरले ही कवि, सुललित और हृदयग्राही काव्य-पाठ करना जानते हैं।" इसके अतिरिक्त कविता पढ़नेके नियम भी अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनाके साथ बताए गए हैं। मालूम होता है राजशेखर काव्य-पाठमें भी परम-प्रवीण थे।

इससे भी आगे बढ़कर राजशेखरने भिन्न-भिन्न देशोंके कवियोंकी पाठ-प्रणालीका अतिशय मार्मिक विवेचन किया है। राज-दरबारों तथा कवि-गोष्टियोंमें उन्हें भिन्न-भिन्न देशके कवियोंका समागम और उनके पाठ सुननेका अवसर मिलता रहा है। यह पाठ-मीमांसा राजशेखरकी अनोखी सूझ है, जिसपर किसी आलोचकका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था।

इस आलोचनामें बंगालके कवियोके प्राकृत-पाठ और कश्मीरी कवियोंके संस्कृत-काव्य पाठकी आलोचना अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंगसे की गई है। वे कहते हैं कि वाणी-सरस्वतीने ब्रह्मासे जाकर कहा कि "महाराज! या तो आप मेरा त्यागपत्र लेकर मेरे स्थानपर दूसरी सरस्वतीकी नियुक्ति कीजिए या यह आज्ञा दीजिए कि गौड़ देशवासी (बंगाली) प्राकृत भाषाका उच्चारण न करें।"

कारण यह कि गौड़ या बंग देशके निवासी शुद्ध संस्कृतका ही ऐसा उच्चारण करते हैं कि वह प्राकृतके समान मालूम होती है। यदि प्राकृत गाथाओंका पाठ करने लगें तो न जाने क्या हो जाय! अर्थात् बंगदेशीय कवि प्राकृत भाषाकी रचना तो कर सकते हैं; किन्तु उसका उच्चारण अति भयानक रूपमें करते हैं।

दूसरे, कश्मीरी कवियोंके लिए वे कहते हैं कि शारदाकी कृपासे कश्मीरी कवि, उत्कृष्ट काव्य-रचना करते हैं; किन्तु जब पढ़ते हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि मानों कानोंमें गुरुचके रसका कुल्ला कर रहे हैं। अर्थात् उनका उच्चारण अत्यन्त कर्ण-कटु होता है।

उसी प्रकार द्रविड़, लाट, पंजाबी, पहाड़ी—आदि देशोंके कवियोंके पाठकी आलोचना करते हुए उन्होंने पांचाल या मध्यदेशके कवियोंके काव्यपाठको सर्वोत्तम माना है। आज भी वास्तवमें इसी देशके कवियोंका पाठ सुन्दर होता है। यह प्रायः दिल्लीसे प्रयाग तकका देश है। राजशेखरने इस देशकी, विशेषतः कन्नौजकी स्त्रियोंकी, वेष-भूषाको भी सर्वोत्तम माना है। वे निष्पक्ष और खरे समालोचक थे। महाराष्ट्र होते हुए भी उन्होंने वास्तविक गुण-ग्राहकताका परिचय दिया है।

चतुर्थसे सप्तम अध्यायतक पद-वाक्य-विवेक मुख्य रूपसे मीमांसाका विषय रहा है और उसके अनेक आवश्यक अवान्तर विषयोंकी मीमांसा की गई है। अष्टम और नवम अध्यायोंमें अर्थ विषयक मीमांसा की जायगी।

अष्टम अध्याय

अष्टम अध्यायमें सर्वप्रथम काव्यार्थके स्रोत बताये गये हैं और उनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं। तात्पर्य यह कि कविको वर्णनीय विषय कहाँ से किस प्रकार लेने चाहिये? इसे बताते हुए राजशेखरने मुख्यरूपसे श्रुति, स्मृति, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, कामशास्त्र आदि बारह स्रोत और उसमें भी अनेक अवान्तर स्रोत बताये हैं। इसपर विस्तृत मीमांसा करते हुए चार नवीन स्रोतोंकी कल्पना भी की गई है। इस अध्यायका तात्पर्य कविके लिए अधिकसे-अधिक सामान्य ज्ञान प्राप्त करना है। अर्थात् कविको अनेक शास्त्रों, व्यवहारों, कलाओं तथा देश-काल आदिका व्यापक ज्ञान अपेक्षित है। इसके बिना रचनाके समय वह कुण्ठित हो जायगा। अतः उदाहरणोंके साथ इस विषयकी विस्तृत विवेचना की गई है।

नवम अध्याय

नवम अध्यायमें अनेक विषयोंकी सूक्ष्म आलोचना करते हुए अर्थकी व्यापकता और उसके अवान्तर सूक्ष्मतम विषयोंकी दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मीमांसा की गई है।

प्राचीन आचार्योंके मतानुसार कविके वर्णनीय अर्थ या विषय तीन होते हैं—स्वर्गीय, मर्त्यगत और स्वर्ग-मर्त्य-गत। राजशेखरने इन तीनोंके साथ चार अन्य विषय और सम्बद्ध करके सात कर दिए हैं। जैसे—पातालीय, मर्त्य-पातालीय, दिव्य-पातालीय और दिव्य-मर्त्य-पातालीय। इनका उदाहरणोंके साथ स्पष्टीकरण करते हुए इस नवीन विषयका सोदाहरण उल्लेख किया है।

आगे चलकर वे कहते हैं कि विषय असीम हैं और अर्थ अनन्त हैं। उनका विवेचन करना सम्भव नहीं है। अतः हम उन्हें मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—विचारित-सुस्थ और अविचारित-रमणीय। शास्त्रोंमें प्रतिपादित अर्थ या विषय विचारित-सुस्थ हैं और काव्योंके विषय अविचारित-रमणीय हैं।

शास्त्रोंमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, वे विचार करनेमें वास्तविक एवं सुस्थिर होते हैं। उनपर जैसे-जैसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विचार किये जायँगे, वैसे-वैसे इनकी वास्तविकता एवं स्थिरता बढ़ती जायगी। ऐसे विषय विचारित-सुस्थ कहे जाते हैं। जैसे—दार्शनिक, वैदिक या गणित आदिके विषय। उनपर जितना विचार किया जायगा, वे वास्तविक और स्थिर प्रतीत होंगे। दूसरे अविचारित-रमणीय विषय वे हैं; जो केवल सुनने मात्रमें सुन्दर और हृदयाकर्षक लगते हैं; किन्तु जब उनकी वास्तविकतापर विचार किया जाता है तब वे सर्वदा असत्य और कल्पित प्रतीत होते हैं। काव्योंमें प्रतिपादित विषय प्रायः ऐसे ही होते हैं। जैसे—'तलवारके समान श्यामवर्णके आकाशमें उड़ते हुए हनुमान्ने अपने पीतवर्ण बालोंकी कान्तिसे आकाशको पीला बना दिया।'

यहाँ पहले तो चमचमाती हुई तलवारका श्याम होना ही असत्य है, केवल कवियोंका एक नियम (समय) मात्र है। फिर अ-मूर्त एवं नी-रूप आकाशमें रूपकी कल्पना भी असम्भव और कल्पित है। इसपर भी हनुमानजीके पीतवर्णसे आकाशके श्यामवर्णका पीले रंगमें परिवर्तित होना और भी अद्भुत बात है। इस प्रकार विचार करनेपर ये सारी बातें अ-सम्भव हैं; किन्तु वाक्य सुनते ही कविकी कल्पना या उड़ान सुन्दर और आकर्षक मालूम होती है। कविके इस वाक्यमें प्रसादगुण और तद्गुण नामक अलंकार भी है। इसी प्रकार कवियोंके वाक्य बिना विचारे ही रमणीय लगनेके कारण अविचारित-रमणीय कहे जाते हैं। वास्तविक विचारसे वे कल्पित और अस्थिर हैं।

राजशेखर कहते हैं कि काव्योंमें ऐसी बातें वास्तविक स्वरूप-वर्णनकी दृष्टिसे नहीं कही जातीं। यह प्रतिभास मात्र हैं। सूर्य या चन्द्रका बिम्ब न जाने कितने करोड़ों मीलके विस्तारमें है; किन्तु हम उसे एक हाथ या बारह अंगुलका समझते हैं और उसी प्रकार वर्णन और व्यवहार भी करते हैं। इससे वस्तु-स्थितिमें अन्तर नहीं आता। जैसे, वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार सारा संसार, ब्रह्ममें इस प्रकार भासित हो रहा है, जैसे रज्जुमें सर्प, सीपमें चान्दी या मृग-मरीचिकामें जलका भ्रम होता है। वास्तवमें वह भ्रम ही है। प्रतिभासमें कल्पित आनन्दका भाग होता है। कवियोंका वर्णनीय विषय वही है।

काव्य-रचनामें सरसता या नीरसता कविके शब्दों द्वारा होती है, अर्थके कारण नहीं। कैसा ही कठोर और नीरस अर्थ (विषय) क्यों न हो; कवि अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा उसे सरस कोमल और कमनीय बना देता है। पर्वत, जंगल, समुद्र, नदी, हाथी, घोड़े, रथ आदि अत्यन्त कठोर, भयानक और नीरस अर्थोंको, कवि, शब्दों द्वारा सरस, सुन्दर एवं रमणीय बना देते हैं। विषयका स्वरूप कैसा ही क्यों न हो ! कवि यदि सरस हो तो उसे सरस बना देता है, नीरस हो तो नीरस। राजशेखरने इस विषयकी हृदयंगम उदाहरणों द्वारा मीमांसा की है। इस विषयमें अवन्ति-सुन्दरी और जैन विद्वान् पाल्यकीर्तिके मतोंकी भी मीमांसा की गई है कि किसी भी वस्तुका स्वभाव नियत नहीं है। उसकी स्थिति वक्ताकी स्थितिपर निर्भर है।

इसके अनन्तर मुक्तक और प्रबन्ध भेदसे दो प्रकारके काव्यार्थ कहे गये हैं। इन दोनोंके पाँच-पाँच भेद बताते हुए राजशेखरने भवभूति, अमरुक एवं कालिदासकी रचनाओंसे महत्त्व-पूर्ण उद्धरण दिये हैं।

अन्तमें यह कहा गया है कि यह विवेचन संस्कृत काव्योंको लक्ष्य करके किया गया है; किन्तु प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची आदि सभी काव्य-भाषाओंके काव्य समानरूपसे इसके लक्ष्य हैं। जो कवि जितनी ही भाषाओंमें प्रवीण होता है; वह उतना ही यशस्वी होता है।

इस प्रकार ४ से ९ अध्यायोंतक पद, वाक्य एवं अर्थ तथा उनके उन अवान्तर विषयोंकी समीक्षा की गई है; जो काव्यविद्या-स्नातकोंके लिए अवश्य ज्ञातव्य हैं।

दशम अध्याय

दशम अध्यायमें कविचर्या और राजचर्याका विषय अभूतपूर्व और कवियोंके लिए मननीय एवं उपादेय है। इसके अध्ययनसे तत्कालीन कवियों एवं काव्योंके सम्बन्धमें ऐतिहासिक

दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण प्रकाश मिलता है। कवियोंके रहन-सहन और दैनिक व्यवहारके संबन्धमें छोटी-छोटी बातों तकका उल्लेख किया गया है जो अतिशय आकर्षक है।

कवियोंके रहन-सहन तथा दिनचर्या आदिके विषयोंपर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखरके समय राज्योंमें तथा समाजमें कवियोंका अच्छा सन्मान था। समाजमें काव्यचर्चा अत्यधिक थी। साधारण जनता भी काव्यप्रेमी थी। इसका कारण राजाओंका काव्यप्रेम था। 'यथा राजा तथा प्रजा' के नियमानुसार यह समय काव्यमय था। कविताकी अनेक भाषाएँ थीं; जिनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषाएँ प्रधान थीं। साधु, सन्त, उपदेशक आदि भी कविताके द्वारा उपदेश एवं प्रचार करते थे। उनकी रचनाएँ बालक, वृद्ध, स्त्री एवं हीनजातिके ग्रामीण पुरुषोंमें शीघ्र-से-शीघ्र मौखिक रूपमें प्रचारित हो जाती थीं।

कविके रहन-सहन और आचरण-व्यवहरणके सम्बन्धमें राजशेखरने जो लिखा है; उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजकवि ऐश्वर्यसम्पन्न थे, टाट-बाटसे रहते थे और उनका जीवन उच्चस्तरका था। अन्य कवि भी प्रायः ऐसे ही थे। वे राजाओं द्वारा पुरस्कृत और सम्मानित होते थे। कविगण अपने आश्रयदाता राजा तथा जनताकी अभिरुचिको देखते हुए उन्हींके अनुसार और अनुकूल भाषा और विषयोंमें रचना करते थे। राजकवियोंके निवासस्थान, बाग-बगीचों, फव्वारों, सुन्दर सरोवरों, वापियों आदिसे शोभित रहते थे। उनमें विविध प्रकारके पशु-पक्षि, कृत्रिम पर्वत, विविध पुष्पवृक्ष एवं लता-मण्डप आदि रहते थे। वे पान, इत्र, सुगन्धित पुष्प आदिका सेवन करते तथा स्वच्छ एवं समयानुकूल बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। कविके-लिए गम्भीर प्रकृतिका होना, विविध देश-विदेशके समाचारोंका जानना एवं सभी ओरसे रहस्यों तथा तत्त्वोंका अन्वेषण करना आवश्यक था। कविकेलिए निश्चिन्तता, एकान्तप्रियता तथा एकाग्रता आवश्यक है। उसे प्रतिदिन नवीन विषयोंका अध्ययन करके अपने साधारण ज्ञानकी अभिवृद्धि करते रहना चाहिए। प्रतिदिन मित्र-गोष्ठियोंमें काव्यचर्चा करना और उसके विविध अंगोंपर अभ्यास बढ़ाना आवश्यक है

तत्कालीन कवियोंकी लेखनसामग्रीका वर्णन भी बहुत सुन्दर है। कागज-पेन्सिलके आविष्कारके अभावमें कवियोंके लेखनागार या अध्ययनकक्षकी दीवारोंपर सुन्दर पालिस रहा करती थी और एक डब्बेमें खड़ियाकी लम्बी शलाकाएँ रखी रहती थीं। उसीके द्वारा कवि, दीवारोंपर कविताको लिख लिया करते थे। वे आलपिनके समान पतली लोहकीलोंसे नत्थी किये ताड़ोके मुलायम पत्तोंपर लिखा करते थे। जब विचार-विमर्शके अनन्तर रचना शुद्ध हो जाती थी तब उनके शिष्य या शिष्याएँ उन्हें अन्तिम रूपसे ताड़पत्रोंपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखा करते थे। उनके ये शिष्य, अत्यन्त विनयी, मधुरभाषी, सुन्दर अक्षर-लेखक, विद्वान् और स्वयं सुन्दर होते थे। राजाओं और रसिक एवं धनिक कवियोंके यहाँ इस कार्यके लिए शिक्षित महिलाओंका भी प्रयोग किया जाता था। यदि राजा स्वयं कवि होते थे, तो उनके यहाँ प्रायः स्त्री-लेखिकाएँ ही रहा करती थीं।

काव्यके इस अत्यधिक प्रचारके समयमें काव्यापहरण या कविताओंकी चोरी भी प्रचुर-मात्रामें होती थी। किसी प्राचीन या अप्रसिद्ध कविकी रचनाको अपने नामसे प्रसिद्ध कर देना या किसीकी रचनामें कुछ हेर-फेर करके उसे अपने नामसे प्रसिद्ध करा देना, किसीकी अप्रकाशित रचनाको उससे एकान्तमें सुनकर या चुराकर उसके पहले ही अपने नामसे घोषित कर देना, किसी निर्धन कविको धन देकर उसकी रचनाको खरीद लेना और उसे अपनी

रचनाके रूपमें प्रसिद्ध करना तथा दूर-देशके निवासी कविको रचनाको अपने देशमें अपनी घोषित करना आदि बातें उस समय प्रचुरमात्रामें प्रचलित थीं। इस सम्बन्धमें राजशेखरने कवियोंको बराबर सावधान करते हुए ऐसे व्यक्तियोंकी तीव्र भर्त्सना की है। इस अपहरण-क्रियासे उन्हें अत्यधिक चिढ़ थी। इस सम्बन्धमें उन्होंने गम्भीर अनुसन्धान किया था। अगले तीन अध्यायोंमें इसकी सूक्ष्मतम विवेचना की है। ऐसे उदाहरणोंके अन्वेषण और उनके स्मरण रखनेमें उन्होंने अद्भुत कौशलका परिचय दिया है।

काव्यरचनाओंके प्रचारके सम्बन्धमें उनके लेखोंसे मालूम होता है कि बड़े-बड़े राजाओंके यहाँ विद्वानोंकी रचनाओं और ग्रन्थोंकी परीक्षाएँ होती थी। इस अवसरपर दूर देशोंके विद्वान् उनमें सम्मिलित होते थे। रचनाओंपर पुरस्कार दिये जाते थे और उनके लेखकोंका सम्मान होता था। उनकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न देशोंके विद्वानों द्वारा चारों ओर फैल जाती थीं। सम्भव है, उस समय ऐसे व्यवसायी लेखक होते थे; जो पुरस्कृत रचनाओंकी तुरन्त प्रतिलिपियाँ कर देते थे और वे विद्वानों द्वारा दूर-दूर तक ले जाई जाती थीं। तभी तो कश्मीरकी रचनाएँ कन्नौज तक और कन्नौजकी रचनाएँ कश्मीर तक कुछ ही दशकोंमें फैल जाती थीं। मुक्तक रचनाएँ, या किन्हीं विशेष धार्मिक अवसरोंपर पढ़ी गई रचनाएँ जनताके मौखिक प्रचार द्वारा दूर-दूर तक फैल जाती थीं।

इसी प्रसंगमें उन्होंने प्राचीन समयमें होनेवाली उन राजसभाओंका वर्णन भी किया है; जो उज्जयिनी और पाटलिपुत्रमें काव्यों और शास्त्रोंकी परीक्षाओंके लिए होती थीं। उनमें पुरस्कृत विद्वानोंको ब्रह्म-पट्ट दिये जाते थे और उन्हें ब्रह्मरथमें बैठाकर नगरमें समारोहके साथ घुमाया जाता था। इस प्रकार देश-विदेशोंके विद्वानोंका परस्पर परिचय और विचार-विनिमय होता था। ऐसी विद्वत्परीक्षाओंका लघु स्वरूप अभी कुछ दिन पूर्व बड़ौदा, इन्दौर एवं मिथिला आदिमें प्रचलित था। राजशेखरके पूर्व और उनके समय इसकी प्रचुरता थी। राजशेखरने कालिदास, भारवि, मेण्ठ आदि कवियों एवं पाणिनि, पतंजलि आदि शास्त्रकारोंकी ऐसी परीक्षाओंके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी बातें लिखी हैं, जो तत्कालीन प्रचारका साधन थीं।

इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक राजाओं और राजसभाओंका भी उल्लेख किया है; जो स्वयं संस्कृत आदि काव्यभाषाओंके विद्वान, कवि एवं गुणग्राही या पारखी थे।

इन सब विषयोंके कारण यह अध्याय अत्यन्त उपादेय और अपूर्व है। कवियोंके लिए पर्याप्त जानकारीकी बातें इसमें उल्लिखित हैं। कवियोंके सम्बन्धकी अनेक बातें इस समयसे मिलती-जुलती हैं। अतः आधुनिक कवियोंके लिए इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री और मनोरंजन प्राप्त हो सकते हैं।

दशम अध्यायके अन्तमें राजाओंके कविदरबारका अनोखा वर्णन है। इसमें भिन्न-भिन्न भाषाओंके कवियों और कलाकारोंके लिए बैठनेका क्रम निर्दिष्ट किया गया है—वह पठनीय है। राजाओंकी चर्या और उनके यहाँ होनेवाले गुणीजनोंके सम्मान आदिका वर्णन, तत्कालीन परिस्थितिका सजीव चित्र उपस्थित करता है। यह अध्याय अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंसे अत्यन्त उपादेय हो गया है।

एकादश अध्याय

एकादश अध्यायसे लेकर अगले तीन अध्यायोंमें अपहरण सम्बन्धी सूक्ष्म मीमांसा की गई है। एकादश अध्यायमें शब्दहरण सम्बन्धी विचार हैं।

शब्दका अपहरण किस-किस स्थितिमें कैसे किया जाता है? किस प्रकारका शब्द-हरण क्षम्य और उचित है? कौनसा अक्षम्य और अनुचित है!—इन बातोंपर गम्भीर और वैज्ञानिक मीमांसा, वास्तवमें राजशेखरकी मार्मिक एवं तलस्पर्शिनी प्रतिभाका परिचय देती है।

शब्दहरण पाँच प्रकारके हैं—१. पद-हरण, २. पाद-हरण, ३. अर्ध-हरण, ४. वृत्त-हरण और ५. प्रबन्ध-हरण।

प्राचीन आचार्य, एक-दो पदोंके हरणको हरण नहीं मानते; किन्तु राजशेखरके मतमें केवल दो अर्थवाले पदका हरण दोष नहीं है। अर्थात् श्लिष्टपदका अपहरण उचित है। राजशेखरने लिखा है कि उद्धरणके रूपमें किसी प्राचीन कविका पद या पादहरण करना हरण नहीं; प्रत्युत स्वीकरण है। यहाँ तक कि प्राचीन कवित्वके तीन पादोंका हरण करके भी चतुर्थपादमें उन्हें भिन्न अर्थमें संगत कर देना हरण नहीं; प्रत्युत कवित्व है।

इसी प्रकार शब्द-हरणके गुणदोषोंकी परीक्षा करते हुए राजशेखर कहते हैं कि मूल्य देकर किसीकी कविताको खरीदकर अपने नामसे प्रसिद्ध करना भी गर्हित अपहरण है। यशकी प्राप्ति न हो; यह सह्य है, किन्तु दुर्यश या अयश होना सह्य नहीं है। किसी कविकी उक्तियोंको यदि अर्थान्तरमें परिणत कर दिया जाय, तो उसका पता भी नहीं चलता और उसमें माधुर्य भी अधिक उत्पन्न होता है। अन्तमें वे कहते हैं कि कवि और बनिया चोरीके बिना नहीं रह सकते। वह चोर-कवि अच्छा है; जो चोरीको बिना निन्दा कराये छिपा सके।

अन्तमें चार प्रकारके कवि कहे गये हैं—एक उत्पादक; जो मौलिक सूझ और नवीन अर्थका प्रतिपादन करते हैं। दूसरे, परिवर्तक कवि; जो अपने प्राचीन कवियोंकी उन मौलिक सूझोंको कौशलके साथ परिवर्तित कर देते हैं। तीसरे, आच्छादक कवि; जो दूसरोंकी नवीन कल्पनाओंको छिपानेका यत्न करते हैं और चौथे, संवर्गक कवि; जो अनेक काव्योंकी कल्पनाओंके आधारपर ही रचना करते हैं।

महाकवि वह है; जो कुछ नवीन कल्पनाओंकी सृष्टि करे और कुछ प्राचीन कल्पनाओंमें नवीनताका पुट देकर उन्हें अधिक चमत्कारी बना सके।

द्वादश अध्याय

द्वादश अध्यायमें अर्थहरण-सम्बन्धी मीमांसा है। यह मीमांसा अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। इनके उदाहरण भी अत्यन्त गम्भीर गवेषणाके फल हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि राजशेखरका अध्ययन कितना व्यापक एवं गम्भीर था और आर्यावर्तके महाराज महेन्द्रपालका आश्रय प्राप्त होनेके कारण उन्हें वे सभी समुचित साधन प्राप्त थे; जो ऐसे मीमांसक के लिए आवश्यक थे।

'अनेक शताब्दियोंसे महाकवियों द्वारा असंख्य काव्य-रचनाओंके कारण प्रायः नवीन कल्पनाओंका अभाव-सा हो गया, अतः कवियोंमें अपहरणकी प्रवृत्ति प्रचुररूपसे प्रचलित हुई'—प्राचीन विद्वानोंके इस मतका खण्डन करते हुए उन्होंने वाक्पतिराजका मत उद्धृत किया है कि 'प्राचीन कवियों द्वारा अनन्त कल्पनाओंका उल्लेख होनेपर भी भारतीके कल्पना-भण्डारमें अभी अनेक अमूल्य और असंख्य कल्पना-रत्न भरे पड़े हैं; जो कभी समाप्त नहीं हो सकते'।

इसके अनन्तर 'कुछ अपहरण उचित होते हैं और कुछ अनुचित'। इस विषयका मार्मिक विवेचन करते हुए राजशेखरने विद्वत्तापूर्ण वैज्ञानिक गवेषणा द्वारा अपहरणोंकी एक सुन्दर व्यवस्था की है। बत्तीस प्रकारके अपहरणोंका उल्लेख करते हुए इनके लक्षण, स्वरूप और उदाहरणोंका प्रदर्शन किया है। पता नहीं; ये भेद प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित थे या राजशेखरके स्वयं आविष्कृत हैं।

अर्थहरणके सम्बन्धमें अनेक मतोंका उद्धरण करते हुए वे कहते हैं कि "सिद्ध-सारस्वत कवियोंके अलौकिक ज्ञानमय चक्षु, वाणी और मनके द्वारा अगम्य, अस्पृष्ट, दृष्ट और अदृष्ट विषयोंको भी समाधिके द्वारा जान लेते हैं। महाकविको सुषुप्ति अवस्थामें भी सरस्वतीकी कृपासे जिन शब्दों और अर्थोंका प्रतिभास होता है; उसे जाग्रत अवस्थामें भी साधारण कवि नहीं जान सकते। महाकवि गण, दूसरोंकी उच्छिष्ट कल्पनाको देखनेके लिए जन्मान्ध होते हैं। अभिनव कल्पना या सूझके लिए वे दिव्य दृष्टि-सम्पन्न होते हैं। तीन नेत्रोंवाले शिव और सहस्र-नेत्र इन्द्र भी उस वस्तुको नहीं देख पाते; जिन्हें महाकवि चर्मचक्षुसे देखते हैं। कवियोंके निर्मल बुद्धिदर्पणमें सारा विश्व, सर्वदा प्रतिविम्बित होता रहता है। इन कवियोंके आगे शब्द और अर्थ अपनी-अपनी स्वीकृतिके लिए स्वेच्छासे नृत्य किया करते हैं। जहाँ समाधि-सिद्ध योगी, निर्विकल्पक समाधि द्वारा पहुँचते हैं, वहाँ महाकविगण, वाणी द्वारा स्वच्छन्द विचरण करते हैं"।

इसके अनन्तर अर्थके मुख्यतः तीन भेद बताए गये हैं—अन्ययोनि, निह्नुतयोनि और अयोनि। अन्ययोनि अर्थके दो भेद हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्य-प्रख्य। निह्नुतयोनि अर्थ भी दो प्रकारका है—तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश। अयोनि अर्थ एक है।

इन चार प्रकारके अर्थोंका निबन्धन करनेवाले कवि भी चार प्रकारके होते हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक। पाँचवाँ अयोनि या मौलिक अर्थरचना करनेवाला कवि, चिन्तामणि है। चिन्तामणि कविकी इच्छामात्रसे ऐसा अलौकिक, सरस, विचित्र और मौलिक अर्थ उमड़ पड़ता है कि जिसकी बड़े-बड़े महाकवियोंने कभी कल्पना भी नहीं की होती। यह चिन्तामणि कवि भी तीन प्रकारका होता है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र।

प्रतिबिम्बकल्प अर्थके आठ भेद हैं—१. व्यस्तक, २. खण्ड, ३. तैलबिन्दु, ४. नट-नेपथ्य, ५. छन्दोविनिमय, ६. हेतुव्यत्यय, ७. संक्रान्त और ८. सम्पुट। यह आठों प्रकारका अपहरण कविके लिए निन्दित है। ऐसा अपहरण अयशका कारण है।

त्रयोदश अध्याय

त्रयोदश अध्यायमें शेष तीन—आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य और परपुर-प्रवेश-सदृश-अर्थापहरणोंका विवेचन किया गया है। आलेख्यप्रख्य नामक अर्थापहरणके आठ भेद हैं—१. समक्रम, २. विभूषणमोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नटनेपथ्य, ७. एक परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति। आलेख्यप्रख्यके इन आठों भेदोंका अपनाना कवियोंके लिए निन्द्य नहीं; प्रत्युत ग्राह्य है।

तुल्यदेहितुल्य नामक अर्थापहरणके आठ भेद ये हैं—१. विषय-परिवर्तन, २. द्वन्द्वविच्छित्ति ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. विधानापहार, ७. माणिक्यपुंज और ८. कन्द। यह तुल्यदेहितुल्य नामक अर्थापहरण मार्ग भी कवियोंके लिए ग्रहण करने योग्य है।

परपुरप्रवेश सदृश नामक अपहरणके आठ भेद ये हैं—१. हुडुयुद्ध, २. प्रतिकञ्चु, ३. वस्तुसंचार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जीवंजीवक, ७. मुद्रा और ८. तद्विरोधी। यह भी ग्राह्यमार्ग है।

इस प्रकार अर्थहरणके ३२ भेद दिखाए गये हैं—इनके त्याग और ग्रहणका भलीभाँति ज्ञान होना ही कवित्व है। इन अर्थापहरणके भेदोंका वर्गीकरण उनके उपयुक्त और सार्थक नामोंकी कल्पना एवं उनके समुचित उदाहरणोंका सन्निवेश आदि संस्कृत साहित्य-संसारमें अनूठी और अति गम्भीर कल्पना है; जो कवियोंकेलिए सर्वथा माननीय है।

चतुर्दश, पञ्चदश और षोडश अध्याय

इसके आगेके तीन—चतुर्दश, पञ्चदश और षोडश—अध्यायोंमें कवि-समयका वर्णन है। कवियोंकेलिए वर्णन करनेमें कविसमयका ज्ञान भी एक अत्यावश्यक विषय है। कविसमय कवियोंका एक परम्परागत साम्प्रदायिक नियम है। वे लोग कुछ ऐसे वर्णन करते हैं। जो शास्त्र और लोक दोनोंसे सर्वथा विपरीत होते हैं। किन्तु नियमानुसार कवियोंको ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं। इस विषयपर राजशेखरसे प्राक्तन और अर्वाचीन विद्वानोंने स्थूलरूपसे नियमोंका निर्देश किया है। राजशेखरने अपनी वैज्ञानिक शैलीसे उनके अनेक भेद और अवान्तर भागोंका सूक्ष्म विवेचन किया है। राजशेखरके परवर्ती कवियोंने इस विषयको अधिक बढ़ाया है।

इस सम्बन्धमें कुछ लोगोंका यह प्रश्न है कि कविगण इस प्रकार शास्त्र एवं लोक-व्यवहार-विरुद्ध अप्रामाणिक बातोंका उल्लेख कर भ्रम फैलाते हैं—यह तो महान् दोष है। इसका उत्तर देते हुए राजशेखरने लिखा है कि प्राचीन कवियोंने सहस्रों शाखाओंमें विस्तृत वेदोंका अध्ययन और विशाल-विस्तृत भू-मण्डलके द्वीपोंमें भ्रमण करके जिन नियमोंका प्रचलन किया है; वे आज कालक्रमसे हमें भले ही विपरीत प्रतीत होते हों; किन्तु हमें उनकी परम्पराका निर्वाह करना ही चाहिए। हाँ, उसकी आड़में कुछ धूर्तोंने स्वार्थवश नवीन परम्परा प्रचलित कर दी है। अतः हम उसकी नियमित व्यवस्था और मीमांसा करना उचित समझते हैं।

राजशेखरने तीन प्रकारके कविसमय बताए हैं—स्वर्गीय, भौम और पातालीय। इनमें भौम या पार्थिव कविसमय चार प्रकारका होता है—जातिरूप, गुणरूप, क्रियारूप और द्रव्यरूप। इन चारोंमें प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं—१. असत् या अस्तित्व-विहीन बातोंका वर्णन करना। जैसे—सभी पर्वतोंसे रत्न उत्पन्न नहीं होते, प्रवाह युक्त गम्भीर नदियोंमें कमल उत्पन्न नहीं हो सकते और न सभी जलाशयोंमें हंस ही निवास करते हैं; किन्तु कविको उनका वर्णन करना आवश्यक होता है।

दूसरे, सत्—अस्तित्वयुक्त वस्तुका अपलाप करना। जैसे—वसन्तमें मालतीका अस्तित्व न मानना। अशोकमें फलका न होना आदि।

तीसरे, नियम—चन्दन अन्य पर्वतोंमें भी होता है, किन्तु उसका केवल मलयमें ही वर्णन करना। मकर, बड़ी-बड़ी नदी और झीलोंमें भी होते हैं; किन्तु केवल समुद्रमें ही उनकी स्थितिका वर्णन करना आदि नियम हैं।

इस प्रकार चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायमें भौम कवि-समय की विस्तृत विवेचना और सोलहवें अध्यायमें स्वर्गीय और पातालीय कविसमयका वर्णन भी कवियोंके पथ-प्रदर्शनकेलिए महत्त्वपूर्ण विषय है।

सप्तदश अध्याय

सप्तदश अध्याय और अष्टादश अध्याय क्रमशः देश और कालके सम्बन्धमें लिखे गये हैं। देश और कालका ज्ञान कवियोंके लिए अत्यावश्यक है, उसके बिना वे विमूढ और विवश हो सकते हैं। अतः सप्तदश अध्याय देश-परिचयके सम्बन्धमें है। साहित्यजगत्में इस विषयका स्वतन्त्ररूपेण व्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम राजशेखरने ही किया है। कविकुलगुरु कालिदासने रघुवंशके रघुदिग्विजय, इन्दुमती-स्वयंवर प्रकरणमें तथा मेघदूतमें भारतीय-भूगोलका सुन्दर परिचय दिया है, जो काव्योंका एक प्रधान अंग है।

राजशेखरको भौगोलिक विषयोंका पर्याप्त परिचय था। उन्होंने जो भारतीय-भूगोलका वर्णन किया है; वह प्राचीन पुराणों, महाभारत, बृहत्संहिता एवं ग्रीक, चीन आदि देशोंके यात्रियोंके वर्णनोंसे ठीक मिलता है। कुछ ऐसे नये नाम भी आये हैं; जिनका उल्लेख इन ग्रन्थोंमें नहीं है। उन दिनों भारतकी भौगोलिक स्थितिमें अनेक परिवर्तन आदि होते रहे हैं। यह भी सम्भव है कि एक देशके दो नाम हों।

राजशेखरने लिखा है कि भारतवर्षके नौ खण्ड हैं; जिनमें एकका नाम कुमारीद्वीप है। यही कुमारीद्वीप आधुनिक भारत है। यह विन्दु-सरोवरसे कन्याकुमारी तक फैला हुआ भू-भाग चक्रवर्ती क्षेत्र कहा जाता है। इस भू-भागपर जो शासन करता है; वह चक्रवर्ती कहा जाता है। भारतके सम्पूर्ण नौ खण्डोंपर जो शासन करता है; वह सम्राट् कहा जाता है। भारतके इन नौ खण्डोंमें वर्तमान मलाया, सिंहल, लंका, सुमात्रा, जावा, अनाम, चीन और तुर्किस्तान का भाग आदि हैं। आर्यावर्त कुमारीद्वीपका एक भाग है। कुमारी द्वीपमें सात कुलपर्वत हैं। पूर्वमें चीनका कुछ भाग (आसामकी ओर) तथा उत्तरमें अरब, फारस, अफगानिस्तान आदि कुमारीद्वीपके ही जनपद थे। राजशेखरके ये सारे वर्णन, मनुस्मृति, महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र द्वारा प्रमाणित हैं।

राजशेखरने भारतवर्षको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। चार दिशाओंके चार भाग और एक मध्यभाग। इस सम्बन्धमें आए हुए जनपदों, नगरों, नदियों और पर्वतोंकी आधुनिक स्थिति, परिचय, नाम आदिका विवेचन परिशिष्ट-प्रकरणमें किया गया है। हम पाठकोंके स्पष्ट परिचयके लिए उन पाँचों भागोंका संक्षिप्तरूप प्रदर्शित कर देते हैं—

पूर्व देश : वाराणसीसे कामरूप तक

जनपदोंके नाम		पर्वत	नदियाँ	उत्पन्न होनेवाले द्रव्य
१. अंग	९. नेपाल	१. बृहद्गृह	१. शोण	१. लवली
२. कलिंग	१०. पुण्ड्र	२. लोहितगिरि	२. लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)	२. ग्रन्थिपर्णक
३. कोशल	११. प्राग्ज्योतिष	३. चकोर	३. गंगा	३. अगुरु
४. तोसल	१२. ताम्रलिप्तक	४. दर्दुर	४. करतोया	४. द्राक्षा
५. उत्कल	१३. मलद	५. नेपाल	५. कपिशा आदि	५. कस्तूरिका आदि
६. मगध	१४. मल्लवर्तक	६. कामरूप आदि		
७. मुद्गर	१५. सुह्म			
८. विदेह	१६. ब्रह्मोत्तर आदि			

दक्षिणापथ : माहिष्मतीसे कन्याकुमारी तक

१. महाराष्ट्र	१४. चोल	१. विन्ध्य (दक्षिणपाद)	१. नर्मदा	
२. माहिषक	१५. दण्डक	२. महेन्द्र	२. तापी	
३. अश्मक	१६. पाण्ड्य	३. मलय	३. पयोष्णी	
४. विदर्भ	१७. पल्लव	४. मेकल	४. गोदावरी	
५. कुन्तल	१८. गांग	५. पाल	५. कावेरी	मलयमें उत्पन्न
६. क्रथकैशिक	१९. नाशिक्य	६. मंजर	६. भीमरथी	होनेवाली चन्दन
७. सूर्पारक	२०. कोंकण	७. सह्य	७. वेणा	आदि वस्तुएँ;
८. कांची	२१. कोल्लगिरि	८. श्रीपर्वत आदि	८. कृष्णवेणा	ताम्रपर्णीके संगममें
९. केरल	२२. वल्लर आदि		९. वंजुरा	उत्पन्न होनेवाले
१०. कावेर			१०. तुंगभद्रा	मोती आदि।
११. मुरल			११. ताम्रपर्णी	
१२. वानवासक			१२. उत्पलावती	
१३. सिंहल			१३. रावणगंगा आदि	

पश्चादेश : देवसभा (देवास) से यवन देशतक

१. देवसभ	६. कच्छीय	१. गोवर्धन	१. सरस्वती	१. करीर
२. सुराष्ट्र	७. आनर्त	२. गिरिनगर	२. श्वभ्रवती	२. पीलु
३. दशेरक	८. अर्बुद	३. देवसभ	३. वार्तघ्नी	३. करभ
४. त्रवण	९. ब्राह्मणवाह	४. माल्यशिखर	४. मही	४. गुग्गुल
५. भृगुकच्छ	१०. यवन आदि	५. अर्बुद आदि	५. हिडिम्बा आदि	५. खर्जूर आदि

उत्तरापथ : पृथक् (पिहोवा) से तुर्किस्तान तक

जनपदों के नाम		पर्वत	नदियाँ	उत्पन्न होनेवाले द्रव्य
१. शक	१२. तंगन	१. हिमालय	१. गंगा	१. सरल
२. केकय	१३. तुषार	२. इन्द्रकील	२. सिन्धु	२. देवदारु
३. वोक्काण	१४. तुरुष्क	३. कलिन्द	३. सरस्वती	३. द्राक्षा
४. हूण	१५. बर्बर	४. चन्द्राचल आदि	४. शतद्रु	४. कुंकुम
५. बाणायुज	१६. हरहूरव		५. चन्द्रभागा	५. चमर
६. काम्बोज	१७. हुहुक		६. यमुना	६. अजिन
७. बाह्लीक	१८. सुहुड़		७. इरावती	७. सौवीर
८. बह्लव	१९. हंसमार्ग		८. वितस्ता	८. श्रोतोञ्जन
९. लिंपाक	२०. रमठ		९. विपाशा	९. सैंधव
१०. कुलूत	२१. करकण्ठ		१०. कुहू	१०. वैदूर्य
११. कीर			११. देविका	११. अश्व

अष्टादश अध्याय

अठारहवें अध्यायमें काल-विभाग भी कवियोंके लिए अत्यावश्यक वस्तु है। इसमें प्रकृतिवर्णनके सभी सामग्रियोंको सुन्दर ढंगसे सजाया गया है। राजशेखरने अत्यन्त सूक्ष्मतम दृष्टिसे प्रकृतितत्त्वका निरीक्षण किया है. और उसको सुव्यवस्थितरूपसे रखते हुए कवियोंके लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पहले सौर और चान्द्रमानका परिचय देते हुए बताया गया है कि कविको किस ऋतुमें किस दिशाकी वायुका वर्णन करना चाहिए। तदन्तर वर्षासे लेकर ग्रीष्मतक छहों ऋतुओंका वर्णन उनके वर्णनीय वृक्ष, पुष्प, उत्सव, त्योहार, विनोद आदिका वर्णन अत्यन्त हृदयाकर्षकरूपमें वर्णित किया गया है। इसके अनन्तर गहराईमें चलकर राजशेखरने प्रत्येक ऋतुकी चार-चार अवस्थाएँ बताई हैं—ऋतु-सन्धि, ऋतु-शैशव, ऋतु-प्रौढि और ऋतु-अनुवृत्ति। यह अत्यन्त रमणीय विषय है। इस विषयके उदाहरण भी प्रायः उन्होंने अपने निर्मित ग्रन्थोंसे ही दिये हैं। ऐसे सूक्ष्म विषयोंपर सभी कवियोंका ध्यान नहीं जाता और प्रकृति वर्णन ही काव्यका जीवन है।

पुष्पोंके छः प्रकारके भेद बताते हुए फलोंके भी छः प्रकारके भेद बताये गये हैं—अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज, बाह्यान्तर्व्याज, सर्वत्याग, बहुव्याज और निर्व्याज। विद्वानोंके लिए यह प्रकरण मनन करने योग्य है।

इस प्रकार अत्यन्त मधुरताके साथ कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरणकी समाप्ति हुई है। इसे पढ़नेके बाद यह उत्कण्ठा प्रबल रूपमें बनी रहती है कि जैसी आकर्षक शैली और गम्भीर मीमांसाके साथ वैज्ञानिक ढंगसे लिखे हुए इस ग्रन्थके अन्य अधिकरण भी प्राप्त होते तो संस्कृत वाङ्मयका कैसा महान् उपकार होता।

राजशेखरने प्रथम अध्यायमें कविरहस्यकी जो विषय सूची दी है, उसमें अन्तिम विषय 'भुवनकोश' है। इसकी चर्चा उन्होंने सप्तदश अध्यायके भौगोलिक वर्णनमें भी की है। भुवनकोषका वह अंश, जो कविरहस्य-अधिकरणके लिए आवश्यक था, वह सप्तदश अध्यायमें

आ ही गया है। राजशेखरको भूगोलज्ञान का प्रेम अधिक था। अतः उन्होंने उसपर विस्तृत निबन्ध भी लिखा था, जो कविरहस्यके परिशिष्टरूपमें रहा होगा और हस्तलिपिकोंने उसे अत्यावश्यक न समझकर न लिखा होगा। यदि वह उपलब्ध होता तो संस्कृत-वाङ्मयमें एक व्यवस्थित और प्रामाणिक भू-गोल की कमी दूर हो सकती थी।

प्रस्तुत अनुवाद

'काव्य-मीमांसा' के हिन्दी-अनुवादकी प्रेरणा बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्से मिली। मैंने कुतूहलवश इस कार्यके लिए अपनी इच्छा तो प्रकट की; किन्तु सार्वजनिक कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण इस अद्भुत ग्रंथका भाषान्तर करनेमें शीघ्र हाथ न लगा सका। अंतमें इसी भरोसेपर मैंने इस कार्य में हाथ लगाया कि सन् १९१८ ई० में जब 'काव्य-मीमांसा' सद्यः प्रकाशित हुई थी, तब परम-पूज्य गुरुवर महामहोपाध्याय श्रीरामावतार शर्माजीके चरणोंकी छायामें रहकर अध्ययन करते हुए इस ग्रंथके भी अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अधिकतर यात्रा करते रहनेके कारण इसका कुछ अंश काशीमें, कुछ दिल्लीमें और कुछ भिवानीमें पूरा किया गया।

अनुवाद कैसा हुआ, यह तो सहृदय समालोचकोंके विचारका विषय है। किन्तु, अनुवाद को सुस्पष्ट करनेके लिए 'मक्षिका-स्थाने मक्षिकादेशः' का अनुसरण नहीं किया गया है। परिशिष्टों तथा टिप्पणियों द्वारा भी मूल के भावों और अर्थों के स्पष्टीकरणका प्रयत्न किया गया है। संस्कृतके लम्बे समासवाले एवं संस्कृतकी निजी शैलीसे लिखे गये वाक्यों और श्लोकोंका समुचित अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है। फिर, 'काव्य-मीमांसा' के संबंधमें संस्कृत में भी टीका-टिप्पणी आदिका अभाव है। काशीसे इसकी एक संस्कृत-टीका प्रकाशित हुई है, जिसमें कठिन स्थल और भी दुरूह तथा भ्रामक हो गये हैं। इस ग्रंथकी जो तालपत्रपर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपि मिली है, उसमें भी कहीं-कहीं लेखककी असावधानी से त्रुटियाँ रह गई हैं। इन्हें ठीक करनेमें मूल पुस्तकके सम्पादकोंकी चेष्टा श्लाघनीय है, फिर भी मुझे कहीं-कहीं इसके मूलमें संशोधन करना पड़ा है।

प्रस्तुत अनुवाद को, मूलका मर्मोद्घाटन करनेके उद्देश्यसे, यथास्थान आवश्यक उद्धरण और विवरण देकर सुगम बनानेका प्रयत्न किया गया है। ग्रंथमें आये हुए उदाहरणों, व्यक्तियों तथा देशोंका ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय यथासंभव दिया गया है। इस प्रकार, अनुवादको आधुनिक पाठकोंके संतोषके योग्य बनानेका यथाशक्य प्रयास किया गया है।

प्रूफ-संशोधनके संबंधमें यद्यपि मैंने तथा परिषद्ने पूर्ण प्रयत्न किये हैं, तथापि दृष्टिदोषसे जहाँ-कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, उन्हें सुधि-सज्जन सुधार लेनेकी कृपा करें।

इस अनुवादके टाइप करने तथा प्रूफ देखनेमें मेरे योग्य शिष्य श्रीलीलाधर शर्मा शास्त्री, साहित्यरत्नने जो सहायता मुझे दी है, उसके लिए आभार प्रकट करता हूँ। 'नाड़ी-तत्त्व-दर्शन' के प्रसिद्ध लेखक भिषक्केसरी श्री सत्यदेव वाशिष्ठको भी धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूँ, जिनकी सहायतासे निश्चिन्ततापूर्वक मैं यह अनुवाद तैयार कर सका।

'सुप्रभातम्' काशी।
महाशिवरात्रि, २०१० }

केदारनाथ शर्मा सारस्वत

राजशेखरविरचिता काव्यमीमांसा

कविरहस्यम्

प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः

अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवस्स्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

प्रथम अध्याय : शास्त्र-संग्रह

अब काव्यकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं। भगवान् श्रीकंठ—शिवने इस काव्यविद्याका सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्योंको किया था। उनमेंसे प्रथम शिष्य स्वयम्भू—ब्रह्मदेवने इस विद्याका द्वितीय वार उपदेश अपनी इच्छासे उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों—ऋषियोंको किया। इन शिष्योंमें सरस्वतीका पुत्र काव्य-पुरुष भी एक था; जगद्वन्द्य देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेवने त्रिकालज्ञ और दिव्य-दृष्टि द्वारा भविष्य बातोंको जाननेवाले उस काव्यपुरुषको भू, भुव और स्वर्ग—तीनों लोक-निवासिनी प्रजामें काव्य-विद्याके प्रचारके लिए आज्ञा दी। काव्य-पुरुषने अठारह भागोंमें विभक्त काव्य-विद्याका उपदेश सबसे प्रथम सहस्राक्ष आदि दिव्य (स्वर्गीय) स्नातकोंको किया। उनमेंसे एक-एक शिष्यने, अठारह भागोंमें विभक्त उस काव्य-विद्याके एक-एक भागमें विशेषता प्राप्त करके, अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ-रचना की।

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः,[1] यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः,[2] शब्दश्लेषं

---

१. कुछ लोगोंका मत है कि 'आनुप्रासिकं प्राचेतायनः' के स्थानपर 'प्रचेता'-यह पाठ होना चाहिये। 'प्रचेता' नाम वरुणका है। यहाँ मूलप्रतिके लेखकका भ्रम प्रतीत होता है। अतः हमने 'प्रचेता' इसी पाठको प्रामाणिक रूपसे रखा है। हस्तलिखित प्रतिमें 'प्राचेतायनः' यह पाठ व्याकरणसे अशुद्ध भी है।

२. यहाँपर मूल-संस्कृत प्रतिमें यमक और चित्र दोनोंका प्रणेता चित्रांगदको ही लिखा गया है किन्तु इस प्रकार ग्रन्थकारके प्रतिज्ञात अठारह अधिकरण न होकर सत्रह ही होते हैं और दो विषयोंकी रचना एक ही निर्माताके नामपर हो जाती है; जो ग्रन्थकारको अभिलषित नहीं है एवं प्रचलित क्रमके विरुद्ध भी है। अतः यहाँ—'यमकानि यमः', 'चित्रं चित्रांगदः' ऐसा पाठ होना चाहिये अर्थात् 'यमने यमक पर और चित्राङ्गदने चित्रकाव्यों पर'

शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः—इति। ततस्ते पृथक् पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

सहस्राक्ष इन्द्रने कवि-रहस्य नामक प्रथम अधिकरण [भाग] का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भने उक्ति-विषयक ग्रन्थका निर्माण किया। सुवर्णनाभने रीति-विषयक, प्रचेताने अनुप्रास-सम्बन्धी, यमने यमक-सम्बन्धी, चित्रांगदने चित्रकाव्य-विषयक, शेषने शब्द-श्लेषपर, पुलस्त्यने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्ति-पर, औपकायनने उपमालंकारके सम्बन्धमें, पाराशरने अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें, उतथ्यने अर्थ-श्लेषपर, कुबेरने शब्द और अर्थ-उभय अलङ्कारोंके सम्बन्धमें, कामदेवने विनोद-सम्बन्धी, भरतने नाट्य-विषयपर, नन्दिकेश्वरने रस विषय पर, धिषण—बृहस्पतिने दोषपर, उपमन्युने गुणोंके सम्बन्धमें और कुचमारने औपनिषदिक विषयों पर स्वतन्त्र रूपसे अपनी-अपनी ग्रन्थ रचना की।

इत्थङ्कारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती सङ्क्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयोंकी ग्रन्थ-रचनाओंसे काव्य-विद्या अनेक भागोंमें विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्य-विद्याके सभी विषयोंको संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणोंमें काव्य-मीमांसा नामक ग्रन्थकी रचना की। उसका यह प्रथम अधिकरण या भाग प्रारम्भ किया जाता है, जिसका नाम कवि-रहस्य है।

तस्या अयं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः। शास्त्रसङ्ग्रहः, शास्त्रनिर्देशः, काव्यपुरुषोत्पत्तिः, पदवाक्यविवेकः, पाठप्रतिष्ठा, अर्थानुशासनं, वाक्यविधयः, कविविशेषः, कविचर्या, राजचर्या, काकुप्रकाराः, शब्दार्थहरणोपायाः, कविसमयः, देश-कालविभागः, भुवनकोश इति कविरहस्यं प्रथममधिकरणमित्यादि। इति सूत्राण्यथैतेषां व्याख्याभाष्यं भविष्यति।

इस कवि-रहस्य अधिकरणके अठारह प्रकरण (अध्याय) हैं। जिसमें १—शास्त्र-संग्रह, २—शास्त्र-निर्देश, ३—काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति, ४—पद-वाक्य-विवेक, ५ पाठ-प्रतिष्ठा, ६—अर्थानुशासन, ७—वाक्य-विवेक, ८—कवि-विशेष, ९—कविचर्या, १०—राजचर्या, ११—काकु-प्रकार, १२—शब्दार्थ-हरणोपाय, १३—कवि-समय, १४—देश-काल-विभाग और १५—भुवन-कोषका विवेचन किया गया है[3]। इस

यह समुचित अर्थ सङ्गत होता है। सम्भव है हस्तलिखित प्रतिमें लेखककी असावधानीसे 'यमः' इतना पाठ छूट गया हो।

३. ग्रन्थकर्ताने अठारह अध्यायोंमें वर्णित पन्द्रह विषयोंका उल्लेख किया है। अतः

प्रकार यह कवि-रहस्य नामक प्रथम भाग है। यहाँ सूत्ररूपसे इसका विषय निर्देश किया गया है। अगले अध्यायोंमें इनका भाष्य या विस्तृत विवेचन किया जायगा।

समासव्यासविन्यासः सैष शिष्यहिताय नः।
चित्रोदाहरणैर्गुर्वी ग्रन्थेन तु लघीयसी॥

इस प्रकार हमने शिष्योंकी हित-दृष्टिसे इसमें कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार किया है। यह काव्य-मीमांसा, ग्रन्थकी दृष्टिसे संक्षिप्त होनेपर भी विविध एवं विचित्र उदाहरणोंसे विस्तृत है।

इयं नः काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्।
इयं सा काव्यमीमांसा मीमांस्यो[४] यत्र वाग्लवः॥
वाग्लवं न स जानाति न विजानाति यस्त्विमाम्।

यह काव्य-मीमांसा, काव्य-विद्याके प्रौढ़ ज्ञानका कारण है। यह काव्यकी मीमांसा है। मीमांसा उसे कहते हैं, जिसके द्वारा वाणीके अंश--शब्द और अर्थ का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है। जो उपपत्तिके साथ वाणीके अंशों (शब्द और अर्थ) का विवेचन करना नहीं जानते, वे काव्यकी मीमांसाको भी नहीं जान सकते।

यायावरीयः सङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
प्रथमोऽध्यायः शास्त्रसङ्ग्रहः।

इसलिए यायावर कुलमें उत्पन्न राजशेखरने प्राचीन मुनियोंके विस्तृत विचारोंको संक्षिप्त करके कवियोंके लिए काव्य-मीमांसाका प्रणयन किया है।

प्रथम अध्याय समाप्त



इसे अध्यायोंका क्रम न समझकर विषयक्रम समझना चाहिये। कुछ विषय दो-दो अध्यायोंमें वर्णित हैं।

४. मूल हस्त-लिखित प्रतिके अनुसार यहाँ 'मीमांसा यत्र वाग्लवः' यह पाठ है किन्तु यहाँ 'मीमांस्यो यत्र वाग्लवः' पाठ अधिक उपयुक्त हो सकता है। अतः हमने इसी पाठको रखा है।

*

द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः

इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।

द्वितीय अध्याय : शास्त्र-निर्देश

शास्त्र और काव्य इन भेदोंसे वाङ्मय दो प्रकारका है। काव्य-ज्ञानके लिए शास्त्र-ज्ञान आवश्यक है। जैसे बिना दीपकके पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञानके बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अतः काव्योंके पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना आवश्यक है।

तच्च द्विधा-अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दा···विनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्।

शास्त्र दो प्रकारका है—अपौरुषेय और पौरुषेय। अर्थात् ईश्वरीय [परम्परा-प्राप्त] तथा पुरुष-निर्मित। अपौरुषेय शास्त्रका नाम श्रुति या वेद है, जिसे परम्परासे सुनते आ रहे हैं। वेदके दो भाग हैं—मन्त्र-भाग और ब्राह्मण भाग। याज्ञिक (यज्ञ-सम्बन्धी) क्रिया-कलापको बतानेवाले मन्त्र हैं। मन्त्रोंका स्तुति, निन्दा, निवचन, विधि, निषेध एवं क्रियामें विनियोग आदि करनेवाला भाग ब्राह्मण कहलाता है।

ऋग्युजःसामवेदास्त्रयी। अथर्वणश्च तुरीयः। तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि। ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वणं त इमे चत्वारो वेदाः।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनों वेदोंका नाम त्रयी है। अथर्व नामक चतुर्थ वेद है। इनमें अर्थके अनुसार छन्दोबद्ध भागका नाम ऋक् है। इन्हीं ऋचाओंका सस्वर गेय-रूप भाग साम कहा जाता है और बिना छन्दके अर्थात् गद्य भागका नाम यजुष् है। इस प्रकार ऋक्, साम, यजुष् और अथर्वण—ये चार वेद हैं।

इतिहासवेद-धनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदाः। "वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो गेयवेदः" इति द्रौहिणिः।

इतिहास-वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद--ये चार उपवेद हैं। द्रौहिणि नामक आचार्यका मत है कि सभी वर्णोंके लिए उपयुक्त एवं सभी वेदों और उपवेदोंका आत्म-स्वरूप गान-वेद पाँचवाँ वेद है।

"शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि" इत्याचार्याः। "उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्" इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—

प्राचीन आचार्योंके मतसे वेद के छः अङ्ग हैं—१-शिक्षा, २—कल्प, ३-व्याकरण, ४-निरुक्त, ५-छन्दस्, और ६-ज्यौतिष। यायावरीय-राजशेखरका मत है कि अलंकार-शास्त्र भी सातवाँ अंग है। क्योंकि यह वेदके अर्थज्ञानका साधन है। अलंकार ज्ञानके बिना वेदार्थका सम्यक् ज्ञान असम्भव है। जैसे, श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में 'द्वासुपर्णा' यह मन्त्र आलङ्कारिक रूप में है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥"

सुन्दर पंखों वाले, एक साथ रहने वाले और परस्पर मित्रता रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्षमें निवास करते हैं। उन दोनोंमें से एक स्वादयुक्त फलोंको खाता है और दूसरा बिना कुछ खाये ही प्रकाशमान् रहता है।

सेयं शास्त्रोक्तिः। प्रत्यधिकरणं च ऋचं यजुः सामाथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः।

यह शास्त्रोक्ति है। आगे प्रत्येक अधिकरणमें ऋक्, साम, यजुष् और ब्राह्मणोंका उद्धरण करके संस्कृत भाषाका विवेचन करेंगे।

तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षा आपिशलीयादिका।

इस प्रकार चारों वेदों और ब्राह्मणोंका लक्षण बताकर उनके अर्थज्ञान-साधन अंगोंका स्वरूप बताया जाता है—

इन वेदांगोंमें शिक्षा-शास्त्र वह है, जिसके द्वारा वर्णोंके स्थान, करण, प्रयत्न एवं उच्चारण आदिका युक्ति-युक्त निर्णय किया गया है। जैसे—आपिशल, पाणिनि, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रणीत शिक्षा-ग्रन्थ।

नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः। स च यजुर्विद्या।

भिन्न-भिन्न शाखाओंमें पढ़े गए मन्त्रोंका यथोचित कर्मोंमें विनियोग करनेवाले सूत्रोंका नाम कल्प है। जैसे—कात्यायन, आश्वलायन, बौधायन तथा गोभिल आदि ऋषियोंके प्रणीत सूत्र-ग्रन्थ। यह कल्प-विद्या मुख्यतः यजुर्वेदसे सम्बन्ध रखती है—

शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्।

प्रकृति और प्रत्ययोंद्वारा सुबन्त एवं तिङन्त आदि शब्दोंकी सिद्धि करना व्याकरण-शास्त्रका प्रयोजन है। जैसे—आपिशलि, चन्द्र, शाकटायन, पाणिनि आदिके सूत्रबद्ध व्याकरण-ग्रन्थ।

---

१. इस मन्त्रमें रूपक अलंकार द्वारा एक ही शरीरमें एक साथ रहनेवाले जीवात्मा और परमात्माको आलंकारिक भाषामें दो पक्षियोंके रूपसे कहा गया है। तात्पर्य यह है कि वेदमन्त्रोंमें ऐसे अनेक आलंकारिक वर्णन मिलते हैं जो रूपक एवं उपमा आदि अलंकारोंसे रोचक बनाए गए हैं। उनके ज्ञानके लिए अलंकारोंका स्वरूप जानना आवश्यक है। अलंकार-ज्ञानके बिना उनका अर्थ-ज्ञान कठिन है। इसलिए अलंकारको भी वेदका सातवाँ अंग मानना चाहिए। मन्त्रके प्रथम अर्द्धमें रूपक और उत्तरार्द्धमें व्यतिरेक नामक अलंकार है।

निर्वचनं निरुक्तम् । छन्दसां प्रतिपादयित्री छन्दोविचितिः । ग्रहगणितं ज्योतिषम् । अलङ्कारव्याख्यानं तु पुरस्तात् ।

शब्दोंके अर्थका वर्णागम आदि पाँच प्रकारों द्वारा निर्णय करने वाला शास्त्र निरुक्त है। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, गायत्री आदि छन्दोंके लक्षण, स्वरूप तथा नियमोंको बतानेवाला शास्त्र छन्दःशास्त्र है और ग्रहोंकी गति-विधि, समय आदिके भेद बतानेवाला ज्योतिष-शास्त्र है। प्राचीन आचार्यों द्वारा बताए गए ये छः वेदांग-शास्त्र हैं। यायावरीय-राजशेखरके मतमें सातवाँ अङ्ग अलङ्कार-शास्त्र है। उसका वर्णन आगे किया जायगा।

पौरुषेयं तु—पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि ।

इस प्रकार वेद-संज्ञक अपौरुषेय-शास्त्रों और उनके छः अंगोंका वर्णन किया गया। अब पौरुषेय शास्त्रोंका वर्णन किया जाता है। इनमें चार शास्त्र प्रसिद्ध हैं:—१. पुराण, २. आन्वीक्षिकी, ३. मीमांसा और ४. धर्मशास्त्र।

तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा । यदाहुः—

वेदमें आये हुए आख्यानोंका आलङ्कारिक रूपसे विस्तृत वर्णन करना पुराणोंका विषय है। ये पुराण अठारह हैं। पुराणोंके वर्णनीय विषय पाँच हैं। जैसे कहा है:—

"सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः ।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति ॥"

१. संसारकी व्यापक-सृष्टि, २. अवान्तर-सृष्टि, ३. प्रलय, ४. मन्वन्तर और ५. वंश-वर्णन। इन पाँचों विषयोंका वर्णन जिसमें किया गया हो, उसे पुराण कहते हैं।

"पुराणप्रविभेद एवेतिहासः" इत्येके । स च द्विधा परक्रिया—पुराकल्पाभ्याम् । यदाहुः—

इतिहास भी पुराणका एक भेद है। वह परक्रिया और पुराकल्प भेदसे दो प्रकारका होता है। जैसाकि कहा है:—

"परक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा ।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥"

तत्र रामायणं भारतं चोदाहरणे ।

इतिहासकी प्रगति दो प्रकारकी होती है। एकका नाम परिक्रिया और दूसरीका नाम पुराकल्प है। एक नायकके आधारपर रचित इतिहास परक्रिया कहा जाता है और अनेक नायकोंके आधारपर निर्मित इतिहास पुराकल्प कहा जाता है। इन दोनों के उदाहरण क्रमशः रामायण और महाभारत हैं।

आन्वीक्षिकीं तु विद्यावसरे वक्ष्यामः ।

आन्वीक्षिकीका विवरण आगे विद्याओंकी व्याख्याके अवसरपर करेंगे ।

निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेक्त्री मीमांसा । सा च द्विविधा विधिविवेचनी ब्रह्मनिदर्शनी च ।

वेद-वाक्योंका विविध तर्कोंसे विवेचन करनेवाला मीमांसा-शास्त्र है । वह दो प्रकारका है:—१. कर्म-मीमांसा और २. ब्रह्म-मीमांसा अर्थात् वेदान्तशास्त्र ।

अष्टादशैव श्रुत्यर्थस्मरणात्स्मृतयः । "तानीमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि, यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि" इत्याचार्याः । तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवःस्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्त्तन्ते । तदाहुः—

श्रुति (वेद) के अर्थोंका अनुस्मरण करके धर्मका विवेचन करनेवाला धर्मशास्त्र, स्मृति कहा जाता है। स्मृतियाँ अठारह हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्योंके मतसे विद्याओं के चौदह स्थान हैं । जैसे:—चार वेद, छः अङ्ग और चार शास्त्र । इस प्रकार ये चौदह विद्याएँ भूः, भुवर् और स्वर् इन तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं । कहा भी है:—

"विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रं ।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोह उक्तो
व्यासः संत्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम् ॥"

मनुष्य सहस्रों वर्षोंसे अधिक जीवित रहकर भी इन चौदह विद्याओंका अन्त नहीं पा सकता। अतः संक्षेपमें इनके अर्थका सार कह दिया गया है। ग्रन्थके अधिक विस्तारसे भयभीत होनेवाले व्यक्तियोंकी प्रसन्नताके लिए अधिक विस्तार नहीं किया ।

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्"—इति यायावरीयः । गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च । तद्धि शास्त्राण्यनुधावन्ति ।

यायावरीय-राजशेखरके मतमें इन चौदह विद्या-स्थानोंके अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है । क्योंकि यह चौदहों विद्याओंका एक मात्र आधार है । इस काव्यके गद्य-पद्यमय होने, कविका कर्म होने और हितोपदेशक होनेके कारण सभी शास्त्र इस काव्य-विद्याका अनुसरण करते हैं ।

"वार्ता कामसूत्रं शिल्पिशास्त्रं दण्डनीतिरिति । पूर्वैः सहाष्टादश विद्यास्थानानि" इत्यपरे ।

कुछ विद्वानोंका मत है कि पूर्वकथित चौदह विद्याओंके साथ वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (अर्थशास्त्र)—इन चार विद्याओंको जोड़ देनेसे अठारह विद्याएँ हो जाती हैं ।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। "दण्डनीतिरेवैका विद्या" इत्यौशनसाः। दण्डभयाद्धि कृत्स्नो लोकः स्वेषु स्वेषु कर्मस्ववतिष्ठते। "वार्त्ता दण्डनीतिर्द्वे विद्ये" इति बार्हस्पत्याः। वृत्तिविनयग्रहणं च स्थितिहेतुर्लोकयात्रायाः। "त्रयीवार्त्तादण्डनीतयस्तिस्रो विद्याः" इति मानवाः। त्रयी हि वार्त्तादण्डनीत्योरुपदेष्ट्री। "आन्वीक्षिकी त्रयीवार्त्ता-दण्डनीतयश्चतस्रो विद्या" इति कौटिल्यः। आन्वीक्षिकया हि विवेचिता त्रयी वार्त्तादण्डनीत्योः प्रभवति।

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डीनीति या अर्थशास्त्र—ये चार विद्याएँ हैं। उशना भार्गवके मतसे दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है; क्योंकि दण्डके भयसे सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें सतर्क रहते हैं। बृहस्पतिके मतमें दो विद्याएँ हैं—१. दण्डनीति और २. वार्ता। क्योंकि जीविका और अनुशासन—ये दो ही लोक-स्थितिके कारण हैं। मनुके सम्प्रदायानुयायी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओंको मानते हैं; क्योंकि त्रयी अर्थात् वेद, वार्ता और दण्डनीतिके उपदेशक एवं आदेशक हैं। आचार्य कौटिल्यका मत है कि प्रमाणों और तर्कोंसे विवेचित त्रयी अर्थात् वेद, वार्ता और दण्डनीतिका आदेश करनेमें समर्थ हो सकते हैं। अतः आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये चार विद्याएँ हैं।

"पञ्चमी साहित्यविद्या" इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।

यायावरीय राजशेखरका मत है कि साहित्य विद्या भी पाँचवीं विद्या है; जो उक्त चारों विद्याओंका सार (तत्त्व) है। धर्म और अर्थकी प्राप्ति ह इन विद्याओंका मुख्य फल है।

तत्र त्रयी व्याख्याता। द्विधा चान्वीक्षिकी पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम्। अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वः पक्षः। साङ्ख्यं न्यायवैशेषिकौ चोत्तरः। त इमे षट् तर्काः। तत्र च तिस्रः कथा भवन्ति वादो, जल्पो, वितण्डा च।

इन विद्याओंमें त्रयीकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क विद्या दो प्रकारकी है—एक पूर्व-पक्ष और दूसरा उत्तर-पक्ष। पूर्व-पक्षमें तीन दर्शन हैं—१. चार्वाक, २. बौद्ध और ३. जैन। उत्तर-पक्षमें भी तीन दर्शन हैं—१. सांख्य, २. न्याय और ३. वैशेषिक। इस प्रकार तर्कके यह छः भेद हुए। इन तर्कोंमें तीन प्रकारकी कथाएँ होती हैं—१. वाद, २. जल्प और ३. वितण्डा।

मध्यस्थयोस्तत्त्वावबोधाय वस्तुतत्त्वपरामर्शो वादः। विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्रहादिपरिग्रहो जल्पः। स्वपक्षस्यापरिग्रहित्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा।

दोनों ओरके मध्यस्थों (निर्णायकों) को अपने-अपने तर्कका तत्त्वज्ञान करानेके लिए वस्तुस्थितिका परिचय कराना वाद कहा जाता है। प्रतिवादीपर विजय प्राप्त करनेके लिए वाक्छल, जाति और निग्रह-स्थानका आश्रय लेना जल्प कहा जाता है तथा अपने पक्षको उपस्थित न करते हुए प्रतिवादीके पक्षमें दोष-प्रदर्शन मात्र करना वितण्डा है।

कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता। आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि। सामान्यलक्षणं चैषाम्—

कृषि, पशुपालन और व्यापार इन तीनोंका संयुक्त नाम वार्ताशास्त्र है और आन्वीक्षिकी, त्रयी एवं वार्ता इन तीनों विद्याओंकी प्राप्ति और प्रयोगका साधन दण्डनीति है; क्योंकि दण्डके बिना इन तीनोंके द्वारा सांसारिक स्थितिका निर्वाह सम्भव नहीं हो सकता।

इस प्रकार शास्त्रोंका निर्देश किया गया है। इनका सामान्य-लक्षण यह है—

"सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥"

जैसे, नदियोंके प्रवाह प्रारम्भमें अत्यल्प (पतले) होते हैं और आगे बढ़नेपर क्रमशः उत्तरोत्तर विस्तृत होते जाते हैं, उसी प्रकार शास्त्रोंके प्रारम्भ भी पहले अल्प और पुनः उत्तरोत्तर विपुल (विस्तृत) हो जाते हैं। ऐसे शास्त्र सभीके लिए समादरणीय हैं।

सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्। यदाहुः—

इन शास्त्रोंका प्रणयन और विस्तर सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका, समीक्षा आदि के द्वारा किया गया है। उनके लक्षण कहे जाते हैं।

अत्यन्त विस्तृत विषयको अति संक्षिप्त रूपमें कहना सूत्र है। सूत्रकारोंने सूत्रका लक्षण इस प्रकार किया है—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यश्च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥"

अल्प-अक्षर-युक्त, सन्देह-रहित, सार-गर्भ, व्यर्थ शब्द-हीन, व्यापक एवं अनिन्द्य अर्थको बतानेवाले सूत्र होते हैं।

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः। सूत्र-वृत्तिविवेचनं पद्धतिः। आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्। अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका। विषमपदभञ्जिका पञ्जिका। अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्त्तिकमिति शास्त्रभेदाः।

सूत्रोंके समस्त सार-भागका विवरण करनेवाली व्याख्या वृत्ति कही जाती है। सूत्रपर की गयी वृत्तिकी विवेचनाका नाम पद्धति है। ऊपरसे अनेक

शंकाओंका आक्षेप करके उनका समुचित उत्तर देते हुए विस्तृत विवेचन करना भाष्य कहा जाता है। भाष्यके अवान्तर गर्भित अर्थोंका स्पष्टीकरण समीक्षा कहलाता है। यथासम्भव सरल अर्थोंका संकेत करना टीका है। केवल कठिन शब्दोंका सरल शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण पंजिका कहलाता है। सूत्रके अर्थका सरल प्रदर्शनमात्र करना कारिका कहा जाता है। इसी प्रकार उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयोंका विवेचन वार्तिक कहा जाता है—ये शास्त्रोंके भेद हैं।

"भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः ॥"

इन शास्त्रोंका ज्ञाता शास्त्र-कवि शब्दोंके गूढ़ अर्थको प्रकट करता है, संदिग्ध या सङ्गतिरहित अर्थका स्पष्टीकरण करता है तथा संक्षिप्तको विस्तृत और विस्तृतको संक्षिप्त करता है।

शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्। अध्यायादयस्त्ववान्तरविच्छेदाः। कृतिभिः स्वतन्त्रतया प्रणीता इत्यपरिसङ्ख्येया अनाख्येयाश्च।

शास्त्रके किसी एक भागकी प्रक्रियाका नाम प्रकरण है। अवान्तर विषयोंके विभाग—अध्याय, सर्ग, परिच्छेद आदि शब्दोंसे कहे जाते हैं इनकी रचना विद्वानोंने स्वतन्त्ररूपसे की है, अतः ये असंख्य और अवर्णनीय हैं।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।

शब्द और अर्थके सहभावको बतानेवाली विद्या साहित्य-विद्या कहलाती है। इस विद्याकी चौंसठ उपविद्याएँ हैं, जिन्हें विद्वान् कला कहते हैं। उपविद्याएँ या कलाएँ काव्यका जीवन हैं। इनका विस्तृत विवरण औपनिषदिक प्रकरणमें किया जायगा।

इत्यनन्तोऽभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः।
त्यक्तो निपुणधीगम्यो ग्रन्थगौरवकारणात् ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः शास्त्रनिर्देशः।



इस प्रकार संसारमें विद्वानोंकी कृतियों—रचनाओंका विस्तार अनन्त है और कुशल-बुद्धिवाले उसे समझते हैं, अतः हमने ग्रन्थके विस्तार-भयसे उसे छोड़ दिया।

द्वितीय अध्याय समाप्त



तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः

एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमः स्म, यत्किल धिषणं शिष्याः कथाप्रसङ्गे पप्रच्छुः, कीदृशः पुनरसौ सारस्वतेयः काव्यपुरुषो वो गुरुः ?—इति । स तान् बृहताम्पतिरूचे ।

तृतीय अध्याय : काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति

हम अपने गुरुजनोंसे एक प्राचीन और पवित्र कथा इस प्रकार सुनते आए हैं कि एक बार देवगुरु बृहस्पतिके शिष्योंने बात-चीतके प्रसंगमें गुरुदेवसे पूछा कि हे भगवन ! ये सरस्वतीके पुत्र काव्य-पुरुष कौन थे, जो आपके काव्य-विद्या-गुरु हैं। बृहस्पतिने काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति और उनके चरित्रका वर्णन इस प्रकार किया[1]—

पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास । प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि ।

प्राचीन कालमें पुत्र-प्राप्तिको इच्छासे सरस्वतोने हिमालय पर्वतपर जाकर तपस्या प्रारम्भ की। उसकी तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने वरदान देते हुए कहा कि मैं तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करता हूँ।

अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे । सोऽभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दस्वतीं वाचमुदचीचरत् ।

इस घटनाके कुछ दिनोंके पश्चात् सरस्वतीने पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्रने उत्पन्न होते ही उठकर माताके चरणोंका स्पर्श करते हुए छन्दोबद्ध भाषामें कहा—

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते ।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब ! पादौ वन्देय तावकौ ॥"

---

१. इस कथाकी कल्पना राजशेखरने आलङ्कारिक रूपसे पुराणोंकी शैलीपर की है। यद्यपि इसके प्रारम्भिक सूत्र वायुपुराण, महाभारत और बाणके हर्षचरितमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें मिलते हैं। सरस्वतीके पुत्रकी उत्पत्तिका वर्णन बाणके हर्षचरितमें अत्यन्त सुन्दर ढंगसे किया गया है और च्यवनऋषिके पुत्र दधीचि द्वारा सारस्वत नामक पुत्रकी उत्पत्ति बतायी गयी है। वायुपुराण और महाभारतमें भी इसी प्रकार है। परन्तु राजशेखरने ब्रह्मासे ही सरस्वतीको पुत्र-प्रसव होना लिखा है। इसके बाद की यात्रा—कल्पनाका तात्पर्य नाट्यशास्त्र तथा भामह आदिके मतानुसार प्रवृत्तियों, वृत्तियों और रीतियोंके वर्णनसे है।

हे माता ! यह सारा वाङ्मय विश्व, जिसके द्वारा अर्थ रूपमें परिणत हो जाता है, वह (काव्य-पुरुष) मैं तुम्हारे चरणोंकी वन्दना करता हूँ।

तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य भाषाविषये छन्दोमुद्रां देवी ससम्भ्रमदमङ्क-पर्यङ्केनादाय तमुदलापयत् । "वत्स, सच्छन्दस्काया गिरः प्रणेतर्वाङ्मयमातरमपि मातरं मां विजयसे । प्रशस्यतमं चेदमुदाहरन्ति यदुत 'पुत्रात्पराजयो द्वितीयं पुत्रजन्म' इति । त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम् । त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति । अहो श्लाघनीयोऽसि ।

इस प्रकारकी छन्दोबद्ध वाणी अभी तक केवल वेदोंमें ही देखी गयी थी। उसीके समान भाषा—संस्कृत—में भी छन्दोबद्ध वाणीको सुनकर सरस्वती अत्यन्त हर्षित हुई और उस नवजात शिशुको अङ्कमें लेकर प्यार करते हुए बोली—"पुत्र ! यद्यपि मैं समूचे वाङ्मयकी माता हूँ, परन्तु तूने इस प्रकारकी छन्दोबद्ध भाषासे आज मुझपर भी विजय प्राप्त कर ली; यह अत्यन्त हर्षकी बात है। कहा जाता है कि पुत्रसे पराजित होना द्वितीय पुत्र-जन्मके समान है। तुमसे पूर्वज विद्वानोंने गद्यकी सृष्टि की है; पद्यकी नहीं। इस छन्दोबद्ध वाणीके प्रथम आविष्कारक तुम ही हो। अतः तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।

"शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् । समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि । उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति । भविष्यतोऽर्थस्याभिधात्री श्रुतिरपि भवन्तमभिष्टौति ।

शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं। संस्कृत-भाषा मुख है। प्राकृत-भाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं। अपभ्रंश-भाषा जंघा है। पिशाच-भाषा चरण है और मिश्र-भाषाएँ वक्षःस्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। (ये काव्यके गुण हैं)। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं। भावी अर्थोंको बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती है—

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्य (र्त्यां)माविवेश ॥"

जिसके चार शृङ्ग (सींग) हैं, तीन पैर हैं, दो शिर हैं, सात हाथ है—ऐसे तीन प्रकारसे बँधा हुआ और शब्द करता हुआ यह महादेव मर्त्यलोकमें अवतीर्ण हुआ है।[२]

---

२. यह मन्त्र ऋग्वेद (३-८-१०-३) में आया है। भिन्न-भिन्न शास्त्रकारोंने इस मन्त्रके अपने-अपने शास्त्रानुकूल अर्थ किये हैं। वेदभाष्यकार सायणने इसका अर्थ यज्ञकी ओर

"तथापि संवृणु प्रगल्भस्य पुंसः कर्म, बालोचितं चेष्टस्व"

"फिर भी प्रौढ़ पुरुषोंके समान इस अपने व्यवहारको गुप्त रखो और नवजात-शिशुके समान आचरण करो।"

इति निगद्य निवेश्य चैनमनोकहाश्रयिणि गण्डशैल-तल-तल्पे स्नातुमभ्रगङ्गां जगाम।

सरस्वती इस प्रकार पुत्रको आशीर्वाद देकर और एक सघन वृक्षके तलमें पड़ी हुई पर्वत शिलाकी शय्यापर उसे सुलाकर आकाश-गंगामें स्नानके लिए चली गयी।

तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्तुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिवृत्ते पूषण्युष्मोपप्लुतं तमद्राक्षीत्। कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन्स्वमाश्रमपदमनैषीत्।

इधर नित्य-क्रियाके कारण कुशा और समिधा लेनेके लिए महामुनि उशनस् आश्रमसे निकले और उन्होंने पर्वत-शिलापर चढ़ते हुए सूर्यके तापसे व्याकुल एवं बिलखते हुए उस बालकको देखा। उसके आस-पास अन्य किसीको न देखकर यह अनाथ बालक किसका है?--ऐसा सोचते हुए उसे उठाकर अपने आश्रममें ले गये।

क्षणादाश्वस्तश्च स सारस्वतेयस्तस्मै छन्दस्वतीं वाचं समचारयत्। अकस्माद्विस्मापयन्स चाभ्युवाच।

कुछ ही समयके अनन्तर आश्रमके प्रशान्त-पावन वातावरणमें स्वस्थ होकर बालक सरस्वती-पुत्रने मुनिके हृदयमें छन्दोबद्ध वाणीकी प्रेरणा की और मुनि उशनस् (शुक्र) अकस्मात् बोल उठे--

"या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥"—इति

जिसे कविगण, ग्वालोंके समान दिनरात दुहते रहते हैं, फिर भी जो बिना दुही-सी प्रतीत होती है; वह सूक्तियोंकी कामधेनु सरस्वती हमारे हृदयमें निवास करे।

तत्पूर्वकमध्येतॄणां च सुमेधस्त्वमादिदेश। ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा। कविशब्दश्च 'कवृ वर्णे' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्। काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते।

ठिया है। पतञ्जलिने व्याकरणमहाभाष्यमें इसका अर्थ व्याकरणकी ओर लगाया है। भरतमुनिने नाट्यशास्त्रके १७ वें अध्यायमें इसका अर्थ नाट्य और काव्यकी दृष्टिसे किया है; जो ग्रन्थकार राजशेखरको भी अभिमत है। विशेष विवरण भूमिकामें देखिए।

जबसे कवि उशनस्के मुखसे यह छन्दोबद्ध वाणी प्रवृत्त हुई, तभीसे संसारमें उशना ऋषि कविके नामसे प्रसिद्ध हो गए और उन्हींके कारण सभी छन्द-रचना करने वाले कवि कहलाने लगे। कवि-शब्द 'कवृ-वर्णे' इस धातुसे बनता है। जिसका अर्थ है—कवि-कर्म अर्थात् काव्य-रचना। काव्यमय होनेके कारण ही सरस्वतीके उस पुत्रको भी लाक्षणिक रूपमें काव्य-पुरुष कहा जाने लगा।

ततश्च विनिवृत्ता वाग्देवी तत्र पुत्रमपश्यन्ती मध्येहृदयं चक्रन्द। प्रसङ्गागतश्च वाल्मीकिर्मुनिवृषा सप्रश्रयं तमुदन्तमुदाहृत्य भगवत्यै भृगुसूतेराश्रमपदमदर्शयत्।

उधर सरस्वतीने स्नान करके लौटने पर पुत्रको नहीं पाया और उसके विरहमें हार्दिक वेदनाका अनुभव करने लगी। इतनेमें ही किसी प्रसंगसे मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि उस ओर आ निकले, उन्होंने सहानुभूतिके साथ सरस्वतीके पुत्र-हरणका समाचार सुना और समीपस्थ भृगुपुत्र-उशनस्के आश्रमका मार्ग प्रदर्शित किया।

सापि प्रस्नुतपयोधरा पुत्रायाङ्कपालीं ददाना शिरसि च चुम्बन्ती स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायाऽपि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत्।

भार्गव-मुनिके आश्रममें बालकको देखकर स्तनोंसे दुग्धधारा बहाती हुई सरस्वतीने उसे गोदमें उठा लिया और उसके शिरका चुम्बन करने लगी। पुत्रका पता बतानेके कारण सरस्वतीने कृतज्ञता और कल्याण-पूर्ण हृदयसे वाल्मीकिको छन्दोबद्ध-रचनाके लिए हार्दिक वरदान दिया।

अनुप्रेषितश्च स तया निषाद-निहत-सहचरीकं क्रौञ्चयुवानं करुणक्रेङ्कारया गिरा क्रन्दन्तमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद।

वाल्मीकि मुनि सरस्वतीसे आज्ञा प्राप्तकर जब अपने आश्रमको लौट रहे थे, तब वे निषादके बाणसे सहचरी (मादा) के मारे जानेपर अति करुण स्वरसे चिल्लाते हुए युवा क्रौंच पक्षी (नर) को देखकर अत्यन्त शोकसंतप्त हुए और श्लोकमय वाणीमें निषादसे बोले—

**"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"**

"हे निषाद ! तूने काम-केलि-रत इस क्रौंच-मिथुनमेंसे एकको मार डाला, अतः तू भी अधिक दिनों तक जीवित न रहना।"

ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः संपत्स्यत इति।

दिव्य-दृष्टि द्वारा जब सरस्वतीको यह समाचार मालूम हुआ तो उसने वाल्मीकिके मुँहसे निकले हुए उस श्लोकको भी वरदान दिया कि 'जो कुछ न पढ़

कर सबसे प्रथम इस श्लोकका अध्ययन करेगा, वह सारस्वत (स्वाभाविक) कवि होगा।'

स तु महामुनिः प्रवृत्तवचनो रामायणमितिहासं समदृभत्; द्वैपायनस्तु श्लोकप्रथमाध्यायी तत्प्रभावेन शतसाहस्रीं संहितां भारतम्।

ऋषि वाल्मीकिने भी इस प्रकार स्वाभाविक-वाणीके प्रवृत्त होनेपर रामायण नामक इतिहासका प्रणयन किया और इसी श्लोकको सबसे पहले पढ़कर द्वैपायन मुनि व्यासने इसीके प्रभावसे एक लाख श्लोकोंकी महाभारत-संहिताका निर्माण किया।

एकदा तु ब्रह्मर्षि-वृन्दारकयोः श्रुतिविवादे दाक्षिण्यवान्देवः स्वयम्भूस्तामिमां निर्णेत्रीमुद्दिदेश। उपश्रुतवृत्तान्तश्च मातरं व्रजन्तीं सोऽनुवव्राज। वत्स, परमेष्ठिनाऽननुमतस्य ते न ब्रह्मलोकयात्रा निःश्रेयसायेत्यभिदधाना हठान्न्यवर्तयदेनमात्मना तु प्रववृते।

एकबार ब्रह्मलोकमें ऋषियों और देवताओंमें किसी वैदिक विषयपर विवाद हो गया। उसका निर्णय करनेके लिए ब्रह्माने सरस्वतीको निर्णेत्री बननेका आदेश दिया। इसलिए सरस्वती मर्त्यलोकको छोड़कर ब्रह्मलोककी ओर चल पड़ी। माताको जाते हुए देख कर पुत्र काव्य-पुरुष भी साथ जानेके लिए तैयार हो गया। सरस्वतीने कहा—पुत्र! भगवान् ब्रह्मदेवने तुम्हें आनेकी आज्ञा नहीं दी है, इसलिए उनकी आज्ञा के बिना तुम्हारा ब्रह्मलोकमें जाना कल्याणकारक न होगा। ऐसा कहकर सरस्वतीने उसे मर्त्यलोकमें छोड़ दिया और स्वयं हठपूर्वक ब्रह्मलोकको चली गयी।

ततः स काव्यपुरुषो रुषा निश्चक्राम। प्रियं मित्रमस्य च कुमारः साक्रन्दं रुदन्नभ्यधीयत गौर्या—तात, तूष्णीमास्स्व, साऽहमेषा निषेधामीति निगदन्ती समचिन्तयत्। प्रायः प्राणभृतां प्रेमाणमन्तरेण नान्यद् बन्धनमस्ति, तदेतस्य वशीकरणं कामपि स्त्रियं सृजामीति विचिन्तयन्ती साहित्यविद्यावधूमुदपादयदादिशच्चैनामेष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते, तदनुवर्त्तस्वैनं निवर्तय च। भवन्तोऽपि हन्त मुनयः काव्यविद्यास्नातकाश्चरितमेतयोः स्तुध्वमेतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यतीत्यभिधाय भगवती भवानी जोषमासिष्ट। तेऽपि तथा कर्त्तुमवतस्थिरे।

माताके इस व्यवहारसे रुष्ट होकर काव्यपुरुष अपने स्थानसे निकल पड़ा। उसे जाते हुए देखकर उसका प्रियमित्र गौरीपुत्र कुमार (कार्तिकेय) रोने लगा। माता गौरीने उसे समझाते हुए कहा—'पुत्र, रो मत, मैं उसे समझाती हूँ'। ऐसा कहकर पार्वती सोचने लगी कि 'प्राणियोंके लिए प्रेमके सिवा दूसरा दृढ़-बन्धन नहीं है। इसलिए भागते हुए काव्य-पुरुषको वशमें करनेके लिए किसी स्त्रीको उत्पन्न करती हूँ।'—ऐसा सोचकर पार्वतीने साहित्य-विद्या-वधूको उत्पन्न किया और उसे

आज्ञा दी कि 'तेरा धर्मपति क्रुद्ध होकर वह आगे जा रहा है। उसके पीछे जाकर उसे मनाकर लौटा लाओ'। उधर मुनियोंसे कहा कि 'तुम काव्य-विद्याके स्नातक हो, इसलिए इन दोनोंके पीछे जाओ और दोनोंकी स्तुति करो। क्योंकि; यही तुम्हारे लिए काव्यका सर्वस्व होगा।' ऐसा कहकर भगवती भवानी चुप होकर बैठ गयीं और वे सब अर्थात् साहित्य-विद्या-वधू एवं काव्य-विद्या-स्नातक मुनिजन, काव्य-पुरुषके पीछे-पीछे पूर्व दिशाकी ओर चल पड़े।

अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुर्यत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्या जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीयं वेषं यथेष्टमसेविष्ट। स तत्रत्याभिः स्त्रीभिरन्वक्रियत। सा प्रवृत्ती रौद्रमागधी। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

पूर्व[3] देशके अंग, बंग, सुह्म एवं ब्रह्मपुंड्र आदि जनपदोंमें इन लोगोंके पहुँचने पर वहाँके निवासियोंने उमाकी पुत्री साहित्य-वधूके वेषका इच्छानुसार अनुसरण किया। यह अनुसरण वहाँकी स्त्रियोंने किया। उस वेष-प्रवृत्तिका नाम रौद्र-मागधी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्तिकी स्तुति काव्य-विद्या-स्नातक मुनियोंने इस प्रकार की—

"आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः
सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्
गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः॥"

अगुरु (सुगन्ध द्रव्य) की धूलिसे धूसरित अतएव दूर्वाके डंठलके समान गौर शरीर वाली गौड़ (बंग) देशकी ललनाओंमें यह वेष चिरकाल तक सुशोभित हो; जिसमें गीले चन्दनसे लिप्त कुचोंपर हारोंके सूत्र चिपके हुए हैं, जिसमें घूंघट मस्तकका चुम्बन करते हैं, और बाहुमूल (काँख) का स्पष्ट-रूपसे प्रदर्शन हो रहा है।

यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्च पुरुषा बभूवुः। साऽपि सैव प्रवृत्तिः। यदपरं नृत्तवाद्यादिकमेषा चक्रे सा भारती वृत्तिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

उन जनपदोंके निवासी पुरुषोंने भी उस काव्य-पुरुषके कुछ अव्यवस्थित से वेशका अनुकरण किया। इस वेशकी रचना-प्रवृत्तिका नाम भी रौद्र-मागधी है। साहित्य-वधूने इस देशमें नृत्य-गान आदिका जो प्रदर्शन किया, उसका अनुकरण स्त्रियोंने किया। उसका नाम भारती-वृत्ति है। इस वृत्तिकी भी मुनियोंने प्रशंसा की।

---

३. इन देशोंका तथा आगे वर्णित देशोंका विस्तृत परिचय, सप्तदश अध्यायके भूगोल-वर्णन-प्रसङ्गमें, विशद रूपसे परिशिष्ट प्रकरणमें प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ इनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया। वहीं देखिये।

तथाविधाकल्पयापि तया यदऽवशम्वदीकृतः समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीतिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण ।

पूर्वदेशमें साहित्य-वधूने इस प्रकारकी वेश-रचना आदि द्वारा काव्य-पुरुषको रिझानेका जो प्रयत्न किया, उससे उसे विशेष आकर्षण नहीं हुआ और उसने जो कुछ भी बातें कीं, उनमें लम्बे समासों और अनुप्रासोंकी परम्परा (प्रवृत्ति) प्रकट होती थी । इस प्रकारकी काव्य-रचना प्रवृत्तिका नाम 'गौडी-रीति' है । काव्य-विद्या-स्नातक मुनियोंने इस रीतिकी भी स्तुति की ।

वृत्तिरीतिस्वरूपं यथावसरं वक्ष्यामः ।

भारती आदि वृत्तियों, रौद्र-मागधी आदि प्रवृत्तियों तथा गौड़ी, पांचाली आदि रीतियोंके स्वरूप अगले प्रकरणोंमें विस्तृत रूपसे कहे जायँगे ।

ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युच्चचाल यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकबाह्लीकबाह्लवेयादयो जनपदाः । तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण । सा पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्तिः । तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः ।

इसके उपरान्त काव्य-पुरुष पाञ्चाल देशकी ओर चला, जिस देशमें पांचाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बाह्लीक और बाह्लवेय आदि प्रसिद्ध जनपद हैं । वहाँ के निवासियोंने भी साहित्य-वधूका इच्छानुसार अनुसरण किया । वहाँकी स्त्रियोंने तो विशेषरूपसे वधूके वेशका अनुकरण किया । स्नातक मुनियोंने उस वेशकी इस प्रकार प्रशंसा की—

"ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख-
मानाभिलम्बिदरदोलितताररहारम् ।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितान्तरीयं
वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम् ॥"

कन्नौजकी सुन्दरियोंका वेश नमस्कार करने योग्य (वन्दनीय) है, जिसमें कर्णाभरण (कनफूल) के हिलनेसे कपोल तरंगित हो रहे हैं, जो नाभि पर्यन्त लटकते हुए लम्बे हारोंसे शोभित है और जिसमें कमरसे लेकर घुट्टी (टखना) पर्यन्त लटकते हुए घाँघरे (लहँगे) लहराते हैं ।

किञ्चिदार्द्रितमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण । सापि यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकं दर्शयांबभूव सा सात्त्वती वृत्तिः । आविद्धगतिमत्त्वात्सा चारभटी । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण । तथाविधाकल्पयापि तया यदीषद्वशम्वदीकृत ईषदसमासं ईषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च जगाद सा पाञ्चाली रीतिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण ।

इस देशमें आकर काव्य-पुरुषका मन साहित्य-वधूकी ओर कुछ-कुछ सरस और आकृष्ट होने लगा था। अतः उस समय उस वधूका जैसा वेश था, उसका पाञ्चाल देशके पुरुषोंने भी अनुकरण किया और मुनियोंने उसकी प्रशंसा की। वधूने भी काव्य-पुरुषको रिझानेके लिए जो नृत्य, गीत, वाद्य आदिका प्रदर्शन किया; उसका नाम 'सात्वती वृत्ति' है। इसे 'आरभटी वृत्ति' भी कहते हैं। इसकी मुनियोंने प्रशंसा की। इस प्रकारके आयोजनसे कुछ सरस हृदय होकर काव्य-पुरुषने जो छोटे-छोटे समास तथा अनुप्रास-युक्त एवं शिष्टता-पूर्ण वाक्योंका प्रयोग किया, उसका नाम पाञ्चाली रीति है। इस रीतिकी भी मुनियोंने प्रशंसा की।

ततः सोऽवन्तीन्प्रत्युच्चचाल यत्रावन्तीवैदिशसुराष्ट्रमालवार्बुदभृगुकच्छादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमोमेयीति समानं पूर्वेण। सा प्रवृत्तिरावन्ती। पाञ्चालमध्यमादाक्षिणात्ययोरन्तरचारिणी हि सा। अत एव सात्त्वतीकैशिक्यौ तत्र वृत्ती। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—

इसके अनन्तर वह काव्य-पुरुष अवन्तिदेशकी ओर चला। जहाँ अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद एवं भृगु-कच्छ आदि जनपद हैं। उस देशमें रहनेवालोंने उसी प्रकार साहित्य-वधूके वेशका अनुसरण किया, विशेषतः स्त्रियोंने। उसका नाम 'आवन्ती प्रवृत्ति' है। यह 'आवन्ती प्रवृत्ति' पाञ्चाल और दक्षिणके प्रवृत्तियोंके मध्यकी प्रवृत्ति है। अतः अवन्ति देशकी दो वृत्तियाँ है—सात्वती और कैशिकी[४]। इस वृत्तिकी मुनियोंने इस प्रकार प्रशंसा की—

"पाञ्चालनेपथ्यविधिर्नराणां
स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः।
यज्जल्पितं यच्चरितादिकं त-
दन्योन्यसंभिन्नमवन्तिदेशे॥"

---

४. कथानक का तात्पर्य यह है कि भारतके पूर्वभागमें काव्य-रचनामें औड्र-मागधी प्रवृत्ति, भारती-वृत्ति और गौडीया रीतिका प्रयोग होता है। पाञ्चाल देशमें पाञ्चाली-मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी प्रवृत्ति तथा पाञ्चाली रीतिसे काव्य-रचना होती है। अवन्ती देशमें आवन्ती प्रवृत्ति, सात्वती और कैशिकी वृत्ति प्रचलित है तथा दक्षिण देशमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीतिके अनुसार रचना होती है। यद्यपि देश अनेक हैं; किन्तु काव्य-रचनाकी दृष्टिसे उसके इतने ही विभाग हैं। इनका विशेष विस्तृत विवरण भरतके नाट्यशास्त्र (१३ अध्याय) तथा भामह एवं दण्डी आदिके अलङ्कार ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। पूर्वदिशामें साहित्यवधू काव्यपुरुषका आकर्षण नहीं कर सकी और उसके अनन्तर क्रमशः काव्यपुरुषका आकर्षण बढ़ने लगा। इसका तात्पर्य भी यही है कि काव्य-रचना शैलीमें क्रमशः सुधार और सरलता होने लगी। अन्तमें वैदर्भी रीतिकी रचना सर्वोत्कृष्ट रही। इससे काव्य-पुरुषमें प्रसन्नता या प्रसाद-गुण अधिक मात्रामें उत्पन्न हुआ।

ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपाल-मञ्जरमहाराष्ट्रगङ्गकलिङ्गादयो जनपदाः। तत्राऽभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण। सा दाक्षिणात्या प्रवृत्तिः। तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः।

पाञ्चाल देशके पुरुषों और दक्षिण देशकी स्त्रियोंका वेश, भाषण एवं व्यवहार आदि प्रशंसनीय होता है और इन दोनों देशोंका सम्मिश्रण अवन्ति देशमें है।

इसके अनन्तर काव्य-पुरुष दक्षिण दिशाकी ओर चला, जहाँ मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मंजर, महाराष्ट्र, गंग और कलिंग आदि जनपद हैं। वहाँके रहनेवालोंने साहित्य-वधूके वेशका इच्छानुसार अनुसरण किया, स्त्रियोंने विशेषरूपसे। यह 'दाक्षिणात्या प्रवृत्ति' है। स्नातक-मुनियोंने इसकी इस प्रकार स्तुति की—

"आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड-
श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष
वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्॥"

मूलसे लेकर गुँथे हुए केशोंका सुन्दर बन्धन, घुँघराली लटोंसे ललित ललाट और भुजाओंके नीचेसे कसकर बाँधी हुई साड़ियाँ—यह केरल-कामिनियोंका कमनीय वेश असाधारण शोभावाला मालूम होता है।

तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। सापि यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यविलासादिकमाविर्भावयामास सा कैशिकीवृत्तिस्तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। यदत्यर्थं च स तया वशम्वदीकृतः स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भञ्च जगाद सा वैदर्भी रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण। तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।

यहाँ आने तक सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुषका मन साहित्य-विद्या-वधूकी ओर अनुरक्त हो चुका था। अतः यहाँ उसने अनुरागवश जिस वेशको धारण किया था, उस वेशका वहाँके पुरुषोंने अनुकरण किया। साहित्य-वधूने भी इस देशमें जो विचित्र नाच, गान, वाद्य आदि विलास-क्रियाएँ कीं; उसका नाम 'कैशिकी वृत्ति' है। स्नातक-मुनियोंने इसकी भी प्रशंसा की।

इस प्रकार इतने दिनोंतक निरन्तर साथ रहनेके कारण काव्य-पुरुष साहित्य विद्या-वधूकी ओर पूर्णरूपेण आकृष्ट होकर सर्वथा वशमें हो गया। अतः उसने प्रसन्न चित्तसे स्थान एवं अनुप्रास-युक्त, समास-रहित और योगवृत्ति-पूर्ण जो भाषण किया, उसका नाम 'वैदर्भी रीति' है। इसकी भी मुनियोंने प्रशंसा की। उन-उन

देशोंके वेश-विन्यास-क्रमका नाम प्रवृत्ति, नाच-गान आदि विलास-विन्यासका नाम वृत्ति और वचन-विन्यासका नाम रीति है।

"चतुष्टयी गतिर्वृत्तीनां प्रवृत्तीनां च, देशानां पुनरानन्त्यं तत्कथमिव कात्स्न्र्येन परिग्रहः" इत्याचार्याः। अनन्तानपि हि देशांश्चतुर्धैवाकल्प्य कल्पयन्ति। "चक्रवर्तिक्षेत्रं सामान्येन तदवान्तरविशेषैः पुनरनन्ता एव" इति यायावरीयः।

आचार्योंका प्रश्न है कि वृत्ति और प्रवृत्ति तो चार प्रकारकी ही कही गयी हैं; किन्तु देश अनन्त हैं। इस स्थितिमें चार वृत्तियों और प्रवृत्तियोंमें सभी देशोंका अन्तर्भाव कैसे हो सकेगा? यायावरीय राजशेखरका कथन है कि उन अनन्त देशोंको चार भागोंमें विभक्त करके कविगण कार्य-निर्वाह करते हैं। यह सारा देश सामान्य-रूपसे चक्रवर्ती क्षेत्र कहा जाता है और उसके अन्दर छोटे-छोटे देश अनन्त हैं।

दक्षिणात्समुद्रादुदीचीं दिशं प्रति योजनसहस्रं चक्रवर्तिक्षेत्रं, तत्रैष नेपथ्यविधिः। ततः परं दिव्याद्या अपि यं देशमधिवसेयुस्तद्देश्यं वेषमाश्रयन्तो निबन्धनीयाः। स्वभूमौ तु कामचारः। द्वीपान्तरभवानां तदनुसारेण वृत्तिप्रवृत्ती।

दक्षिण समुद्रसे लेकर उत्तर दिशा पर्यन्त एक सहस्र योजन (८००० मील) का चक्रवर्ती क्षेत्र है। इस चक्रवर्ती क्षेत्रकी वेश-भूषाओंका वर्णन किया गया है। इसके आगेके दिव्य आदि देशोंका वर्णन करनेकी आवश्यकता हो तो कवियों-को उन देशोंकी वेश-भूषाका वर्णन करना चाहिये। अपने देशमें अपनी इच्छा-नुसार वर्णन करना चाहिए और द्वीपान्तरीय-वर्णन उन-उन द्वीपोंके वेश-विन्यास आचार-व्यवहार आदिको जानकर उसके अनुसार करना चाहिये।

रीतयस्तु तिस्रस्तास्तु पुरस्तात्।

रीतियाँ तीन प्रकार की हैं। इन्हें आगे चलकर कहा जायगा।

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत्परिणिनाय। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्त्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम, यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्थतुः। तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्त्वाशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः।

विदर्भ देशमें भगवान् कामदेवकी क्रीडा-भूमि वत्स-गुल्म नामका नगर है। उस नगरमें काव्य पुरुषने साहित्य-वधूका पाणिग्रहण गान्धर्व विधिसे किया, अर्थात् गान्धर्व विवाह किया। वहाँसे लौटकर वह वर-वधूकी जोड़ी, विभिन्न देशोंमें विहार करती हुई फिर उसी हिमालयकी ओर आयी, जहाँ गौरी और सरस्वती दोनों समधिनें

एक साथ बैठी हुई थीं। उस नव-दम्पतीने दोनोंको चरण-वन्दना की और दोनोंने दम्पतीको आशीर्वाद देकर प्रभावमय शरीरसे कवियोंके हृदयमें उनका निवास-स्थान निश्चित कर दिया।

तयोश्च कविलोकस्वर्गसर्गं तमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते।

इस प्रकार उन दोनोंके लिए कविलोक रूपी नवीन स्वर्गकी सृष्टि की गयी, जिसमें कविजन काव्यमय शरीरसे मर्त्य-लोकमें और दिव्य-शरीरसे स्वर्गलोकमें प्रलय-पर्यन्त निवास करते हैं।

इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा।
एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति॥

इस प्रकार स्वयम्भू ब्रह्मदेवने काव्य-पुरुषकी सृष्टि की। इस कथाको विवेक पूर्वक जाननेवाला कवि इहलोक और परलोक दोनोंमें आनन्दमय रहता है।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः काव्यपुरुषोत्पत्तिः ॥५॥

तृतीय अध्याय समाप्त[5]



५. इस अध्यायमें ग्रन्थकारने उशना कवि और प्रचेतस् वाल्मीकि आदिकी काव्योत्पत्ति कथाओंका एक काल्पनिक कथानकमें समावेश करके काव्य और इसकी सहायक साहित्य-विद्याका सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए विभिन्न देशकी कविता-शैलियोंका संक्षिप्त वर्णन किया है। इस अध्यायके सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन भूमिकामें किया गया है। वहीं देखिये।

चतुर्थोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः

द्विविधं शिष्यमाचक्षते यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च। यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्। यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः।

चतुर्थ अध्याय : पद-वाक्य-विवेक[1]

शिष्य और प्रतिभा[2]

पिछले अध्यायमें एक कल्पित कथानक द्वारा काव्यकी उत्पत्ति, एवं स्वरूप आदिका विवेचन किया गया है। अब इस अध्यायमें काव्य-विद्याके अधिकारी और काव्यकी जननी प्रतिभाका विशद विवेचन किया जायगा।

शिष्य दो प्रकार के होते हैं—बुद्धिमान् और आहार्य-बुद्धि। जिसकी बुद्धि शास्त्रों और सूक्ष्म-तत्त्वोंके ज्ञानमें स्वभावतः झुकती है और उन्हें ग्रहण करती है, वह बुद्धिमान् शिष्य कहा जाता है, तथा जिसकी बुद्धि शास्त्र एवं गुरूपदेश द्वारा संस्कृत-परिष्कृत होने पर तत्त्वज्ञानके योग्य बनती है; उसे आहार्य-बुद्धि शिष्य कहते हैं।

त्रिधा च सा, स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति। अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्त्तमानस्य मन्त्री मतिः। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री।

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। पिछले अनुभूत विषयोंका स्मरण रखनेवाली बुद्धि स्मृति कहलाती है। वर्तमान विषयोंका मनन करनेवाली बुद्धिका नाम मति और भविष्य-दर्शिनी या दीर्घ-दर्शिनी बुद्धिका नाम प्रज्ञा है। तीनों प्रकारकी बुद्धि कविके लिए उपकारक और आवश्यक है।

तयोर्बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणाः किन्तु प्रशास्तार-

---

१. इस अध्यायसे काव्यमीमांसाके प्रथम अधिकरण 'कविरहस्य' का प्रारम्भ होता है। पिछले तीन अध्याय सम्पूर्ण काव्यमीमांसाकी भूमिकारूप थे; जिनमें काव्यकी उत्पत्ति, विषय, प्रयोजन और फल बताये गये। इसका विस्तृत विवेचन भूमिकामें किया गया है।

२. ग्रन्थकारने इस अध्यायका नाम 'पद-वाक्य-विवेक' रखा है। यह शीर्षक विषयके अनुसार रखा गया है। इस विषयका सम्बन्ध ४, ५ और ६ तीन अध्यायोंसे है। उसीके अन्तर्गत इस चतुर्थ अध्यायमें काव्यविद्याके अधिकारी शिष्य और काव्यकी आधारभूत प्रतिभाका विवेचन किया गया है।

मपेक्षन्ते । अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः । सा हि बुद्धिविकाश-कामधेनुः । तदाहुः—

उक्त दो प्रकारके शिष्योंमें बुद्धिमान् शिष्य, सुननेकी इच्छा करता है, सुनता है, समझता है, हृदयमें धारण करता है, मनन करता है, उस पर नवीन शंकाएँ करता है, उनका समाधान करता है और अन्तमें उसके तत्त्वका ज्ञान करता है। आहार्य-बुद्धि शिष्यमें भी ये गुण होते हैं, परन्तु उसे पथ-प्रदर्शक या शिक्षककी सहायता अपेक्षित होती है। सर्वथा योग्य गुरुकी उपासना दोनों प्रकारके शिष्योंका सर्वोत्तम गुण है। क्योंकि गुरु-सेवा बुद्धि-विकासके लिए काम-धेनुके समान है। जैसा कि प्राचीन लोगोंने कहा है—

"प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः ।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते ॥"

विद्यावृद्ध या विद्वान् गुरुजनोंका सहवास क्रमशः अमृतके समान काम करता है। उनके सहवाससे बुद्धि-विकासका क्रम इस प्रकार है—सबसे प्रथम प्रज्ञा-बुद्धिको यथार्थ वस्तु-ज्ञानके लिए प्रकाश प्राप्त होता है, उसके अनन्तर मन, विविध शंका-समाधानोंकी कल्पना करनेमें समर्थ होता है और अन्तमें वह मन, एक निश्चित सिद्धान्त या तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेता है।

ताभ्यामन्यथाबुद्धिर्दुर्बुद्धिः । तत्र बुद्धिमतः प्रतिपत्तिः । स खलु सकृदभिधानप्रतिपन्नार्थः कविमार्गं मृगयितुं गुरुकुलमुपासीत । आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्तिः सन्देहश्च। स खल्वप्रतिपन्नमर्थं प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्त्तुमाचार्यानुपतिष्ठेत ।

इन दोनोंके अतिरिक्त तृतीय श्रेणीके शिष्यको दुर्बुद्धि समझना चाहिए। इन दोनों प्रकारके शिष्योंमें बुद्धिमान् शिष्य स्वभावतः ज्ञानवान् होता है। एक बार संकेतमात्र कर देनेसे ही तत्त्व समझ लेनेवाले ऐसे शिष्यको कविता प्राप्तिके लिए गुरुकुलमें प्रवेश करना चाहिये। आहार्य-बुद्धि शिष्यको एक बार संकेत करनेसे ज्ञान भी नहीं होता और ज्ञान होने पर भी सन्देह बना रहता है। अतः उसे इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिए शिक्षकके समीप रहकर काव्य-निर्माण-शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव । स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽनाधेयगुणान्तरत्वात्तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति तमौपनिषदिके वक्ष्यामः ।

तृतीय श्रेणीका दुर्बुद्धि-शिष्य विशेष शिक्षा द्वारा भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी बुद्धि नीले रंगसे रंगे हुए वस्त्रके समान है, जिसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। हाँ, सरस्वतीकी विशेष कृपा या वर-प्रदानसे वह भी कवि बन सकता है। इसे 'औपनिषदिक' प्रकरणमें विस्तारके साथ कहा जायगा।[3]

"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते" इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्पश्यति। उक्तञ्च—

श्यामदेवका मत है कि कविको कविता करनेमें समाधिकी परम आवश्यकता है। समाधिका अर्थ मनकी एकाग्रता है। एकाग्र-चित्त व्यक्ति विविध सूक्ष्म विषयोंका चिन्तन कर सकता है। कहा है—

"सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यं।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥"

सरस्वतीका रहस्य (काव्य-निर्माण) महान् गम्भीर और अवर्णनीय है। वह अत्यन्त निपुण विद्वानोंके ज्ञानका विषय है, उसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है—ज्ञानपूर्ण मनकी समाधि अर्थात् एकाग्रता।

"अभ्यासः" इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। "सा केवलं काव्ये हेतुः" इति यायावरीयः।

मंगल नामक विद्वान्का मत है कि 'काव्य-निर्माणके लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है।' निरन्तर अनुशीलनका नाम अभ्यास है। अभ्यास सभी विषयोंके लिए आवश्यक है और उसके द्वारा उत्कृष्टतम कुशलता प्राप्त होती है। वास्तवमें समाधि या एकाग्रता आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। समाधि और अभ्यास ये दोनों कवित्त्व-शक्तिको उत्पन्न करते हैं। 'वह शक्ति ही काव्य-निर्माणमें प्रधान कारण होती है'—यह मत राजशेखरका है।

विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थ-

---

३. कौटिलीय अर्थशास्त्रमें येही तीन प्रकारके पुत्र कहे गये हैं। देखिये—कौटिल्य अर्थशास्त्र, १–१७।

मलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव । यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते ।

शक्ति,[४] प्रतिभा और व्युत्पत्तिसे भिन्न [पृथक्] वस्तु है। वास्तवमें शक्ति कर्तृरूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म-रूप । शक्तिवालेमें प्रतिभा उत्पन्न होती है और शक्ति सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। प्रतिभा, शब्दोंके समूहको, अर्थोंके समुदायको, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियोंको तथा अन्यान्य काव्य-सामग्रीको हृदयके भीतर प्रतिभासित करती है। जिसे प्रतिभा नहीं है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से मालूम होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिकेलिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्षसे प्रतीत होते हैं। जैसे, [५]मेधाविरुद्र एवं कुमारदास आदि महाकवि जन्मसे अन्धे थे, परन्तु उनके वर्णन, प्रतिभा-प्रकर्षके कारण प्रत्यक्ष किए हुए प्रतीत होते हैं।

किञ्च महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्ति स्म । तत्र देशान्तरव्यवहारः—

प्रतिभा-संपन्न कवि प्रतिभा-प्रकर्षके कारण अप्रत्यक्ष वस्तुओंका प्रत्यक्षके समान वर्णन करते हैं। अप्रत्यक्ष देशान्तर, द्वीपान्तर एवं कथा-पुरुषोंके प्रत्यक्षके समान सजीव वर्णनोंके कुछ उदाहरण कविकुलगुरु कालिदासकी रचनाओंसे उद्धृत किये गये हैं—

देशान्तर-व्यवहारका उदाहरण—[अभिज्ञान शाकुन्तलमें स्वर्ग में रहनेवाले तपस्वी मुनियोंका वर्णन]

"प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥"

ये स्वर्गस्थ तपस्वी, समस्त कामनाओंको तुरन्त पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षोंके वनमें रहकर भी केवल प्राण वायुके आधारपर जीवन निर्वाह कर रहे हैं। खिले हुए स्वर्णकमलोंके परागसे रंजित एवं सुगन्धित सरोवरोंके जलसे स्नान, आचमन, तर्पण आदि धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न कर रहे हैं। मणियों एवं रत्नोंकी शिलाओंसे निर्मित कन्दराओंमें ध्यान लगा रहे हैं। और रम्भा एवं उर्वशी जैसी देवांगनाओंके निरन्तर सम्पर्कमें रहकर भी कठोर संयमको धारण कर रहे हैं। आश्चर्य है कि

---

४. रुद्रटने अपने 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थमें शक्तिका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥१-१५॥

५. मेधाविरुद्र और कुमारदासके सम्बन्धमें विस्तृत विवरण परिशिष्टमें देखिये ।

जिन स्वर्गीय पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए अन्यान्य तपस्वीगण घोर तपःसाधना करते हैं; ये तपस्वी उन स्वर्गीय पदार्थोंके वातावरणमें रहकर भी उनकी अवहेलना करते हुए तपश्चरण कर रहे हैं[६]।

यहाँ कविने अप्रत्यक्ष स्वर्गके तपस्वियोंका ऐसा सजीव वर्णन किया है, जो प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है।

द्वीपान्तरव्यवहारः—

द्वीपान्तर व्यवहारका उदाहरण—

"अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै-
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥"

इन्दुमतीको राजाओंका परिचय कराती हुई सुनन्दा दक्षिण देशके राजाके समीप लाकर कहती है—हे इन्दुमती, तू इस दक्षिण देशके राजाके साथ पाणिग्रहण करके समुद्रके सुरम्य तटों पर, जो ताल-वृक्षोंके वनोंकी मर्मर ध्वनिसे सदा संगीतमय रहते हैं, विचरण कर। उन तटों पर मलय आदि दूसरे द्वीपोंसे लवंग-पुष्पोंको उड़ाकर लानेवाली सुगन्धित वायु तुम्हारे सुरतश्रम-जनित स्वेद-विन्दुओंका अपहरण करेगी[७]।

कथापुरुषव्यवहारः—

कथापुरुष-व्यवहारका उदाहरण—

"हरोऽपि तावत्परिवृत्तधैर्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे विम्बफलाधरौष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि॥"

शिवजीके तपोवनमें जब कामदेवने अपना जाल पूर्णरूपेण बिछा दिया और उनके आश्रमवासी पशु, पक्षी, लता, वृक्ष आदि सभी अधीर हो उठे, तब परम तपस्वी शंकर भगवान्का आसन भी हिल गया और वे चन्द्रोदय-कालीन समुद्रके समान अधीर होकर उद्वेलित (क्षुब्ध) होगए एवं पार्वतीके विम्ब-फलके समान अरुण ओष्ठवाले मुखपर उन्होंने भावपूर्ण दृष्टिपात किया[८]।

---

६. देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल, ७–१२।

७. देखिये—रघुवंश महाकाव्य, ६–५७।

८. देखिये—कुमारसम्भव, ३–६७।

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवर-प्रसंगका है:—

"तथागतायां परिहासपूर्वं
सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
बाले व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां
वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥"

जब इन्दुमती किसी राजाके प्रति आकृष्ट होकर कुछ रुक गयी, तब सुनन्दाने मुस्कराते हुए कहा :—'आर्ये, चलो, दूसरी ओर चलें'। दासीके इस कूट परिहासपर इन्दुमतीने ईर्ष्यापूर्ण तिरछी चितवनसे उसकी ओर देखा।[१]

उक्त उदाहरण कथाओंमें वर्णित व्यक्तियोंके हैं। परन्तु कविने अपनी अलौकिक प्रतिभासे उनके भावोंका प्रत्यक्ष देखा-सा वर्णन किया है।

प्रतिभा-वर्णनके उपरान्त अब उसके भेद बताये जाते हैं :—

सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च । कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री । साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च । जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा । जन्मसंस्कारयोनिराहार्या । मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी । ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति । महता पुनराहार्या । औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः ।

प्रतिभा दो प्रकारकी होती है—१. कारयित्री और २. भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कविकी उपकारक होती है। वह तीन प्रकारकी है :—१. सहजा, २. आहार्या और ३. औपदेशिकी। पूर्व जन्मके संस्कारोंसे प्राप्त जन्म-जात प्रतिभा सहजा, जन्म और शास्त्रों एवं काव्योंके अभ्याससे उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा मन्त्र, तन्त्र, देवता गुरु आदिके वरदान या उपदेशसे प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कही जाती है। सहजा—कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होनेके कारण इस जन्मके अल्प संस्कारसे ही उद्‌बुद्ध हो जाती है। आहार्या कारयित्री प्रतिभाके लिए अधिक संस्कार या अभ्यास की आवश्यकता होती है। औपदेशिकी प्रतिभा इसी जन्मके उपदेश, वरदान आदिसे प्राप्त होती है। इसका उपदेश और संस्कार इस जन्ममें ही होता है, जन्मान्तरसे कोई सम्बन्ध नहीं।

त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः, औपदेशिकश्च ।

इस प्रकार ऊपर कही हुई तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभासे सम्पन्न कवि भी क्रमशः तीन प्रकारके होते हैं, जैसे—१. सारस्वत, २. आभ्यासिक और ३. औपदेशिक।

जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः । इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः । उपदेशितदर्शितवाग्विभवो

१. देखिये—रघुवंश, ५-८२।

दुर्बुद्धिरौपदेशिकः। तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्। "नहि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते" इत्याचार्याः। "न" इति यायावरीयः। एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते। "तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्" इति श्यामदेवः। यतः—

जिसकी सरस्वती जन्मान्तरीय संस्कारोंसे प्रवृत्त होती है; उस स्वाभाविक बुद्धिमान् कविका नाम सारस्वत है। इस जन्मके अभ्याससे जिसकी सरस्वती उन्मिषित होती है; उस शास्त्राभ्यास-जन्य बुद्धिवाले कविको आभ्यासिक कहा जाता है। मन्द-बुद्धि होनेपर भी मन्त्रोपदेश अनुष्ठान आदिसे वाणीका वैभव प्रदर्शित करनेवाला कवि औपदेशिक कहा जाता है।

'सारस्वत और आभ्यासिक इन दोनों कवियोंको तन्त्र, मन्त्र आदिके अनुष्ठानकी आवश्यकता उसी प्रकार नहीं होती; जिस प्रकार स्वभावसे ही मधुर द्राक्षाको मीठी चासनीमें पकानेकी आवश्यकता नहीं रहती'—ऐसा आचार्योंका मत है। यायावरीय राजशेखरका मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि 'द्राक्षाको चासनीसे संस्कृत करना हानिकारक नहीं; एक कार्यके लिए यदि दो उपाय किये जाँय तो उसका फल भी दूना होता है'। श्यामदेवके मतमें 'तीसरेसे दूसरा और उससे भी पहला कवि श्रेष्ठ है'। क्योंकि :—

"सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मितः।
औपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति॥"

सारस्वत कवि, स्वतन्त्रताके साथ निरर्गल रचना करता है; आभ्यासिक कवि, एक सीमित रूपसे काव्य-निर्माण करता है और औपदेशिक कवि, सुन्दर किन्तु सारहीन रचना करता है।

"उत्कर्षः श्रेयान्" इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। किञ्च—

यायावरीय-राजशेखरका कथन है कि 'जितना भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त किया जाय, अच्छा है, उत्कर्षकी प्राप्ति अनेक गुणोंके एकत्र होनेसे ही होती है'। कहा भी है—

"बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥

बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसकी अंगभूत विद्याओंमें अभ्यास और साथ ही दैवी शक्ति—ये तीनों एक साथ दुर्लभ होते हैं।

काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥"

काव्य और काव्यांग-विद्याओंमें निष्णात, बुद्धिमान् और मन्त्र, अनुष्ठान आदिमें श्रद्धा रखनेवाले कविके लिए कविराजता दूर नहीं है। अर्थात् वह कविराज कहा जा सकता है या इस उपाधिसे अलंकृत हो सकता है।

कवीनां तारतम्यतश्चैष प्रायो वादः।

कवियोंमें कुछ तारतम्य अवश्य होता है। जैसा कि कहा गया है—

"एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्व-
त्कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥"

कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना अपने घरकी चहारदीवारीके भीतर ही विचरण करती रह जाती है, कुछ कवियोंकी रचनाएँ उनके मित्रोंके भवनों तक पहुँच जाती हैं और कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनकी रचना सभीके मुखपर पदन्यास करती हुई विश्व-भ्रमणकी इच्छा पूर्ण करती है अर्थात् उनकी रचनाके पद पठित तथा अपठित सभीके मुखपर स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

सेयं कारयित्री।

इस प्रकार कविसे सम्बन्ध रखनेवाली कारयित्री प्रतिभाका विवेचन किया गया। अब समालोचकसे सम्बद्ध भावयित्री प्रतिभाका विवेचन किया जाता है।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात्। "कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः" इत्याचार्याः। तदाहुः—

भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोचकका उपकार करती है, अतः उसका नाम भावयित्री है। यह प्रतिभा कविकी कविता-लताको सफल बनाती है। इसके विना कविता निष्फल रह जाती है। प्राचीन आचार्य कहते हैं कि 'कवि और भावक (आलोचक) में भेद नहीं है। क्योंकि दोनों ही कवि हैं'। कहा भी है—

"प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्॥"

प्रतिभाके तारतम्यसे संसारमें विविध प्रकारकी प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि प्रायः अधमदशाको प्राप्त नहीं होते।

"न" इति कालिदासः। पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वं। स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च। यदाहुः—

कालिदासका मत इससे भिन्न है। उनके मतमें कवित्वसे भावकत्व पृथक् है अर्थात् कवि और सहृदय या आलोचक एक दूसरेसे भिन्न हैं।[10] इनमें एकका विषय शब्द-रचना है और दूसरेका विषय रसास्वादन। जैसाकि कहा गया है—

"कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवाऽपरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥"

कोई तो वाणीकी रचना (कविता) करनेमें निपुण है और कोई उसके सुननेमें ही प्रवीण है। तुम्हारी दोनों प्रकारकी बुद्धि आश्चर्य-जनक है। एकमें अनेक गुणोंका समन्वय कठिन है। एक पत्थर (शालग्रामकी शिला आदि) सुवर्ण उत्पन्न करता है, और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है।

"ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च" इति मङ्गलः। "कवयोऽपि भवन्ति" इति वामनीयाः। "चतुर्द्धा" इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च। "तत्र विवेकिनः पूर्वे तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः" इति वामनीयाः।

जैन महाकवि [11]मंगलके मतमें भावक या आलोचक दो प्रकारके होते हैं :— १. अरोचकी और २. सतृणाभ्यवहारी। वामनके मतमें कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी दो प्रकारके होते हैं। यायावरीयके मतमें ये भावक चार प्रकारके होते हैं :—१. अरोचकी, २. सतृणाभ्यवहारी, ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिनिवेशी। वामनके मतानुयायियोंका कहना है कि इनमें अरोचकी और विवेकी, ये दो विवेकी हैं और सतृणाभ्यवहारी तथा अविवेकी, ये दो अविवेकी हैं।

"अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकीं हि संस्कारशतेनाऽपि रङ्गमिव कालिकां ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव" इति यायावरीयः।

अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसीकी अच्छी-से-अच्छी रचना भी नहीं जँचती। सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो भली बुरी सभी प्रकारकी

---

१०. इस सम्बन्धमें कालिदासका कोई स्वतन्त्र प्रबन्ध तो नहीं है, किन्तु उनके इस मतकी कल्पना उनके कतिपय श्लोकोंके आधारपर की गयी है, ऐसा प्रतीत होता है। देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल, १—२; रघुवंश, १—१३।

११. 'मङ्गल' नामक विद्वान् कविके दो श्लोक 'सदुक्ति कर्णामृत'में प्राप्त होते हैं और इसके किसी निबन्धका पता नहीं चलता।

रचनाओं पर 'वाह वाह' कर उठते हैं। मत्सरी वे होते हैं, जो ईर्ष्यावश किसी रचनाको पसन्द नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोष-दर्शन करानेकी चेष्टा करते रहते हैं तथा तत्त्वाभिनिवेशी वे हैं; जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक होते हैं।

"अरोचकी आलोचकोंकी अरोचकता दो प्रकारकी होती है—एक स्वाभाविकी और दूसरी ज्ञानयोनि। स्वाभाविकी अरोचकता सैकड़ों संस्कारोंसे भी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार कि राँगेके कितनी ही बार औषधियों द्वारा संस्कार किये जानेपर भी उसकी कालिमा नहीं मिटती। यदि अरोचकता ज्ञानजन्य अर्थात् समझ-बूझ कर है तो किसी अलौकिक एवं विशिष्ट काव्य-रचनापर रोचकता उत्पन्न हो जाती है।"—यह मत यायावरीय-राजशेखरका है।

किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारिणी। तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।

सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है। ऐसे आलोचक या भावक नये होते हैं और कुतूहल वश सर्वत्र—सभी रचनाओंपर—कुछ कह बैठते हैं। विवेक-रहित प्रतिभा, गुणों और दोषोंका विभाजन नहीं कर सकती। ऐसे आलोचक रचनामें से बहुत कुछ ले लेते हैं और बहुत-कुछ छोड़ देते हैं। बुद्धि अपने विवेकके अनुसार ही मधु-संग्रह करती है। परिणाममें वास्तविकताको देखना चाहिए। अविवेकका भ्रंश (नष्ट) होना ही कल्याणकारी होता है।

मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्। स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः। तदुक्तम्—

मत्सरी आलोचक, देखते हुए भी आँखें मूँद लेते हैं; क्योंकि वे दूसरोंके गुणोंका वर्णन करनेमें मौन रहना चाहते हैं। मात्सर्य[12]-रहित और गुणज्ञ आलोचक विरले ही होते हैं। जैसा कि प्राचीन सूक्तिमें प्रश्नोत्तर रूपसे कहा गया है—

कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयतां।
यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्म्मत्सरः॥

---

१२. हर्षचरितके छठे उल्लासमें बाणभट्टने भी लिखा है—'चञ्चलता-रहित वानर; मत्सरता-रहित कवि; तस्करता-रहित बनिया और अविनीतता-रहित राजपुत्र दुर्लभ होते हैं।

प्रश्न—भाई, तुम कौन हो ?

उत्तर—मैं कवि हूँ।

प्रश्न—तो मित्र ! कोई सूक्ति सुनाओ।

उत्तर—भाई ! मैंने तो कविताकी बात ही छोड़ दी।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—सुनो, जो सत्कवि कविताके गुण और दोषके तत्त्वोंको स्वयं समझ सकता है, वह उसका आलोचक नहीं है। यदि है भी ; तो वह मात्सर्य-रहित नहीं है।

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्येकस्तदुक्तम्—

तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक हजारोंमें एक होता है जैसा कि कहा गया है—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः ॥

सच्चे समालोचकके अभावसे हृदयमें अत्यन्त दुःखित होते हुए किसी कविको बड़े ही पुण्य-प्रभावसे काव्य-रचनाके परिश्रमको जाननेवाला विद्वान् आलोचक व्यक्ति प्राप्त होता है ; जो शब्दोंकी रचना-विधिका भलीभाँति विवेचन करता है, सूक्तियों—अनोखी सूझोंसे आह्लादित होता है, काव्यके सघन रसामृतका पान करता है और रचनाके गूढ़ तात्पर्यको ढूँढ़ निकालता है।

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ॥

उस कविके काव्यपर आश्चर्य है कि जिसके आलोचक उस कविके स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य और गुरु न हों।

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश ॥

कविके हृदयमें ही रहनेवाले उस काव्यसे क्या लाभ, जिसकी रचनाओंको आलोचकगण चारों ओर न फैलावें।

सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनःशिलापट्टनिकुट्टिताः ॥

पुस्तकोंके पन्नोंपर लिखे हुए अनेक काव्य-प्रबन्ध तो घर-घरमें रखे हुए हैं; लेकिन आलोचकोंकी हृदय शिलाओंपर खुदे हुए काव्य-प्रबन्ध इने-गिने दो-तीन ही हैं।

सत्काव्ये विक्रियाः काश्चिद्भावकस्योल्लसन्ति ताः ।
सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न याः ॥

उत्तम काव्य-रचनाओंको पढ़ते हुए आलोचकके हृदयमें जो अप्रकट गूढ़ एवं विचित्र विकार उत्पन्न होते हैं; उन्हें नाट्य शास्त्रके निर्माता ब्रह्माने भी नहीं देखा।

वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्धृदयभावकः ।
सात्त्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः ॥

कुछ आलोचक वाणी द्वारा अपने भाव प्रकट करते हैं, कुछ हृदय द्वारा एवं कुछ मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें व्यक्त करते हैं।

गुणादानपरः कश्चिद्दोषादानपरोऽपरः ।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः ॥

कुछ आलोचक केवल रचनाओंके गुणोंको ग्रहण करते हैं, कुछ उनमें दोषोंकी छान-बीन करते हैं एवं गुण और दोष—दोनोंको छोड़कर रसास्वादन मात्र करने वाले आलोचक विरले ही होते हैं।

अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः ।
तेन विद्मः प्रसादोऽत्र नृणां हेतुरमानुषः ॥

समालोचक अनेक प्रकारके होते हैं। एक ही काव्यमें उनके विविध प्रकारके भाव-क्रम देखे जाते हैं। कुछ समालोचक केवल दोषोंकी ओर ही दृष्टिपात करते हैं तो कुछ गुणोंके पक्षपाती होते हैं। किसी समालोचककी रुचि रसकी ओर अधिक होती है तो कुछ अलंकारोंपर ही विशेष दृष्टि रखते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि मानव-रुचिकी भिन्नता ही इसका अलौकिक कारण है।

न निसर्गकविः शास्त्रे न क्षुण्णः कवते च यः ।
विडम्बयति सात्मानमाग्रहग्रहिलः किल ॥

जो कवि न तो स्वाभाविक काव्य-रचना-शक्ति-सम्पन्न है और न शास्त्राभ्यास द्वारा ही परिपक्व-बुद्धि है, वह यदि हठवश कविता करनेकी चेष्टा करता है तो अपनी विडम्बना ही कराता है।

कवित्वं न स्थितं यस्य काव्ये च कृतकौतुकः ।
तस्य सिद्धिः सरस्वत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रयोगतः ॥

जिसमें स्वाभाविक कवित्व शक्ति न हो और काव्य-रचनामें अति कौतूहल हो ; उसे सरस्वती-मन्त्र आदिके अनुष्ठान द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

पदान्तरं वेत्ति सुधीः स्ववाक्यपरवाक्ययोः ।
तदा स सिद्धो मन्तव्यः कुकविः कविरेव वा ॥

जो विवेकी अपने और दूसरेके वाक्योंमें पदोंके अन्तरको समझता है, वह कवि हो या कुकवि, उसे सिद्ध समझना चाहिये ।

कारयित्रीभावयित्र्यावितीमे प्रतिभाभिदे ।
अथातः कथयिष्यामो व्युत्पत्तिं काव्यमातरम् ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे चतुर्थोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः काव्यविशेषेषु कारयित्री भावयित्री नाम समीक्षा ॥

इस प्रकार कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकारकी प्रतिभाओंका अर्थात् कवि और सहृदय या आलोचकका भेद बताया गया है। अब अगले अध्यायमें काव्योंकी जननी व्युत्पत्तिका वर्णन करेंगे ।

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥



---

१३. प्राचीन आलङ्कारिक विद्वानोंने प्रतिभाके दो भेद माने हैं—सहजा और उत्पाद्या । राजशेखरके दोनों भेदों—आहार्या और औपदेशिकी—का अन्तर्भाव उत्पाद्यामें हो जाता है ।

पञ्चमोऽध्यायः व्युत्पत्तिः काव्यपाकश्च

व्युत्पत्ति और काव्यपाक

इस अध्यायमें सर्वप्रथम पूर्व प्रतिज्ञानुसार व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विवेचन किया जाता है। तदनन्तर कवियों और काव्य-पाकोंका विवेचन किया जायगा।

"बहुज्ञता व्युत्पत्तिः" इत्याचार्याः। सर्वतोदिका हि कविवाचः।

तदुक्तम्—

'व्युत्पत्तिका अर्थ बहुज्ञता है'—ऐसा प्राचीन आचार्योंका मत है। अर्थात् शास्त्र, लोक-व्यवहार एवं प्रकृति-परिचय आदिका अधिकसे अधिक ज्ञान ही व्युत्पत्ति है। कारण यह कि कविकी वाणी चारों ओर प्रवाहित होती है। उसके लिए सब कुछ वर्णनीय है। अतः उसे विविध ज्ञानकी आवश्यकता है। किसीने कहा भी है कि:—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिकाः॥

अनभ्यस्त विषयका वर्णन करनेमें भी किसीकी वाणी किसी प्रकार भी प्रगति नहीं कर सकती। कवित्व वही है कि ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषयोंमें वाणीका निर्बाध-रूपसे प्रसार हो।

तात्पर्य यह है कि बहुज्ञता होनेपर ही बहुविषय-वर्णन-समर्थता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि काव्यमें विविध विषयोंका वर्णन करना पड़ता है; जो बहुज्ञताके विना सम्भव नहीं। अतः अधिकसे-अधिक बहुज्ञताका नाम ही व्युत्पत्ति है।

"उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः। "प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तदाह—

यायावरीय-राजशेखरका मत है कि 'उचित और अनुचितकी विवेचना करना ही व्युत्पत्ति है।' आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति—इन दोनोंमें प्रतिभा उत्तम है।' कारण यह है कि वह प्रतिभा कविकी अव्युत्पत्तिको आच्छादित कर देती है। अर्थात् कवि प्रखर-प्रतिभा-प्रकर्षसे अपनी अज्ञताको छिपा लेता है, प्रकट नहीं होने देता। जैसा कि कहा है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥

कवि, अपनी शक्तिसे अ-व्युत्पत्तिजन्य अज्ञानताको छिपा सकता है; परन्तु कविकी असमर्थताके कारण होनेवाले दोष नहीं छिपते। उसे भावक (समालोचक) तुरंत समझ लेते हैं।

शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्त्तते।

शक्ति शब्दका लाक्षणिक अर्थ प्रतिभा है।

प्रतिभाका उदाहरण—

एतत्किं शिरसि स्थितं मम पितुः ? खण्डं सुधाजन्मनो
लालाटं किमिदं ? त्रिलोचनमिदं हस्तेऽस्य किं ? पन्नगाः।
इत्थं क्रौञ्चरिपोः क्रमादुपगते दिग्वाससः शूलिनः
प्रश्ने वामकरोपरोधसुभगं देव्याः स्मितं पातु वः॥

दिगम्बर रूपसे खड़े शिवजीके शरीरको देखते हुए शिशु—कार्तिकेयने बाल-स्वभाव-सुलभ जिज्ञासावश माता पार्वतीसे प्रश्न करना आरम्भ किया—माता, मेरे पिताजीके सिर पर चमकती हुई यह टेढ़ी-सी वस्तु क्या है ? पार्वतीने कहा—यह चन्द्रमाका खण्ड—टुकड़ा है। फिर पूछा—यह मस्तकमें क्या है ? मा ने कहा—यह आँख है। कुमारने फिर पूछा—यह हाथमें क्या है ? पार्वतीने कहा—सर्प है। इस प्रकार कुमारके प्रश्नोंका क्रम देखते हुए बाएँ हाथसे मुँहको ढँकती हुई पार्वतीका स्मित-हास आपकी रक्षा करे।

यहाँ कविका अपूर्व प्रतिभा-प्रकर्ष दर्शनीय है। यहाँ पर कविने वर्णनीय हास्यके अनुगुण रचना करनेमें असमर्थ होनेपर भी प्रतिभा द्वारा उसे छिपा लिया।

"व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मङ्गलः। सा हि कवेरशक्तिकृतं दोषमशेषमाच्छादयति। तथाहि—

मंगल नामक आचार्य कहते हैं कि 'प्रतिभासे व्युत्पत्ति उत्कृष्ट है'; क्योंकि व्युत्पत्तिके बलसे कवि अपनी असमर्थताके कारण होनेवाले दोषोंको छिपा लेता है। जैसे कि कहा गया है—

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचित्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥

काव्य-रचनामें व्युत्पत्तिबलसे कविकी असमर्थता छिप जाती है। श्रोता या आलोचक कविकी अलौकिक कल्पना या भावकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं और उस कविकी शब्द एवं अर्थयोजना पर ध्यान नहीं देते।

व्युत्पत्तिर्यथा—

व्युत्पत्तिका उदाहरण—

कृतः कण्ठे निष्का नहि किमुत तन्वी मणिलता
कृशं लीलापत्रं श्रवसि निहितं कुण्डलमुचि ।
न कौशेयं चित्रं वसनमवदातं तु वसितं
समासन्नीभूते निधुवनविलासे वनितया ॥

रात्रिमें पतिसंगमका समय समीप आनेपर पत्नीने गलेसे हँसुली उतारकर पतली मणिमाला गलेमें धारण कर ली, कानोंमें लटकते हुए सोनेके बड़े-बड़े कुंडल या तरकीको उतारकर पुष्प या पत्तोंके कनफूल पहन लिये और बेल-बूटोंवाली रेशमी साड़ी उतारकर स्वच्छ धुली और साधारण धोती पहन ली।[1]

"प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।

यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूपसे काव्य-रचनामें उपकारिणी होती हैं। जैसे, लावण्यके विना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप सम्पत्तिके विना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता।[2]

उभययोगो यथा—

व्युत्पत्ति और प्रतिभा दोनोंके एक साथ योगका उदाहरण—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।

---

१. सम्भोगशृङ्गाररस-सम्बन्धी इस रचनामें यद्यपि वर्णविन्यास शृङ्गाररसके अनुकूल नहीं है; क्योंकि श्रुतिकटु अक्षरोंकी अधिकता है। फिर भी कवि अपने व्युत्पत्तिबलसे सहृदय-हृदयोंको आकर्षित करता है।

२. लावण्य—जैसे मोतीके दानेमें एक प्रकारकी झलक होती है; जिसे लोक-व्यवहारमें पानी कहते हैं, उसी प्रकार शरीरमें एक प्रकारके पानीकी झलक होती है, जिसे लावण्य कहते हैं।

रूप—भूषण या किसी प्रकारकी सजावटके विना ही शरीरमें जो आकर्षण होता है; उसका नाम रूप है।

सौन्दर्य—शरीरके प्रत्येक अङ्गका सुगठित होना और सन्धियोंका समुचित और सम-रूपसे दीखना, सौन्दर्य कहा जाता है।

ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि लावण्यके विना सुन्दर रूप नहीं जँचता और रूप-सम्पत्तिके विना केवल लावण्यसे भी सौन्दर्य-लाभ नहीं होता। अतः जैसे सौन्दर्यकी पूर्णताके लिये रूप और लावण्य दोनों आवश्यक हैं; उसी प्रकार कवित्व-सौन्दर्यके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही आवश्यक हैं।

भर्त्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनयाद्दण्डपादो भवान्याः ॥

शिवजीका तांडव-नृत्य देखकर पार्वती भी उनका अनुकरण करती हुई तांडव-नृत्य करने लगीं, नृत्यके समय ऊपरकी ओर उठे हुए पार्वतीके दण्डपाद (रक्त-चरण) की शोभा ऐसी मालूम होती थी, जैसे कि उनके शुभ्र शरीर रूपी स्वच्छ लावण्यमयी-वापीसे मानों एक रक्त-कमल निकलकर खिला हो। उनका जङ्घादण्ड कमलनालके समान प्रतीत होता था, नखोंकी स्वच्छ सुन्दर किरणें कमल-केसरके समान प्रतीत होती थीं। पैरोंमें उसी समयकी लगी हुई लाल महावर कमलके नवीन किसलयोंकी शोभा धारण कर रही थी, और पैरोंमें गुन-गुनाता हुआ नूपुर मानों भ्रमरका कार्य कर रहा था।

इस उदाहरणमें यद्यपि अवाचकत्व और अभवन्मतयोग नामक दोष हो सकते हैं; किन्तु कविकी प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंका समान रूपसे सम्मिश्रण होनेके कारण उनकी प्रतीति नहीं होती; प्रत्युत चमत्कार प्रतीत होता है।[3]

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।

अतः यह सिद्ध हुआ कि कविको प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंकी समान रूपसे आवश्यकता है। इन दोनोंसे युक्त कवि ही कवि है।

स च त्रिधा। शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च।

कवि तीन प्रकारके होते हैं—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनोंमें प्रवीण कवि।

"तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्" इति श्यामदेवः।

श्यामदेव कहते हैं—'इन तीनोंमें उत्तर-उत्तर कवि श्रेष्ठ है।' अर्थात् शास्त्रकविसे काव्यकवि और उससे भी उभय-कवि श्रेष्ठ है।

"न" इति यायावरीयः। यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्। नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय। यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थ-

---

३. यह बाणभट्टके चण्डीशतकका प्रसिद्ध श्लोक काव्यप्रकाशके सप्तम उल्लासमें भी उद्धृत किया गया है। इसमें आये हुए 'दण्डपाद' शब्दका अर्थ पारिभाषिक है। नाट्यशास्त्रके चतुर्थ अध्याय (१४३ श्लोक) में तथा सङ्गीतरत्नाकर (७-७११) में इसका लक्षण लिखा है कि नूपुरयुक्त एक पादको हठात् ऊपरकी ओर करके शीघ्र हस्तसञ्चालन करना 'दण्डपाद' है। इस उदाहरणमें कविने नाट्यशास्त्रसम्बन्धी व्युत्पत्ति (ज्ञान) और वर्णन प्रकारमें प्रतिभाका प्रदर्शन किया है। इसमें रूपक और निदर्शना नामक अलङ्कार हैं।

मुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी।

राजशेखर कहते हैं—'नहीं; अपने-अपने विषयमें सभी श्रेष्ठ हैं। राजहंस चन्द्रिका-पान नहीं कर सकता और चकोर नीर-क्षीर-विवेकमें असमर्थ है। अर्थात् अपने-अपने विषयमें दोनों ही श्रेष्ठ कलाविद् हैं। इसी प्रकार शास्त्र-कवि शास्त्रीय गम्भीरताके कारण उत्तम रस, ध्वनि आदिके द्वारा काव्यमें रस-सम्पत्तिकी शोभा बढ़ाता है और काव्य-कवि, तर्क-कर्कश शास्त्रीय जटिल विषयोंको अपनी सुकुमार कला-कृतिसे सरस एवं सुन्दर बना देता है। उभय-कवि दोनों विषयोंमें सिद्ध-हस्त होनेके कारण वास्तवमें दोनोंसे श्रेष्ठ है। अतः शास्त्र-कवि और काव्य-कवि दोनों परस्पर समान स्थान प्राप्त करते हैं।

उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे। यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि।

इसे हम मानते हैं कि काव्य और शास्त्रका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। अर्थात् शास्त्रके द्वारा काव्यका उपकार-साधन होता है और काव्यके द्वारा शास्त्रका। कवि यदि शास्त्रोंका भी विद्वान् हो तो उसकी रचना अधिक गम्भीर, सरस और उच्च कोटिकी होती है। केवल शास्त्रका विद्वान् कविताका विरोधी है। उसकी कविता अरोचक और नीरस होती है। इसी प्रकार काव्यका ज्ञान सरलता पूर्वक शास्त्रीय वाक्योंका पोषण करनेमें सहायक होता है। केवल काव्य-ज्ञानमें शास्त्रीय गम्भीर्यका अभाव रहता है।

कवियों के भेद

तत्र त्रिधा शास्त्रकविः। यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते।

शास्त्र-कवि तीन प्रकारके होते हैं—१. शास्त्रका निर्माण करनेवाला, २.शास्त्रमें काव्यका निवेश करनेवाला और ३. काव्यमें शास्त्रीय अर्थोंका निवेश करनेवाला।

काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति। तत्र रचनाकविः—

काव्य-कवि आठ प्रकारके होते हैं—१. रचना-कवि, २. शब्द-कवि, ३. अर्थ-कवि, ४. अलंकार-कवि, ५. उक्ति-कवि, ६. रस-कवि, ७. मार्ग-कवि और ८. शास्त्रार्थ-कवि। इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिए जाते हैं। रचना-कविके अग्रिम उदाहरणमें केवल शब्दोंकी रचना-छटा सुनने और पढ़नेमें सुन्दर प्रतीत होती है; परन्तु अर्थमें कुछ भी गाम्भीर्य नहीं है। जैसे—

"लोलल्लाङ्गूलवल्लीवलयितवकुलानोकहस्कन्धगोलै-
र्गोलाङ्गूलैर्नदद्भिः प्रतिरसितजरत्कन्दरामन्दिरेषु ।
खण्डेषूद्दण्डपिण्डीतगरतरलकाः प्रापिरे येन वेला-
मालङ्घ्योत्तालतल्लस्फुटितपुटकिनीबन्धवो गन्धवाहाः ॥"

राजाने समुद्रके वेला-तटको पार कर जिन पर्वतोंकी तलहटीके ऊँचे उठे हुए पिंड-खजूरके वृक्षोंकी वायुसे चंचल एवं विशाल सरोवरोंमें विकसित होनेवाली कमल-बेलके पुष्पों (कमलों) की सुगन्धिसे सुरभित वायुका सेवन किया, उन पर्वतोंकी गुहाएँ (स्वाभाविक गुफाएँ), चंचल और लटकती हुई लम्बी पूछोंसे मौलसिरीकी मोटी-मोटी शाखाओंको लपेट कर किलकिलाते हुए लंगूरोंके चीत्कार-की प्रतिध्वनिसे मुखरित हो रही थीं।[४]

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातार्थभेदेन । तत्र नामकविः—

शब्दकवि तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो नाम या संज्ञावाचक सुबन्त शब्दोंका अधिक प्रयोग करते हैं, वे नाम कवि हैं। दूसरे, आख्यात-कवि वे होते हैं; जो तिङन्त-शब्दों—क्रियाओं—का प्रयोग अधिक मात्रामें करते हैं और तीसरे नामाख्यातकवि; जो दोनोंका प्रयोग समान रूपसे करते हैं।

नाम कविका उदाहरण—

"विद्येव पुंसो महिमेव राज्ञः
प्रज्ञेव वैद्यस्य दयेव साधोः ।
लज्जेव शूरस्य मृजेव यूनो
विभूषणं तस्य नृपस्य सैव ॥"

जैसे, पुरुषके लिए विद्या, राजाके लिए महिमा, वैद्यके लिए प्रज्ञा—भविष्य-दर्शिनी बुद्धि, सज्जनके लिए दया, वीरके लिए लज्जा और युवकके लिए नम्रता उसी प्रकार उस राजाके लिए वही भूषण है।

इस पद्यमें अनेक नामों—सुबन्त शब्दों—का एक ही क्रिया या आख्यातके साथ सम्बन्ध है। इसलिए ऐसी रचना करनेवाला कवि नाम-कवि कहा जाता है।

आख्यातकविका उदाहरण—

आख्यातकविर्यथा—"उच्चैस्तरां जहसुराजहृषुर्जगर्जु-
राजघ्निरे भुजतटीनिकरैः स्फुरद्भिः ।

४. भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (२-६९) में इसे पदरचनाके उदाहरणमें लिखते हुए कहा है कि इस श्लोकमें अधिक और अपुष्ट पदोंका प्रयोग केवल अनुप्रासके लिए और पादपूर्तिके लिए किया गया है।

सन्तुष्टुवुर्मुमुदिरे बहु मेनिरे च
वाचं गुरोरमृतसम्भवलाभगर्भाम् ॥"

समुद्रसे अमृत-मन्थनके समय गुरु (बृहस्पति) द्वारा अमृत-लाभ होने की महत्त्वपूर्ण घोषणा सुनकर देवतागण अट्टहास करते थे, प्रसन्न होते थे, गरजते थे, फड़कती हुई भुजाओंसे परस्पर आघात करते थे, स्तुति करते थे और प्रमुदित होते थे।

यह वर्णन समुद्र-मंथनके प्रसंगका है। इसमें नाम या सुबन्त-पद एक दो हैं, और सभी आख्यात अर्थात् क्रियापद हैं।

नामाख्यातकविका उदाहरण—

नामाख्यातकविः—"हतत्विषोऽन्धाः शिथिलांशबाहवः
श्रियो विषादेन विचेतना इव।
न चुक्रुशुर्नो रुरुदुर्न सस्वनु-
र्न चेलुरासुर्लिखिता इव क्षणम् ॥"

कान्तिहीन, अन्धे, थके हुए कन्धों और हाथोंवाले लक्ष्मीकी अप्राप्तिसे उत्पन्न शोकके कारण चेतनाशून्य-से वे दैत्यगण, न चिल्लाते थे, न रोते थे, न किसी प्रकारका शब्द करते थे और न हिलते-डुलते थे। वे क्षण भरके लिए चित्रित-से हो गये।

यहाँ 'श्रियः' के स्थानपर 'स्त्रियः' पाठ करनेपर इसका अर्थ इस प्रकार होगा–[५]

समरमें मारे गये दैत्योंकी पत्नियाँ पति-मरणके विषादसे कान्ति-हीन हो गईं, उनके कन्धे और हाथ शिथिल होकर झूल गये और वे अत्यन्त शोकसे चेतना-शून्य हो गईं। अतः न रोतीं थीं, न चिल्लातीं थीं, न किसी प्रकारका शब्द करतीं थीं, मानों वे क्षण-भरके लिए चित्रितसी हो गईं।

अर्थ-कविका उदाहरण—

अर्थकविः—"देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयाऽऽलिङ्गिते।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ॥"

कुमार कार्तिकेयके जन्म-महोत्सव पर हर्षसे हाथ उठाए हुए भृंगिरिटि गण एक ओरसे चिल्लाते हुए आ रहे थे और कह रहे थे कि 'हे गणो, क्या बैठे हो? देवी (पार्वती) ने पुत्र-प्रसव किया है, गाओ और नाचो। इसी प्रकार दूसरी

५. किसी विद्वान्ने 'श्रियः' के स्थान पर 'स्त्रियः' इस पाठको शुद्ध माना है अतः उसके अनुसार भी अर्थ लिख दिया गया है।

ओरसे चामुंडा आ रही थी, दोनों मिलकर परस्पर आलिंगन करते हुए नृत्य करने लगे। उनके गलोंमें लटकती हुई पुरानी सूखी हड्डियोंकी मालाएँ परस्परकी रगड़से ऐसा भयंकर शब्द करने लगीं कि उसकी ध्वनिसे देवताओंकी दुन्दुभि-ध्वनि भी दब गई[६]।

यहाँ कविने शब्द-रचना भी की है, किन्तु उसकी अपेक्षा अर्थ प्रधानतः चमत्कारकारी है।

द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन। तयोः शब्दालङ्कारः--

अलङ्कारकवि दो प्रकारके होते हैं—एक शब्दालङ्कार-प्रिय; जो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों द्वारा रचनाको विशेष सजानेकी चेष्टा करते हैं। दूसरे, उपमा, रूपक आदि अर्थालङ्कारों द्वारा रचनाको सजानेमें विशेष रुचि रखते हैं।

शब्दालङ्कार-कविका उदाहरण—

"न प्राप्तं विषम-रणं प्राप्तं पापेन कर्मणा विष-मरणं च।
न मृतो भागीरथ्यां मृतोऽहमुपगुह्य मन्दभागी रथ्याम्॥"

खेद है कि मैंने अपने पाप-कर्मोंके कारण विषम (भीषण) रणको न प्राप्त किया और विष-मरण प्राप्त किया। मैं मन्द-भागी भागीरथी (गंगा) में न मरकर साधारण-सी रथ्या (गली) में दुर्गतिके साथ मरा।

यहाँ 'विषम-रण' और 'विष-मरण' 'भागीरथ्याम्' और 'मन्द-भागी' 'रथ्याम्' में पाद-मध्य-यमक नामक शब्दालंकार है।

अर्थालङ्कारकविका उदाहरण—

अर्थाऽलङ्कारः—"भ्रान्तजिह्वापताकस्य फणच्छत्रस्य वासुकेः।
दंष्ट्राशलाकादारिघ्नं कर्त्तुं योग्योऽस्ति मे भुजः॥"

फहराती हुई जिह्वारूपी पताकावाले और फणरूपी छत्रको धारण करनेवाले सर्पराज वासुकीके दाँतरूपी शलाकाओंका भंग करनेके लिए मेरी भुजा समर्थ है।

यहाँ 'जिह्वा-पताका', 'फणच्छत्र', 'दंष्ट्रा-शलाका' आदिमें रूपकालङ्कारकी प्रधानतया प्रतीति होती है।

उक्ति कविका उदाहरण—

उक्तिकविः—"उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लता लेह्यसीमा।

६. यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृतमें योगेश्वरके नामसे उद्धृत किया गया है और सूक्ति मुक्तावलीमें त्रिविक्रम भट्टके नामसे है। भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में इसे परिकर-अलङ्कारके उदाहरणमें उद्धृत किया है।

स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय-
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥"

यौवन, इस सुनयना रमणीमें रमणीय केलियाँ कर रहा है। इसकी सुन्दर पतली कमर मानिनीके श्वासोंसे भंग होनेके योग्य है, स्तनोंकी विशालता सुन्दर भुज-लताओंका आलिंगन कर रही है और इसका मुख-चन्द्र आँखोंकी नलिकासे पान करने योग्य–आकर्षक–हो गया है।

यहाँ यौवनारम्भका वर्णन करनेमें कविने मानिनीके श्वाससे भंग होने योग्य कटि, स्तनोंका दोर्लतासे आलिंगन और मुखचन्द्रका नेत्र-नलिकासे पान—इन सुन्दर उक्तियोंमें विशेषता प्रदर्शित की है।

दूसरा उदाहरण—

यथा वा—"प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति ताडीपरिणतिं।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
मितीयं माधुर्यं स्पृशति च तनुत्वं च भजते ॥"

यह भी यौवनारम्भका वर्णन है। इस रमणीका अधर अशोकके अभिनव-अरुण-पल्लवोंसे परावर्तनकी इच्छा करता है, कपोल पाण्डु-वर्ण होनेके कारण ताल-फलकी परिपक्व अवस्थाकी ओर उतर रहे हैं और इसके नेत्र कुछ मुरझाती हुई कमलिनीका अनुकरण कर रहे हैं। इस प्रकार इस रमणीमें माधुर्य और कृशताकी वृद्धि हो रही है अर्थात् अधरोंमें लालिमा, कपोलोंमें चिकनेपनके साथ पाण्डुता, आँखोंमें लज्जा, आकृतिमें मधुरता और शरीरमें कृशता बढ़ रही है।

इस पद्यमें भी कविकी अभिनव प्रकारसे कही गईं उक्तियाँ विलक्षण काव्य-रमणीयताका प्रदर्शन करती हैं[७]।

रस-कविका उदाहरण—

रसकविः—"एतां विलोकय तनूदरि ताम्रपर्णी—
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

---

७. इस उक्ति-कविकी रचनामें 'समाधि' नामक गुण है। महाकवि दण्डीने काव्यादर्श (१-१००) में इसका लक्षण लिखते हुए कहा कि 'समाधि नामका गुण कविताका सर्वस्व है, सभी महाकविगण इसका आश्रय लेते हैं।' भोज आदिने इसका लक्षण लिखा है कि 'अन्यके धर्मका अन्यपर आरोप करना समाधि है।' तदनुसार इस रचनामें लेह्य, निपेय, श्लाघ्य एवं प्रतीच्छति, अवतरति एवं अनुवदति आदि शब्द समाधि गुणके अनुकूल हैं।

प्रायः यह लोकवाद प्रसिद्ध है कि दक्षिण-देशकी प्रसिद्ध ताम्रपर्णी नदी, जिस स्थानपर समुद्रसे संगम करती है, वहाँ उच्च-कोटिके मोती अधिक उत्पन्न होते हैं। कालिदासने भी इसकी चर्चा की है। यहाँ कवि उसीका वर्णन करता है—

हे कृशोदरि! समुद्रमें मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदीको देखो, सीपियोंके सम्पुटसे निकले हुए जिसके जल-कण, सुन्दरियोंके विशाल स्तन-तटोंपर मोतियोंके हारके रूपमें शोभित होते हैं।

यहाँ कविने इस वर्णनको सम्भोग शृंगाररसपूर्ण बनानेमें सफलता प्राप्त की है।

मार्ग (रीति) कविका उदाहरण—

मार्गकविः—"मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोऽयं गणः
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे॥"[८]

पूर्वकालमें जब शिवजीकी नेत्र-ज्वालासे कामदेव दग्ध हो गया, तब उसके मित्र ग्रीष्म (ऋतु) ने उसे दाह-शमन करनेवाली ओषधियाँ प्रदान कीं, जिससे उसका ताप शान्त हो सके। जैसे, सुगन्धबालाकी जड़, मालतीकी छाल, चन्दन वृक्षोंका सार (जल), अशोकके हरे सरस-पल्लव, शिरीषके पुष्प और पके हुए केलेके फल। तात्पर्य यह है कि ये सभी साधन ग्रीष्म-कालमें शीतल अतएव कामके जीवन होते हैं।[८]

यहाँ कविने जड़से फल तककी ओषधियोंका वर्णनक्रम अत्यन्त आकर्षक ढंग और वैदर्भी रीति या मार्गसे किया है।

शास्त्रार्थ-कविका उदाहरण—

शास्त्रार्थकविः—"आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्ता-
त्तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम्॥"

दुर्योधन द्वारा सन्धिदूत श्रीकृष्णका अपमान होनेपर क्रुद्ध भीमसेनकी सहदेवके प्रति उक्ति—

आत्मामें रमण करनेवाले एवं पूर्णज्ञानके उदयसे जिनकी ज्ञानमय ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्वमय आत्मज्ञानी पुरुष जिस परम ज्योतिका दर्शन निर्विकल्प

८. यह 'काव्यमीमांसा'के प्रणेता राजशेखर-प्रणीत 'विद्धशालभञ्जिका' नामक नाटिका (अङ्क ४, श्लोक ५) से उद्धृत है। यह रचना वैदर्भी रीतिके अनुसार की गई है। रीतिका दूसरा नाम मार्ग है।

समाधि द्वारा करते हैं, उस पुराण-पुरुष भगवान् (श्रीकृष्ण) को वह दुष्ट मोहान्ध दुर्योधन कैसे पहचान सकता है ?[१]

यहाँ 'आत्माराम' 'तमोग्रन्थि', 'निर्विकल्प समाधि' आदि शब्दयोग शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। कविने योगशास्त्रके अर्थका रचनामें उपयोग किया है।

एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः।

ऊपर कहे हुए इन गुणोंमें दो-तीन गुणोंवाला कवि कनिष्ठ श्रेणीका कवि कहा जाता है, पाँच गुणोंवाला मध्यम और सभी गुणोंसे युक्त कवि महाकवि होता है।

दश च कवेरवस्था भवन्ति। तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य। तद्यथा काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानो, महाकविः, कविराज, आवेशिकः, अविच्छेदो, सङ्क्रामयिता च।

कविकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान् और आहार्य-बुद्धि कविकी सात तथा औपदेशिक कविकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। दस अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—१. काव्य-विद्या-स्नातक, २. हृदय-कवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी और १०. संक्रामयिता।

यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः।

जो कवित्व-प्राप्तिकी इच्छासे काव्य और तदङ्गभूत अलङ्कार, छन्द, कला आदि विद्याओंके ज्ञानके लिए गुरुकुलमें जाता है—वह काव्य-विद्या-स्नातक है।

यो हृदय एव कवते निह्नुते च स हृदयकविः।

जो मन-ही-मन कविताकी रचना करता है और संकोच अथवा दोषके भय से किसीको सुनाता नहीं; मन ही में रखता है, वह हृदय-कवि है।

यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी।

जो अपनी ही रचनाको दोप या विपरीत आलोचनाके भयसे दूसरेकी रचना बताकर पढ़ता या सुनाता है; वह अन्यापदेशी कवि है।

यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता।

जो कवि कुछ-कुछ रचना करने लगता है और पुरातन कवियोंमेंसे किसी एकको अपना आदर्श मानकर उसकी छायापर काव्य-रचना करता है, वह सेविता है।

---

१. भट्टनारायण कृत 'वेणीसंहार' नाटक, अङ्क १, श्लोक २३।

योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमानः ।

जो प्रकीर्णरूपसे अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयोंपर फुटकर रचना करता है, किसी एक निबन्धका निर्माण नहीं करता, वह घटमान-कवि है ।

योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः ।

जो किसी एक महान् या पूर्ण निबन्ध-काव्यका निर्माण करता है, वह महाकवि कहा जाता है ।

यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः । ते यदि जगत्यपि कतिपये ।

जो भिन्न-भिन्न भाषाओंमें, भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-रचनाओंमें और भिन्न-भिन्न रसोंमें स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्बाध रचना करनेमें समर्थ है; वह कविराज कहा जाता है । ऐसे कविराज संसारमें कुछ इने-गिने ही होते हैं ।

यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः ।

जो मन्त्र आदिके उपदेश और अनुष्ठानसे कवित्व-सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे आवेशिक कवि कहे जाते हैं ।

यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी ।

जो, जभी चाहे तभी धाराप्रवाहसे जिस-किसी भी विषयपर आशु कविता करता है, वह अविच्छेदी कवि कहलाता है ।

यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं सङ्क्रामयति स सङ्क्रामयिता ।

जो अविवाहित कन्याओं या कुमारोंपर मन्त्रशक्ति द्वारा सरस्वतीका संचार कराकर उनसे काव्य-रचना कराता है, वह संक्रामयिता कहा जाता है ।

काव्य-पाकः

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति । "कः पुनरयं पाकः ?" इत्याचार्याः । "परिणामः" इति मङ्गलः । "कः पुनरयं परिणामः ?" इत्याचार्याः । "सुपां तिङां च श्रवः (श्रि ?) या व्युत्पत्तिः" इति मङ्गलः । सौशब्द्यमेतत् । "पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः" इत्याचार्याः । तदाहुः—

निरन्तर अभ्याससे कविके वाक्योंमें परिपक्वता आती है । यह पाक या परिपक्वता क्या है ? यह आचार्योंका प्रश्न है । मंगलका मत है कि यह निरन्तर

अभ्यासका 'परिणाम' या 'परिपाक' है। पुनः आचार्योंका प्रश्न है कि यह 'परिणाम' क्या है? मंगलका उत्तर है:—सुबन्त या तिङन्त शब्दोंकी श्रोत्र-मधुर व्युत्पत्ति ही परिणाम है। अर्थात् सुन्दर शब्दोंका प्रयोग। आचार्योंका मत है कि परिणाम या परिपाक शब्दका अर्थ है—पदोंके प्रयोगमें निर्भीकता या निःसन्दिग्धता। जैसा कि कहा है—

"आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥"

कवितामें सन्दर्भके अनुकूल पदोंके रखने और हटानेमें जबतक चित्त चंचल रहता है; तभी तक कविकी अपरिपक्व अवस्था समझनी चाहिए। जब पद-विन्यासमें स्थिरता प्राप्त हो जाय; तब समझना चाहिए कि अब सरस्वती सिद्ध हो गई अर्थात् सिद्ध-सारस्वत कवि हो गया।

"आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः॥ तदाहुः—

वामनका मत है कि 'आग्रहके कारण भी पदोंकी स्थिरतामें सन्देह रहता है। अतः एक बार लिखे गये पदके पुनः परिवर्तनकी आवश्यकता न होना ही 'पाक' है। जैसा कि कहा है—

"यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥"

शब्दशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् शब्दपाक उसे कहते हैं, जहाँ एक बार प्रयुक्त शब्द पुनः परिवर्तनकी अपेक्षा न रखे।

"इयमशक्तिर्न पुनः पाकः" इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति, तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्ति-निबन्धनः पाकः। यदाह—

अवन्तिसुन्दरीका मत है कि 'यह अशक्ति है; पाक नहीं। महाकवियोंके काव्योंमें एकके स्थानपर अनेक पाठ मिलते हैं। वे सभी परिपक्व तथा उपयुक्त भी होते हैं। इसलिए रसके अनुकूल और अनुगुण शब्द, अर्थ एवं सूक्तियोंका निबन्धन करना पाक है!' जैसा कि कहा गया है—

"गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति॥"

तदुक्तम्—"सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥"

जो गुण, अलङ्कार, रीति और उक्तिके अनुसार शब्दों और अर्थोंका गुम्फन-क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकोंको आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है—यही वाक्य-पाक है। इस सम्बन्धमें कहा भी है—

कवि, अर्थ और शब्द इन सभीके रहनेपर भी जिसके विना वाङ्मधुका परिस्रवण नहीं होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु-'पाक' है। जो सहृदय जनों द्वारा आस्वाद्य और काव्यका प्रधान जीवन है। अर्थात् सब कुछ होते हुए भी काव्य रचनामें कविकी प्रौढता जीवन डाल देती है, यह प्रौढता ही पाक है।

"कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ" इति यायावरीयः।

काव्य-पाकके सम्बन्धमें अन्य आचार्योंके मतोंका प्रदर्शन कर यायावरीय-राजशेखर अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि—'जहाँ पदोंके परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं है, वह शब्दपाकवाला काव्य है। जहाँ रस, गुण और अलंकारोंका सुन्दर क्रम है, वह वाक्य-पाक है। इसका समुचित निर्णय सहृदय-समालोचकोंकी आलोचना-द्वारा ही हो सकता है।'

स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति।

काव्य-रचनाका अभ्यास करनेवाले कवियोंके लिए नौ प्रकारका पाक होता है—

तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्,

१. आदि और अन्त दोनोंमें अस्वादु-नीरस-पाकका नाम 'पिचुमन्द' पाक है। पिचुमन्द नाम नीमका है, वह सदा तिक्त ही रहता है। ऐसी काव्य-रचना, जो आदि और अन्त दोनोंमें नीरस हो, वह निम्ब-पाकवाली कही जाती है।

आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम्,

२. आदिमें नीरस और अन्तमें कुछ सरस रचना 'बदर-पाक' कही जाती है। बेरका फल खानेमें पहले कुछ फीका और अन्तमें कुछ मीठा लगता है।

आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम्,

३. आदिमें नीरस और अन्तमें सरस रचना 'मृद्वीका-पाक' कही जाती है। मृद्वीका पहले कुछ कसैली और अन्तमें अति मधुर स्वादवाली होती है।

आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्,

४. आदिमें कुछ मध्यम मधुर और अन्तमें सर्वथा नीरस रचना 'वार्ताक-पाक' है। वार्ताक (बैंगन) आदिमें कुछ अच्छा और अन्तमें फीका लगता है।[१०]

---

१०. भामहने इसे वृन्ताक-पाक लिखा है। अर्थात् जिसमें सुबन्त और तिङन्त शब्दोंका संस्कार अच्छा हो और अर्थ गुण आदि अत्यन्त क्लिष्ट हों। सहृदय विद्वान् वृन्ताक-पाकसे घृणा करते हैं। देखिए—भामहका काव्यालङ्कार, अ० १. श्लो० १२।

आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्,

५. आदि और अन्त—दोनोंमें मध्यम स्वादवाली रचना 'तिन्तिडीक-पाक' है। तिन्तिडी (इमली) आदि और अन्तमें एक-सा स्वाद देती है।

आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम्,

६. आदिमें कुछ मध्यम और अन्तमें स्वादु रचना 'सहकार-पाक' है। सहकार (आम) पहले कुछ कसैला और अन्तमें अति मधुर होता है।

आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्,

७. आदिमें स्वादु और अन्तमें नीरस रचना 'क्रमुक-पाक' है। क्रमुक (सुपारी) पहले मधुर और अन्तमें कसैली लगती है।

आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,

८. आदिमें स्वादु और अन्तमें मध्यम रचना 'त्रपुस-पाक' है। त्रपुस (ककड़ी) आदिमें मधुर और अन्तमें कुछ फीकी-सी लगती है।

आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति ।

९. आदिसे अन्त तक मधुर 'नारिकेल-पाक' है। नारिकेल (नारियल) आदिसे अन्त तक मधुर होता है।

तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः । वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात् । कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम् । मध्यमा संस्कार्याः । संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति । द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति । शेषा ग्राह्याः ।

इनमें पिचुमन्द-पाक, वार्ताक-पाक और क्रमुक-पाक सर्वथा त्याज्य हैं। कवि न होना अच्छा है; परन्तु कुकवि न होना चाहिए। क्योंकि कुकविता करना दुःख के साथ मृत्युके समान है। मध्यम पाक—बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस—वालों की रचनाओंका संस्कार करके उन्हें सरस और मधुर बनाना चाहिए। कारण यह कि संस्कार द्वारा गुणोंकी वृद्धि की जा सकती है। अनेक प्रकारके धातुओंसे मिला हुआ सोना अग्नि-संस्कारसे विशुद्ध बन जाता है। शेष तीन पाक-मृद्वीका, सहकार और नारिकेल—ग्राह्य हैं।

स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते । न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति ।

जो प्रकृति या स्वभावसे शुद्ध हैं, उनके लिए संस्कारकी अपेक्षा नहीं रहती। मोतीका संस्कार करने पर भी वह अधिक सुन्दर या बृहत् नहीं बनाया जा सकता।

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति । तत्र पलालधूननेन अन्न-कणलाभवत्सुभाषितलाभः ।

जिस काव्य-रचनामें अव्यवस्थित रूपसे परिपाक होता है, अर्थात् कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम; उसे कपित्थ-पाक[११] कहते हैं। जैसे, पलाल (पुआल या पोरा) को धुननेसे कहीं दैववश एक-आध अन्नका दाना मिल जाता है, उसी प्रकार कपित्थ-पाकवाली रचनामें कहीं ढूंढनेपर एक-आधी सूक्ति भी दिखाई पड़ सकती है।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते ।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान् ॥

इस प्रकार अभ्यास करनेवाले कविके काव्यके पाक नौ प्रकारके होते हैं। बुद्धिमान् कविको चाहिए कि उनमें पहले हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) का विभाजन कर ले।

अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः ।
किन्तु त्रिविधमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्त्तते ॥

इस प्रकार काव्यकी शिक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्योंके लिए तीन प्रकारोंके प्रदर्शन किये गये हैं। यों तो विशाल संसारमें इसके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
शिष्यविशेषेषु काव्यपाककल्पः पञ्चमोऽध्यायः ॥

पञ्चम अध्याय समाप्त

---

११. भामहने कपित्थपाकका लक्षण लिखा है कि जो मनोहर न हो, शीघ्र समझमें न आवे और सरस होने पर भी रुचिकर न हो। देखिए—भामह, अ० ५, श्लो० ६२।

षष्ठोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः

व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघन्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम् ।

षष्ठ अध्याय : पद-वाक्य-विवेक

इस अध्यायमें पद और वाक्यका विचार किया जायगा।

जो व्याकरण-शास्त्रसे प्रकृति-प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे शब्द कहते हैं और निरुक्त, निघण्टु, कोष, व्यवहार आदिसे शब्द जिस वस्तुका संकेत करता है, वह उसका अभिधेय-अर्थ है। शब्द और अर्थ—दोनों मिलकर 'पद' कहे जाते हैं।

तस्य पञ्च वृत्तयः सुब्वृत्तिः, समासवृत्तिः, तद्धितवृत्तिः, कृद्वृत्तिः, तिङ्वृत्तिश्च । गौरश्वः पुरुषो हस्तीति जातिवाचिनः शब्दाः । हरो हरिर्हिरण्यगर्भः काल आकाशं दिगिति द्रव्यवाचिनः । श्वेतः कृष्णो रक्तः पीत इति च गुणवाचिनः । प्रादयश्चादयश्चासत्त्ववचनाः । नगरमुपप्रस्थितः पन्थाः, वृक्षमनुद्योतते विद्युदिति कर्मप्रवचनीयाः ।

वे पद पाँच प्रकारके होते हैं—१. सुबन्त, २. समासान्त, ३. तद्धितान्त, ४. कृदन्त और ५. तिङन्त। गौ, अश्व, हाथी, पुरुष—ये शब्द जातिवाचक हैं। अर्थात् गौ शब्द समूचा गौ-जातिका वाचक है। उसी प्रकार पुरुष शब्द समस्त पुरुष जातिका वाचक है। हर, हरि, आकाश, काल आदि शब्द द्रव्य वाचक हैं। श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण आदि शब्द द्रव्यमें रहनेवाले इन गुणोंको बतलाते हैं, अतः गुणवाचक हैं। प्र, सम् आदि तथा च, ह, एवं आदि शब्द अद्रव्य या अव्ययवाचक हैं। 'नगरके समीप पथिक गया', 'वृक्षके पीछे बिजली चमकी'—यहाँ 'समीप' और 'पीछे' दोनों अव्यय कर्मके साथ लगाये गये हैं, इनकी कर्म-प्रवचनीय संज्ञा है।

"सेयं सुब्वृत्तिः पञ्चतय्यपि वाङ्मयस्य माता" इति विद्वांसः । सुब्वृत्तिरेव समासवृत्तिः । व्याससमासावेवानयोर्भेदहेतू । सा च षोढा द्वन्द्वादिभेदेन । तत्र षट्समासीसमासस्तूक्तम्—

विद्वानोंका मत है कि यह पाँचों प्रकारकी सुपवृत्ति सारे वाङ्मयकी माता है। सुपवृत्ति ही समासवृत्ति है। इन दोनोंका भेद समास और व्यासके ही

कारण है। समास छः प्रकार के होते हैं—१. द्वन्द्व, २. द्विगु, ३. अव्ययीभाव, ४. तत्पुरुष, ५. कर्मधारय और ६. बहुव्रीहि। इन छः समासोंका संग्रह करके किसी कविने श्लिष्ट-कवितामें अपनी अवस्था का वर्णन किया है—

"द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरस्मि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाऽहं स्यां बहुव्रीहिः॥"

मैं द्वन्द्व हूँ अर्थात् स्त्री और पुरुष। द्विगु हूँ, अर्थात् दो गौओंवाला भी हूँ। मेरे घरमें सदा अव्ययीभाव है, अर्थात् व्यय करनेके लिए कुछ भी नहीं है। तत् = इसलिए हे पुरुष! ऐसा कर्म, धारय = धारण करो, जिससे मैं बहुत अन्नवाला (बहुव्रीहि) हो सकूँ।

तद्धितवृत्तिः पुनरनन्ता। तद्धि शास्त्रप्रायो वादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः। माञ्जिष्ठं रौचनिकं सौरं सैन्धवं वैयासीयमिति तद्धितान्ताः। प्रातिपदिकविषया चेयम्। कृद्वृत्तिश्च धातुविषया। कर्त्ता हर्त्ता कुम्भकारो नगरकार इति कृदन्ताः।

. तद्धित-वृत्ति अनन्त है। अर्थात् तद्धितान्त प्रत्ययोंका अन्त नहीं। इसलिए यह कहावत प्रचलित है कि पाणिनिशास्त्रके अनुयायी तद्धितमें मूढ़ होते हैं। मांजिष्ठ, रौचनिक, सौर, सैन्धव, वैयासीय आदि पद तद्धित प्रत्ययान्त हैं। तद्धितान्त सभी शब्द प्रातिपदिक होकर सुबन्त बन जाते हैं। कृत् प्रत्यय धातुओंसे होते हैं—जैसे, कृ धातुसे कर्ता, हृ-धातुसे हर्ता, कुम्भ शब्दपूर्वक कृ-धातुसे कुम्भकार, नगरकार आदि कृदन्त शब्द हैं।

तिब्वृत्तिर्दशधा दशलकारीभेदेन। द्विधा च सा धातुसुब्धातुविषयत्वेन। अपाक्षीत् पचति पक्ष्यतीति धातवीयान्याख्यातानि। अपल्लवयत् पल्लवयति पल्लवयिष्यतीति सौब्धातवीयानि।

तिङन्त शब्द दस लकारोंके भेदसे दस प्रकारके होते हैं। तिप् धातु और सुप् धातु इन भेदोंसे दो प्रकारके तिङन्त शब्द होते हैं। पचति, अपाक्षीत्, पक्ष्यति आदि शब्द तिप् धातुसे बनते हैं और पल्लवयति, अपल्लवयत् एवं पल्लवयिष्यति ये सुप् धातुओंसे बने रूप हैं।

तदिदमित्थङ्कारं पञ्चप्रकारमपि पदजातं मिथः समन्वीयमानमानन्त्याय कल्पते। तज्जन्मा चैष विदुषां वादो यत्किल दिव्यं समासहस्रं बृहस्पतिर्वक्ता शतक्रतुरध्येता तथापि नान्तः शब्दराशेरासीत्।

इस प्रकार ये पाँच प्रकारके पद परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण करते हैं। इसी कारण विद्वानोंमें यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि बृहस्पति अध्यापक, इन्द्र

शिष्य और दिव्य एक सहस्र वर्षका समय; किन्तु फिर भी वे शब्द-सागरका पार न पा सके। अर्थात् गुरु-बृहस्पति दिव्य एक सहस्रवर्षमें भी इन्द्र ऐसे शिष्यको पूरा व्याकरण न पढ़ा सके।

तत्र दयितसुब्वृत्तयो विदर्भाः। वल्लभसमासवृत्तयो गौडाः। प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः। अभीष्टतिङ्वृत्तयः सर्वेऽपि सन्तः। तेषां च विशेषलक्षणानुसन्धानेनावर्द्धताख्यातगणः। उक्तञ्च--

इन पाँचों वृत्तियोंमें विदर्भ देशवासी सुबन्त शब्दोंका अधिक प्रयोग करते हैं। गौड़ देशवासियोंको समासान्तपद अधिक प्रिय होते हैं। दक्षिण देशवासी तद्धितप्रिय होते हैं, उत्तर देशके विद्वान् कृदन्त-शब्दोंको अधिक चाहते हैं और तिङन्त पद सभी सज्जनोंको प्रिय होते हैं। विद्वानोंके विशेष अनुसन्धानोंके कारण तिङन्त-पदोंकी वृद्धि होती गई है। जैसा कि कहा है--

"विशेषलक्षणविदां प्रयोगाः प्रतिभान्ति ये।
आख्यातराशिस्तैरेष प्रत्यहं ह्युपचीयते॥"

विशेष लक्षण जाननेवाले अनुसन्धान कर्ताओंके नये-नये प्रयोग देखे जाते हैं। इसीसे आख्यात-तिङन्त शब्दोंकी राशि दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है।

पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। "तस्य च त्रिधाऽभिधाव्यापारः" इत्यौद्भटाः। वैभक्तः शाक्तः शक्तिविभक्तिमयश्च।

अभिलषित भावको व्यक्त करनेवाले पदोंके समुचितरूपसे संग्रथित सन्दर्भका नाम वाक्य है। आचार्य उद्भटके अनुयायियोंका मत है कि वाक्योंके अभिधा व्यापार तीन प्रकारके हैं--१. वैभक्त, २. शाक्त और ३. शक्ति-विभक्तिमय।

प्रतिपदं श्रूयमाणासूपपदविभक्तिषु कारकविभक्तिषु वा वैभक्तः।

जहाँ वाक्यके अन्तर्गत प्रत्येक उपपदमें विभक्तियाँ या कारक विभक्तियाँ प्रत्येक पदमें व्यक्त होती हैं, उसे वैभक्त-वाक्य कहते हैं।

लुप्तास्वपि विभक्तिषु समाससामर्थ्यात्तदर्थावगतौ शाक्तः। उभयात्मा च शक्तिविभक्तिमयः। तत्र वैभक्तः--

जहाँ विभक्तियाँ समासके कारण लुप्त हों; परन्तु समासकी शक्तिसे उन विभक्तियोंका अर्थ प्रतीत होता रहे, उसे शाक्त वाक्य कहते हैं और जिस वाक्यमें दोनों लक्षण मिलें, उसे उभयात्मक कहते हैं।

वैभक्तका उदाहरण—

"नमस्तस्मै वराहाय लीलयोद्धरते महीं ।
खुरयोर्मध्यगो यस्य मेरुः खणखणायते ॥"

लीलासे पृथ्वीको उठाये हुए वराह भगवान्‌के लिए नमस्कार है; जिसके खुरोंमें फँसा हुआ सुमेरु-पर्वत खनखनाता है।

इस वाक्यके अन्तर्गत प्रत्येक पद किसी न किसी विभक्तिके पृथक् पृथक् रूपमें और समास रहित कहा गया है।

शक्ति का उदाहरण—

शाक्तः—"वित्रस्तशत्रुः स्पृहयालुलोकः
प्रपन्नसामन्त उदग्रसत्त्वः ।
अधिष्ठितौदार्यगुणोऽसिपत्र-
जितावनिर्नास्ति नृपस्त्वदन्यः ॥

हे राजन्! शत्रुओंका दर्प-दलन करनेवाला, जनप्रिय, सामन्त राजाओंको शरण देनेवाला, उद्भट-पराक्रमशाली, औदार्य-पूर्ण और खड्गके बलसे पृथ्वीका विजय करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा राजा नहीं है।

इस वाक्यमें राजाके छः विशेषण समस्त हैं। परन्तु बहुव्रीहि समासमें लुप्त विभक्तियोंका लोप होनेपर भी उनका अर्थ स्पष्टरूपसे प्रतीत होता हैं।

दूसरा उदाहरण—

यथा वा—"कण्ठदोलायितोद्दामनीलेन्दीवरदामकाः ।
हरिभीत्याश्रिताशेषकालियाहिकुला इव ॥"

कण्ठमें लटकती हुई विकसित नील-कमलोंकी माला धारण किये हुए उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि कृष्णके भयसे कालिय नागका समस्त परिवार शरण-प्राप्तिके लिए उनके गलेमें लिपट गया है।

इस वाक्यमें केवल चार पद हैं, जिनमें दो तत्पुरुष और दो बहुव्रीहि समास वाले हैं। परन्तु उन समस्त पदोंके अवान्तर पदोंकी लुप्त विभक्तियोंका अर्थ समास-शक्तिसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

शक्ति-विभक्ति उभयका उदाहरण—

शक्तिविभक्तिमयः—"अथागादेकदा स्पष्टचतुराशामुखद्युतिः ।
तं ब्रह्मेव शरत्कालः प्रोत्फुल्लकमलासनः ॥"

श्लेषालङ्कार द्वारा शरद् ऋतुका वर्णन है—चारों दिशाओंके मुखमें स्पष्ट रूपसे अपनी ज्योति फैलाता हुआ और खिले हुए कमल तथा असन (कास) के फूलोंवाला शरत्-काल ब्रह्माके समान आया। ब्रह्माके पक्षमें—जिसकी मुखशोभा चारों दिशाओंमें है और खिला हुआ कमल जिसका आसन है।

यहाँ शरदृऋतुके पक्षमें शाक्त और ब्रह्माके पक्षमें वैभक्त अभिधा व्यापार है।

तत्र वाक्यं दशधा। एकाख्यातम्, अनेकाख्यातम्, आवृत्ताख्यातम्, एकाभिधेयाख्यातं, परिणताख्यातम्, अनुवृत्ताख्यातं, समुचिताख्यातम्, अध्याहृताख्यातं, कृदभिहिताख्यातम्, अनपेक्षिताख्यातमिति ॥

वाक्य दश प्रकार के होते हैं। जैसे—१. एकाख्यात, २. अनेकाख्यात, ३. आवृत्ताख्यात, ४. एकाभिधेयाख्यात, ५. परिणताख्यात, ६. अनुवृत्ताख्यात, ७.समुचिताख्यात, अध्याहृताख्यात,९. कृदभिहिताख्यात और १०. अनपेक्षिताख्यात।

आख्यातका अर्थ क्रियापद है। एक क्रियापद वाले एकाख्यात वाक्यका उदाहरण—

तत्रैकाख्यातम्—"जयत्येकपदाक्रान्तसमस्तभुवनत्रयः।
द्वितीयपदविन्यासव्याकुलाभिनयः शिवः॥"

ताण्डव नृत्यमें एक पैरसे सम्पूर्ण जगत्त्रयीको व्याप्त किये हुए और दूसरे पैरको रखनेके लिए (स्थानाभावसे) व्याकुल शिवजी की जय हो।

यहाँ 'जयति'–केवल एक ही आख्यात या क्रियापद है।

अनेकाख्यातम्। तच्च द्विधा सान्तरं निरन्तरम्॥ तयोः प्रथमम्—

अनेक क्रियाओंवाले अनेकाख्यात वाक्य दो प्रकारके होते हैं–१. सान्तर और २. निरन्तर। सान्तर वाक्य वह है, जिसमें आख्यात पदोंके बीच-बीचमें कारक या विभक्ति पद भी हों और निरन्तर वाक्य वह है, जिसमें केवल क्रियापद ही हों, बीचमें कारक या विभक्ति पद एक भी न रहे।

सान्तरका उदाहरण—

"देवासुरास्तमथ मन्थगिरां विरामे
पद्मासनं जय जयेति बभाषिरे च।
द्राग्भेजिरे च परितो बहु मेनिरे च
स्वाग्रेसरं विदधिरे च ववन्दिरे च॥"

समुद्र-मन्थनके उपरान्त जब मन्थनका शब्द समाप्त हुआ, तब सुर, असुर सभी 'जयजय' शब्दसे ब्रह्माजीका अभिनन्दन करने लगे; उन्हें चारों ओरसे घेरने लगे, उनका आदर करने लगे, अपना नेता बनाने लगे और प्रणाम करने लगे।

इस वाक्यमें तिङन्त–आख्यात–पदोंके बीच-बीचमें अनेक सुबन्त पद भी आ गये हैं। अतः यह सान्तर रचना है।

निरन्तर अनेकाख्यातका उदाहरण—

द्वितीयम्—"त्वं पासि हंसि तनुषे मनुषे बिभर्षि
विभ्राजसे सृजसि संहरसे विरौषि ।
आस्से निरस्यसि सरस्यसि रासि लासि ।
सङ्क्रीडसे ब्रुडसि मेधसि मोदसे च ॥"

हे देव ! तू रक्षा करता है, नाश करता है, विस्तार करता है, मानता है, पालन करता है, शोभित होता है, सृजन करता है, संहार करता है, शब्द करता है, मौन रहता है, फेंकता है, सरसाता है, देता है, लेता है, खेलता है, डूबता है, उतराता है और प्रसन्न रहता है ।

इस वाक्यमें सबसे प्रथम 'त्वं' (तू) शब्द और अन्तमें च (और) ये सुबन्त शब्द हैं, शेष सभी आख्यात-पद अर्थात् क्रियापद हैं । अतः यह निरन्तर रचना है ।

"आख्यातपरतन्त्रा वाक्यवृत्तिरतो यावदाख्यातमिह वाक्यानि" इत्याचार्याः । "एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्ते-रेकमेवेदं वाक्यम्" इति यायावरीयः ।

प्राचीन आचार्योंका मत है कि 'वाक्यकी समाप्ति एक आख्यात पदसे ही हो जाती है, अतः उक्त उदाहरणमें जितने क्रियापद हैं, उतने ही वाक्य हैं । यह एक वाक्य नहीं कहा जा सकता ।' परन्तु यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि 'यह एक ही वाक्य है' । कारण यह कि कारक पद अर्थात् कर्ताके एक होनेसे और वक्ताके वचनका अभिप्राय भी एक ही अर्थमें होनेसे यह एक ही वाक्य है ; अनेक नहीं ।

आवृत्ताख्यातम्—"जयत्यमलकौस्तुभस्तबकितांशपीठो हरि-
र्जयन्ति च मृगेक्षणाश्चलदपाङ्गदृष्टिक्रमाः ।
ततो जयति मल्लिका तदनु सर्वसंवेदना-
विनाशकरणक्षमो जयति पञ्चमस्य ध्वनिः ॥"

आवृत्ताख्यातका अर्थ है कि एक ही क्रियाकी भिन्न-भिन्न कर्ताओं–कारकोंके साथ बार-बार आवृत्ति की जाय । जैसे—

विमल कौस्तुभ मणिसे शोभित वक्षस्थलवाले हरिकी जय हो और चंचल कटाक्ष-पात करनेवाली रमणियोंकी जय हो, तदनन्तर मल्लिका-कुसुमकी जय हो और उसके अनन्तर सब प्रकारकी चेतनाको नष्ट करनेवाली कोकिलकी पंचम ध्वनिकी जय हो ।

यहाँ एक आख्यात 'जयति' की अनेक कर्ता-कारकोंके साथ आवृत्ति हुई है ।

एकाभिधेयाख्यातम्—

"हृष्यति चूतेषु चिरं तुष्यति बकुलेषु मोदते मरुति ।
इह हि मधौ कलकूजिषु पिकेषु च प्रीयते रागी ॥"

एकाभिधेयाख्यातका तात्पर्य यह है कि एक ही कर्ता-कारकका अनेक आख्यातों-के साथ सम्बन्ध हो। जैसे—

वसन्त ऋतुमें पथिक आमोंपर हर्षित होता है, बकुलपर सन्तुष्ट होता है, मलय-वायु पर मुदित होता है और सुन्दर बोलती हुई कोकिलों पर प्रसन्न होता है।

परिणताख्यातम्—"सोऽस्मिन्जयति जीवातुः पञ्चेषोः पञ्चमध्वनिः।
ते च चैत्रे विचित्रैलाककोलीकेलयोऽनिलाः॥"

परिणामाख्यातका तात्पर्य यह है कि एक ही क्रिया एक कर्ताके साथ सम्बद्ध होकर दूसरे कर्ताके लिए भी अर्थात् परिणत हो जाय। जैसे—

इस चैत्रमासमें कामदेवकी जीवनभूत कोकिलकी पंचम ध्वनि सर्वोत्कृष्ट है और इलायची तथा कंकोल वृक्षोंके साथ क्रीड़ा करनेवाली मलय वायु भी सर्वोत्कृष्ट है।

यहाँ कोकिलकी पंचम ध्वनिके लिए आया हुआ 'जयति'—यह आख्यात, वायुके लिए भी क्रिया-रूपमें परिणत हो गया।

अनुवृत्ताख्यातम्—"चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते॥"

अनुवृत्ताख्यात वह है जो एक वाक्यको पूरा करके दूसरे वाक्यका भी अनु-वर्तन करे। जैसे—

हे राजन्! तुम्हारे हाथी चारों समुद्रोंके तटवर्ती वनोंमें विहार करते हैं और कुन्द-कुसुमके समान उज्ज्वल तुम्हारे गुण, लोकालोक पर्वतके लता-कुंजोंमें विहरण करते हैं।

यहाँ हाथियोंके लिए प्रयुक्त 'चरन्ति' इस क्रिया (आख्यात) का गुणोंके साथ भी अनुवर्तन किया गया है।

समुचिताख्यातम्—"परिग्रहभराक्रान्तं दौर्गत्यगतिचोदितं।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च॥"

समुचिताख्यातका उदाहरण—

स्त्री, कुटुम्ब आदिके भारसे दबा हुआ और दुर्भाग्यसे प्रेरित मन गाड़ीके समान कुपथ पर जाता भी है और चिल्लाता भी है। गाड़ी भी अधिक भारसे आक्रान्त होकर और दुष्ट-गतिकी प्रेरणासे प्रेरित होकर कुमार्गपर जाती है और शब्द करती है।

यहाँ मनका गाड़ीके समान कुपथमें जाना और चिल्लाना उचित ही है।

यथा च—"स देवः सा दंष्ट्रा कृतकिटिविलासस्मितसिता
द्वयं दिश्यात्तुभ्यं मुदमिदमुदारं जयति च।

उदश्वद्भिर्भूयस्तरलितनिवेशा वसुमती
यदग्रे यच्छ्वासैर्गिरिगुडकलीलामुदवहत् ॥"

वे वराह भगवान् और लीलास्मितसे स्वच्छ उनकी दंष्ट्रा (दाढ़) की जय हो और वे दोनों तुम्हारे लिए उदार आनन्द प्रदान करें जिनके दीर्घ उच्छ्वासोंसे हिलती हुई और दाढ़पर रखी हुई पृथ्वी पर्वताकार कन्दुक (गेंद) के समान शोभाको धारण करती है।

इस उदाहरणमें 'पृथ्वी गेंदकी लीलाको धारण करती है' इस अर्थमें 'उदवहत्' क्रिया सर्वथा समुचित प्रतीत होती है। कारण पृथ्वी गेंद नहीं है; किन्तु उसकी शोभाको धारण करती है और दंष्ट्रा पृथिवीको।

अध्याहृताख्यातम्—"दोर्दण्डताण्डवभ्रष्टमुडुखण्डं बिभर्ति यः।
व्यस्तपुष्पाञ्जलिपदे चन्द्रचूडः श्रिये स वः ॥"

अध्याहृताख्यात उसे कहते हैं, जहाँ वाक्यमें आख्यात पदका प्रयोग शब्दतः न किया गया हो और वाक्य-पूर्ति के लिए उसे ऊपरसे लाना पड़े। जैसे—

भुजाओंके ताण्डवसे टूटकर गिरे हुए नक्षत्रोंके टुकड़ोंको जो विकीर्ण पुष्पाञ्जलिके स्थान पर धारण करता है; वह चन्द्र-चूड़ शिव आपकी सम्पत्ति या शोभा के लिए हो।

इस वाक्यमें 'अस्तु' या 'भवतु' क्रियाका उल्लेख नहीं है, उसका अध्याहार करनेसे ही वाक्य पूर्ण होता है।

कृदभिहिताख्यातम्—"अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं
हसितमन्यनिमित्तकथोदयं।
विनयबाधितवृत्तिरतस्तया
न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥"

कृदभिहिताख्यातका अर्थ है कि तिङन्त-क्रिया-पदोंके स्थान पर कृदन्त शब्दोंसे आख्यातका कार्य लिया जाय। जैसे—

मेरे सामने आनेपर उस नायिका (शकुन्तला) ने आँखें नीचीं कर लीं और किसी अन्य बातका प्रसंग चलाकर हँस दिया। इस प्रकार उसने विनयसे अवरुद्ध व्यवहारवाले अपने काम (अभिलाषा) को न प्रकट ही किया और न छिपाया ही।[1]

यहाँ 'संहृतम्', 'ईक्षितं', 'हसितं', 'विवृतं', 'संवृतं'—आदि कृत्-प्रत्ययान्त शब्दोंसे आख्यात-क्रियाका कार्य लिया गया है।

अनपेक्षिताख्यातम्—"कियन्मात्रं जलं विप्र ? जानुदघ्नं नराधिप।
तथापीयमवस्था ते न सर्वत्र भवादृशाः ॥"

---

१. देखिए—कालिदास : अभिज्ञान शाकुन्तल, अं. १, श्लो० ४५।

अनपेक्षिताख्यातका स्पष्ट अर्थ है कि विना आख्यातके वाक्य-रचना हो जाय। जैसे—(प्रश्नोत्तर)

राजा—ब्राह्मण! कितना पानी है?

ब्राह्मण—राजन्! घुटने भर!

राजा—तुम्हारी ऐसी हालत क्यों है?

ब्राह्मण—सभी आप ऐसे नहीं हैं।

यहाँ क्रियापदका सर्वथा अभाव है। किन्तु उसके विना अर्थ-बोध होता है।

गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ॥ "असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्येके ॥ यथा—

गुणों और अलंकारोंसे युक्त वाक्यका नाम काव्य है[२]। कुछ लोगोंका मत है कि 'काव्योंमें असत्य-आलंकारिक-बातोंका उल्लेख रहता है। अतः यह उपदेश करने योग्य नहीं है। जैसे—

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्तिः
मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुःस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः॥"

कवि, राजाके यशका वर्णन करते हुए कहता है कि राजन्! तुम्हारा यश पहले पृथ्वी पर चारों दिशाओंमें फैला, परन्तु दिशाओंकी दीवारोंसे टकराकर जब अधिक मात्रामें एकत्रित हुआ तब क्षीर-समुद्रके मध्यमें प्रविष्ट हुआ, समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी न तो उसका शरीर गीला हुआ, न श्वासकी रुकावट हुई और न आँखें ही बन्द हुईं। इस प्रकार समुद्रको श्वेत बनाकर भी जब उसके लिए स्थानाभावसे रहना असम्भव हो गया तब वह (यश) आकाशको भी धवल करने लगा। इस प्रकार तुम्हारे यशसे तीनों लोकोंके धवल हो जानेपर मृगनयनियोंको आश्चर्य होता है।[3]

इन श्लोकोंमें वर्णित यशका इस प्रकार दिग्भित्तियोंसे टकराना, समुद्रमें गोता लगाना, आकाशको धवल करना और इससे मृग-नयनियोंका आश्चर्य करना—सब असंगत और असत्य है।

---

२. काव्यके अनेक लक्षण किये गये हैं, इसपर विद्वानोंके खण्डनमण्डनात्मक शास्त्रार्थ भी हैं। काव्यमीमांसाकार राजशेखरको वामनके मतानुसार काव्यका लक्षण अभिमत है। वामन, उद्भट आदि विद्वानोंने गुण और अलङ्कारयुक्त वाक्यको ही काव्यका स्वरूप माना है। वास्तविक लक्षण भी यही है।

यथा च—

"भ्रश्यद्भूभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालुः
त्रुट्यन्नानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फाललोलाम्बुराशिः ।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्यः
कल्योद्योगस्य यस्य त्रिभुवनदमनः सैन्यसम्मर्द आसीत् ॥"

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

राजाकी सेनाके सम्मर्दसे तीनों लोकोंमें उथल-पुथल मच गई। विशाल सैन्यभारसे पृथ्वी दबने लगी और उसके दबावसे शेषनागकी भौंहें फटने लगीं, इस कारण शेषनागने दुःखसे जो विषमय और उष्ण फुंकार किया, उससे पातालका तालु गरम हो उठा। इधर पृथ्वीके ऊपर सेनाके संघर्षसे बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखर टूट-टूटकर समुद्रमें गिरने लगे और जलराशि उद्वेलित हो उठी। जब सेनाकी घनी धूल उड़कर स्वर्ग तक पहुँची तब उससे घबराकर देवांगनाएँ स्वर्गकी सीमा छोड़कर भवनोंके भीतर जा घुसीं। इस प्रकार राजाके सैन्य-सम्मर्दसे तीनों लोकोंका दमन होने लगा।[४]

इस श्लोकमें वर्णित ये चाटुकारोंकी बातें सर्वथा असत्य और आलंकारिक हैं। कहा है—

आहुश्च—"दृष्टं किञ्चिददृष्टमन्यदपरं वाचालवार्त्तार्पितं
भूयस्तुण्डपुराणतः परिणतं किञ्चिच्च शास्त्रश्रुतं ।
सूक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहतं
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद्वा गिरेः ॥"

काव्योंमें कुछ बातें प्रत्यक्ष होती हैं, कुछ अप्रत्यक्ष! कुछ बातें वाचाल कवियोंकी कल्पनासे प्रसूत होती हैं, कुछ बुढ़िया-पुराणकी-सी गप्पें होती हैं। कुछ शास्त्रीय होती हैं और कुछ कवियोंके काव्य-कौशलकी होती हैं। अतः यह काव्य निरर्गल है। अन्य रत्नोंके समान इस काव्य-रत्नका जन्म न तो समुद्रसे है और न रोहण—पर्वतसे।

"न" इति यायावरीयः—

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः ।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ॥"

राजशेखरका कथन है कि 'काव्य अतिशयोक्ति-पूर्ण होने तथा असत्य वर्णनामय होनेसे त्याज्य है; यह बात नहीं।' काव्योंमें वर्णनीय व्यक्ति या विषयके प्रति जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह असंगत या असत्य नहीं है। इस प्रकारके अर्थवाद-पूर्ण वर्णन तो वेदोंमें, शास्त्रोंमें और लोकमें भी पाये जाते हैं। देखिए, ऐतरेय ब्राह्मणका एक उदाहरण—

---

३. ४. इन दोनों रचनाओंमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

तत्र श्रौतः—"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥"

हे तपस्विन्, चलनेवाले व्यक्तिकी जाँघें पुष्पवती-सुदृढ होती हैं, उसमें आत्माकी वृद्धि होती है और उसे आरोग्य रूप फल मिलता है, चलनेवाले पुरुषके सभी पाप नष्ट होकर सो जाते हैं, अर्थात् चलनेवाले को मार्गमें अनेक तीर्थों, देवताओं और महात्माओंके अनायास दर्शन होते हैं, जिससे उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

[उक्त श्लोकको संगति इस प्रकार है कि एक बार वरुण देवताके शापसे राजा हरिश्चन्द्रको जलोदर रोग हो गया। राजकुमार रोहित तपस्या करता हुआ वनोंमें घूमता था; किन्तु पिताकी अस्वस्थताका समाचार सुन वह घरको आ रहा था। इन्द्र नहीं चाहता था कि वह राजासे मिल सके, अतः उसने ब्राह्मणका छद्म वेष बनाकर जंगलमें ही रोहितको समझाया कि घर न जाओ, भ्रमण करो, तीर्थाटन करो। एक वर्ष बाद पुनः रोहित घरकी ओर आ रहा था, लेकिन फिर इन्द्रने उसे टालनेके लिए उक्त प्रकारसे भ्रमण करनेके सम्बन्धमें कहा कि भ्रमण करना श्रेष्ठ है, अतः घर न जाओ, घूमो-फिरो।[५]]

यहाँ भ्रमणकी इतनी प्रशंसा या अर्थवाद असत्य है; परन्तु स्वार्थ-साधनके लिए वेदने भी उसे अपनाया।

शास्त्रीयः—"आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्या-
मपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं
महर्षयो व्याकरणं निराहुः ॥"

शास्त्रोंमें अर्थवादका उदाहरण—

पृथ्वीपर सबसे अधिक पवित्र वस्तु जल है, जलसे अधिक पवित्र मन्त्र हैं, उन मन्त्रोंमें भी ऋक्, यजुष् और सामके मन्त्र पवित्रतम हैं; किन्तु महर्षिगण व्याकरण शास्त्रको इन वेदत्रयीके मन्त्रोंसे भी अधिक पवित्र मानते हैं।

यहाँ व्याकरण-शास्त्रको वेदोंसे भी अधिक माननेका कारण उसकी आवश्यकता प्रदर्शनमात्र है। वास्तवमें वह वेदोंसे पवित्र नहीं है। इस प्रकार वर्णनीय विषयके प्रति अतिशयोक्तिका आश्रय काव्यके समान शास्त्रोंने भी लिया है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भगवान् पतञ्जलिका देखिए—

किञ्च—"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥"

५. देखिए—ऐतरेय ब्राह्मण (हरिश्चन्द्रोपाख्यान), ७-१५-२ और शतपथ ब्राह्मण, १५-१९.

"व्याकरण-शास्त्रके जाननेवाला जो विद्वान् उचित समय पर शब्दोंका यथार्थ रूपमें प्रयोग करता है ; वह वाणीके वास्तविक प्रयोगको जाननेवाला विद्वान्, परलोकमें अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त करता है और जो वाणीके समुचित प्रयोगको जाननेवाला अपशब्द-अशुद्ध शब्द-का प्रयोग करता है ; वह दूषित होकर नरकमें जाता है।

आगे भाष्यकार उसीको स्पष्ट करते हैं—

"कः ? । वाग्योगविदेव । कुत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगवित् अज्ञानं तस्य शरणम् । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः । कः ? । अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगवित् विज्ञानं तस्य शरणम् । क्व पुनरिदं पठितम् ? । भ्राजा नाम श्लोकाः ।

यहाँ प्रश्न होता है कि कौन दूषित होता है वाणीके प्रयोगको जाननेवाला या मूर्ख ? उत्तर—मूर्ख नहीं ; वाणीके प्रयोगको जाननेवाला ही दूषित होता है। पुनः प्रश्न—ऐसा क्यों ? वाणीके प्रयोगको जाननेवाला ही क्यों दूषित होता है ? उत्तर—इसलिए कि जो शुद्ध शब्दोंको जानता है, वह अशुद्ध शब्दोंको भी जानता है। जैसे शुद्ध शब्दके ज्ञानसे धर्म होता है उसी प्रकार अपशब्दके प्रयोगसे अधर्म भी प्राप्त होगा। अथवा अधर्म अधिक मात्रामें प्राप्त होगा। क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और शुद्ध शब्द कम हैं। जैसे—गौ, यह शुद्ध शब्द है और इसके अनेक अपभ्रंश हैं—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि। इसलिए अपशब्दोंकी अधिकताके कारण अधर्म अधिक प्राप्त होगा।

अथवा जो-जो वाग्योगविद् हैं, उन्हें ही अधर्म होता है और जो व्याकरण शास्त्रको नहीं जानता, वह तो अज्ञानके कारण अपशब्दोंका प्रयोग करेगा ही। अतः (अज्ञानके कारण) उसे अधर्म नहीं कहा जा सकता। केवल अज्ञानको लेकर पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। क्योंकि अज्ञानवश ब्रह्महत्या, गो-हत्या, मद्यपान आदि करनेवाला मनुष्य भी पतित ही समझा जायगा, उसके पापसे वह छूट नहीं सकता। अच्छा, जाने दो। इसका यह अर्थ करो कि जो वाग्योगको जानता है अर्थात्

शुद्ध शब्दोंका प्रयोग करता है वह परलोकमें विजय प्राप्त करता है और जो नहीं जानता वह नरकमें जाता है। अतः व्याकरणाध्ययनके द्वारा शुद्ध शब्दोंको जानना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यह श्लोक कहाँ लिखा गया है। जिसपर इतना विचार किया गया। उत्तर—यह भ्राज नामक श्लोक कात्यायन मुनिका है।

किञ्च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ? । किञ्चातः ? । यदि प्रमाणमयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति ।"

प्रश्न—क्यों भाई, धर्म और अधर्मके निर्णयमें श्लोक भी प्रमाण हो सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस श्लोकको भी प्रमाण मानो। जैसे—

'यद्युदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् ।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत् ॥' इति

यदि पके हुए गूलरके समान लाल रंगवाली सुरासे भरी हुई ये बोतलें स्वर्गमें पहुँचानेमें असमर्थ हैं, तो क्या सौत्रामणि-यज्ञमें एक पात्र-प्रमाण पिया हुआ स्वल्पतम मद्य स्वर्गमें पहुँचा सकेगा ? अर्थात् यदि सौत्रामणि यज्ञमें एक प्याला मद्य पीनेसे ही स्वर्ग मिल जाता है, तो क्यों न मद्यशालामें जाकर भरपेट मद्यपान कर लें।

"प्रमत्तगीत एष तत्रभवतो यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणमेव" इति गोनर्दीयः ।

इसपर आचार्य गोनर्दीय-पतंजलि उत्तर देते हैं कि यह श्लोक किसी पागलका प्रलाप है। यदि किसी प्रामाणिक व्यक्तिका बनाया हुआ श्लोक हो तो उसे धर्म-विषयमें प्रमाण माना जा सकता है[६]।"

ऊपर कहे गये भगवान् पतंजलिके लम्बे वक्तव्यका तात्पर्य लोकरुचिको व्याकरण-शास्त्रकी ओर प्रवृत्त करना है। इसलिए उन्होंने उसके विषयमें इतने अर्थवाद या अतिशयोक्तिका आश्रय लिया है।

लौकिक अर्थवादका उदाहरण—

लौकिकः—"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता ।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

हे राजन् ! तुम्हारे गुण और अनुरागसे मिले हुए यशने चारों ओर फैलते हुए दिशारूपी वधुओंके ललाटोंपर आधा कुंकुम-तिलकलगा दिया। गुणोंका रंग श्वेत है और अनुरागका लाल, इसलिए आधा तिलक हुआ।

इस उदाहरणमें राजाका शौर्य प्रसिद्ध करनेके लिए यह अर्थवाद किया गया है

६. देखिए—पातञ्जल-महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इत्यपरे। यथा एवं—

कुछ लोगोंका मत है कि काव्य असत्-मार्गका उपदेश करते हैं। लोकमें सन्मार्गका उपदेश उचित है। अतः काव्य अग्राह्य या त्याज्य हैं। उनका उपदेश न करना चाहिए। उदाहरण जैसे--

"वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियं।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत् ॥"

पातिव्रत्यसे जीवन निर्वाह करनेकी प्रतिज्ञा करनेवाली पुत्रीके प्रति वेश्या-माता उपदेश करती है—पुत्रि, हम वेश्याओंकी विवाह-विधि यह है कि लड़कपनमें लड़कोंको, यौवनावस्थामें युवकोंको और इस वृद्धावस्थामें भी वृद्धोंको चाहती हैं—यह वेश्या धर्म है। तुमने यह क्या अमार्गसे जीवन व्यतीत करनेकी सोच ली? हमारे कुलमें पातिव्रत्यका कलंक कभी नहीं लगा, जिसे आज तुम लगाने जा रही हो।

यहाँपर पवित्र परिणय-विधि या पातिव्रत्यकी जो दुर्दशाकी गई है, वह संस्कृति-विरुद्ध होनेके कारण त्याज्य है। काव्य ऐसी ही अमर्यादित शिक्षाएँ देता है। अतः सर्वथा हेय है।

"अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन" इति यायावरीयः। य एवंविधा विषयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः। किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा। "सा च निःश्रेयसमूलम्" इति महर्षयः। यदाहुः—

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—'यह उपदेश है; किन्तु निषेध रूपसे, विधि रूपसे नहीं। वेश्या-गामियोंको वेश्याओंके ऐसे कुत्सित-चरित्रका ज्ञान हो, वे उन्हें पतिव्रता समझने की भूल न करें। दूसरे, ऐसे चरित्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा की जाय—यह कविका भाव है। इसी प्रकार सांसारिक व्यवहार कवियोंके वचनोंपर आधारित हैं। कवियोंके आदेशानुसार किये गये लोक-व्यवहार मानवके लिए कल्याणकारी होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

"काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते ॥"

जब तक पृथ्वीपर विशुद्ध काव्यमयी वाणीका प्रचार रहता है, तब तक कवि सारस्वत लोक (सरस्वती के लोक) में स्थान पाता और आनन्द प्राप्त करता है।

किञ्च—"श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि
प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः ।
ये च प्रभावास्तपसामृषीणां
ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः ॥"

प्राचीन राजाओंके प्रभावशाली चरित्र, देवताओंकी प्रभुत्व-लीला और ऋषियों एवं तपस्वियोंके अलौकिक-प्रभाव—ये सभी कुछ कवियोंकी वेद-वाणीसे प्रसूत और प्रसिद्ध हुए हैं। पुनः,

उक्तश्च—"ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण
राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिं ।
राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः ॥

कवियोंके कारण ही राजाओंकी प्रसिद्धि हुई और राजाओंका आश्रय मिलनेके कारण कवि-गण प्रसिद्ध हुए। अतः राजाओंके सिवा कवियोंका उपकार करनेवाला दूसरा नहीं और कवियोंके सिवा राजाका भी दूसरा सहायक नहीं।

वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च ।
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम् ? ॥"

जिस सारस्वत-मार्ग (काव्य-रचना-प्रणाली) के प्रथम प्रवर्तक प्राचीन मुनि बाल्मीकि और महर्षि व्यास हैं, वह अनिन्दनीय सारस्वत-मार्ग किसके लिए वन्दनीय नहीं है ? अर्थात् सभीके लिए आदरणीय है।

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इति च केचित् ।

कुछ लोगोंका कथन है कि काव्यमें अश्लील अर्थ रहता है, वह असभ्य बातोंको बतलाता है। अतः उसका ग्रहण न करना चाहिए ! जैसे,
अश्लीलताका उदाहरण—

यथा—

"प्रसर्पन्प्रग्रीवैर्भृतभुवनकुक्षिर्झणझणा-
करालः प्रागल्भ्यं वदति तरुणीनां प्रणयिषु ।

विलासव्यत्यासाज्जघनफलकास्फालनघन-
स्फुटच्छेदोत्सिक्तः कलकनककाञ्चीकलकलः ॥"

यह विपरीत-सुरत वर्णन है—विपरीत रति-क्रियाके कारण होनेवाला कनक कांचीका कमनीय कलकल शब्द, पतियोंपर तरुण रमणियोंकी प्रगल्भता—धृष्टता—का परिचय देता है। अर्थात् रति-समयमें कामावेशसे उन्मत्त होकर प्रमदाएँ पतियों के ऊपर आ गई हैं, अतः उनके कटि-संचालनसे कमरमें बँधी हुई सोनेकी करधनियोंके घुंघुरू बजने लगे, जंघाओंके संचालनसे होनेवाली कांचीकी यह घनी झनझनाहट शयनागारकी खिड़कियोंसे बाहर निकलकर शून्य और नीरव आकाशमें चारों ओर सुन पड़ती थी।

दूसरा उदाहरण—

अपि च—"नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गी-
ताडङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः।
स्निह्यन्तु रत्नरशनारणनाभिराम-
कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः ॥"

हे मित्र! वे युवतियाँ तुमसे सदा प्रेम रखें, जिनके कपोलस्थल कर्णफूलोंके निरन्तर हिलनेसे लाल हो रहे हैं और जो नितम्ब-भागपर पड़ी हुई रत्न-मंडित सुन्दर कांचियोंको कामावेशमें आकर निरन्तर नचाया करती हैं। अर्थात् विपरीत रतिमें स्त्रियोंके ऊपर होकर शरीर-संचालन करनेके कारण कानोंके झुमके कोमल कपोलोंसे रगड़ खाकर उन्हें लाल कर देते हैं और नितम्बमें पड़ी हुई रत्नकांची नृत्य करती हुई मधुर शब्द करती है।

उक्त दोनों उदाहरणोंमें विपरीत-रतिका वर्णन अत्यन्त अश्लील होनेके कारण असभ्य अर्थका प्रदर्शक है। अतः ऐसे असभ्य वर्णनोंके कारण काव्य हेय है।

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः" इति यायावरीयः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते। तत्र याजुष—

यायावरीय राजशेखरका मत है कि प्रसंग आनेपर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और यह उचित भी है। ऐसे अश्लील अर्थोंका उल्लेख वेदों और शास्त्रोंमें भी पाया जाता है। इसका उदाहरण यजुर्वेद में देखिए—

"योनिरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमेतत् प्रजननं क्रियते ॥"

योनि रूपी ऊखल और शिश्न रूपी मूसल—इन्हीं दोनोंका नाम मिथुन है, इस मिथुनसे प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) होता है।

ऋग्वेदमें भी ऐसा उदाहरण देखिए—

आर्षः—"उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका ॥"

बृहस्पतिकी पुत्री रोमशाने अपने पतिको जब मैथुनकेलिए आह्वान किया तब उसके छोटे और रोम-रहित अंगोंको देखकर उसके पतिने हँस दिया, इसपर वह कहती है—हे स्वामिन्! मेरे पास आकर मेरा आलिङ्गन करो अर्थात् मुझे भोगके योग्य समझो। मेरे शरीरके रोमोंको छोटा न समझो, मैं सम्पूर्ण शरीरसे रोमवाली हूँ, या रोमवाली मैं पूर्णांगी हूँ। मैं उसी प्रकार रोमशा हूँ, जिस प्रकार गान्धार देशकी भेड़ें होती हैं। यहाँ भावार्थ यह है कि 'अजात-लोमा स्त्रीसे सम्पर्क न करें'—इस शास्त्रीय आज्ञासे भय न करो, मैं सर्वांगसे रोमवाली हूँ, अतएव भोग-योग्य हूँ[७]।

शास्त्रमें अश्लील अर्थके वर्णनका उदाहरण—

शास्त्रीयः—"यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलं ।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"

जिस स्त्रीके नेत्र, प्रसन्न (स्वच्छ), धवल (श्वेत) और लम्बी पलकोंवाले होवे हैं, उसका स्मरमन्दिर (प्रजननेन्द्रिय) तुरन्त निकाले हुए मक्खनके समान कोमल होता है।[८]

तात्पर्य यह है कि प्रसंगवश (आवश्यकता आ जानेपर) ऐसे अश्लील अर्थोंका वर्णन काव्योंमें ही नहीं, वेदों और शास्त्रोंमें भी किया गया है। अतः इस कारण ये हेय नहीं हो सकते।

पदवाक्यविवेकोऽयमिति किञ्चित्प्रपञ्चितः ।
अथ वाक्यप्रकारांश्च कांश्चिदन्यान्निबोधत ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें पद और वाक्यका कुछ विवेचन किया गया है, अब अगले अध्यायमें वाक्यके अन्यान्य भेदोंका ज्ञान करना चाहिए।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
षष्ठोऽध्यायः पदवाक्यविवेकः ॥



७. देखिए—ऋग्वेद, १-१-११-७, और निरुक्त, ३-४-३।

८. भोजराजकृत शृङ्गार-प्रकाशमें 'प्रसन्न-धवल' के स्थान पर 'प्रकाम-धवल' पाठ है अर्थात् अत्यन्त श्वेत।

सप्तमोऽध्यायः वाक्यभेदाः

वाक्यं वचनमिति व्यवहरन्ति। तच्च त्रिधा प्रणेतृभेदेन ब्राह्मं, शैवं, वैष्णवमिति। तदिदं वायुप्रोक्तपुराणादिभ्य उपलब्धं यदुत ब्राह्मं वचः पञ्चधा स्वायम्भुवमैश्वरमार्षमार्षीपुत्रकं च।

वाक्यभेद[1]

वाक्यका दूसरा नाम वचन है। प्रणेताके भेदसे वचन तीन प्रकारके होते हैं—१. ब्राह्म, २. शैव और ३. वैष्णव। वायु आदि पुराणोंसे ज्ञात होता है कि ब्राह्म वचन पाँच प्रकारके होते हैं—१. स्वायम्भुव, २. ऐश्वर, ३. आर्ष, ४. आर्षीक और ५. आर्षिपुत्रक।[2]

स्वयम्भूर्ब्रह्मा तस्य स्वायम्भुवम्। तन्मनोजन्मानो भृगुप्रभृतयः पुत्रास्ते ईश्वरास्तेषामैश्वरम्। ईश्वराणां सुता ऋषयस्तेषामार्षम्। ऋषीणामपत्यानि ऋषीकास्तेषामार्षीकम्। ऋषीकाणां सूनव ऋषिपुत्रकास्तेषामार्षिपुत्रकम्।

स्वयम्भू ब्रह्मा हैं, उनका वचन स्वायम्भुव है। ब्रह्माके मानस पुत्र भृगु आदि ईश्वर हैं, उनका वचन ऐश्वर है। ईश्वरोंके पुत्र ऋषि हैं, उनका वचन आर्ष है। ऋषियोंकी सन्तान ऋषीक हैं, उनके वचन आर्षीक कहे जाते हैं और ऋषीकोंके पुत्र ऋषि-पुत्रक हैं, उनके वचन आर्षि-पुत्रक हैं।

स्वयम्भुवः प्रथमं वचः श्रुतिः, श्रुतेरन्यच्च स्वायम्भुवम्। तदाहुः—

स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्माके आदि वचन वेद हैं। वेदोंके अतिरिक्त भी स्वायम्भुव वचन हैं। जैसाकि कहा गया है—

"सर्वभूतात्मकं भूतं परिवादं च यद्भवेत्।
क्वचिन्निरुक्तमोक्षार्थं वाक्यं स्वायम्भुवं हि तत्॥"

समस्त प्राणिमात्रके लिए कल्याणकारी, सत्य और कहीं-कहीं मुक्तिमार्गका निर्देश करनेवाला वचन स्वायम्भुव है।

---

१. इस अध्यायमें क्रमशः तीन प्रकरण हैं—१. वाक्य-विधि, २. काकु-प्रकार और पाठ-प्रतिष्ठा।

२. इन पाँच प्रकारके वाक्यों तथा स्वयम्भू, ईश्वर, ऋषी, ऋषिपुत्रक और आर्षीपुत्रक का लक्षण नाम आदिका विस्तृत विवरण वायुपुराणमें आया है। देखिए—वायुपुराण, अ० ५९, श्लो० ८१–९१। ब्रह्माण्डपुराण भी इसकी चर्चा है।

तदेव स्तोकरूपान्तरपरिणतमैश्वरं वचः । उक्तञ्च—

इसीका कुछ स्वल्प रूपान्तर ऐश्वर वचन है। जैसा कि कहा है—

"व्यक्तक्रममसंक्षिप्तं दीप्तगम्भीरमर्थवत् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च लक्ष्यतामैश्वरं वचः ॥"

क्रम-बद्ध, विस्तार-युक्त, स्पष्ट, गम्भीर, अर्थ-युक्त, प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थका निर्देश करनेवाला वचन ऐश्वर है।

आर्षम्—"यत्किञ्चिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः ।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम् ॥"

कुछ मन्त्रोंके सहित, नाम (संज्ञा) और विभक्तियोंसे युक्त एवं प्रत्यक्ष अर्थका निर्देशक आर्ष वचन है।

आर्षीकम्—"नैगमैर्विविधैः शब्दैर्निपातबहुलं च यत् ।
न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत् ॥"

अधिक रूपमें वैदिक शब्द-युक्त, निपात-प्रचुर और स्वल्प-वाक्य-युक्त ऋषीकोंके वचन हैं।

आर्षिपुत्रकम्—"अविस्पष्टपदप्रायं यच्च स्याद्बहुसंशयम् ।
ऋषिपुत्रवचस्तत्स्यात्ससर्वपरिदेवनम् ॥"

अस्पष्टपदोंसे युक्त, सन्देह-पूर्ण और सभीको रुलाने वाले आर्षी-पुत्रकोंके वचन होते हैं। इनके उदाहरण पुराण-ग्रन्थोंमें मिलते हैं।[3]

तदुदाहरणानि पुराणेभ्य उपलभेत ।

सारस्वताः कवयो नः पूर्वे इत्थङ्कारं कथयन्ति । ब्रह्मविष्णुरुद्रगुहबृहस्पतिभार्गवादिशिष्येषु चतुःषष्टावुपदिष्टं वचः पारमेश्वरम् । क्रमेण च सञ्चरद्देवैर्देवयोनिभिश्च यथामत्युपजीव्यमानं दिव्यमिति व्यपदिश्यते । देवयोनयस्तु—

सरस्वतीके पुत्र पूर्वज कवियोंका कथन है कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कार्तिकेय, बृहस्पति, भार्गव आदि चौंसठ शिष्योंको उपदेश रूपसे कहे हुए वचन पारमेश्वर हैं। वे ही वाक्य-क्रमशः देवताओं तथा अन्य देवजातियोंमें प्रचारित होते हुए और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार प्रयोग किये जाते हुए दिव्य-वाक्य कहे जाते हैं। देव जातिके नाम ये हैं—

---

३. इन वाक्योंके इसी प्रकारके लक्षण विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें आये हैं, जिन्हें राजशेखरने यहाँ परिष्कृत रूपमें संगृहीत किया है।

"विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
सिद्धगुह्यकभूताश्च पिशाचा देवयोनयः ॥"

विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, भूत और पिशाच—ये देवयोनियाँ हैं।

तत्र पिशाचादयः शिवानुचराः स्वभूमौ संस्कृतवादिनः, मर्त्ये तु भूतभाषया व्यवहरन्तो निबन्धनीयाः। अप्सरसस्तु प्राकृतभाषया। तद्दिव्यं वचश्चतुर्द्धा। वैबुधं वैद्याधरं गान्धर्वं योगिनीगतं च। शेषाणामेतेष्वेवोपलक्षणं प्रकृतिसादृश्येन। तत्र वैबुधम्—

इनमें पिशाच आदि शिवके अनुयायी अपनी भूमि—शिवलोक—में संस्कृत भाषाका व्यवहार करते हैं। यदि इन्हें मर्त्यलोकमें बोलना हो तो भूतभाषाका प्रयोग कविको कराना चाहिए और अप्सराओंको प्राकृत भाषाका। दिव्य-वचन चार प्रकारके होते हैं—१. वैबुध, २. वैद्याधर, ३. गान्धर्व और ४. योगिनीगत। शेष देव जातियोंको प्रकृतिकी समानता देखकर इनमें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिए।

वैबुध अर्थात् देवताओंके वचनका स्वरूप—

"समासव्याससंदब्धं शृङ्गाराद्भुतसम्भृतं।
सानुप्राससमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम् ॥"

कहीं विस्तृत, कहीं संक्षिप्त, शृंगार और अद्‌भुत रसयुक्त, अनुप्रास-सहित और उदात्त वचन देवताओंके होते हैं। जैसे—

यथा—"यच्चन्द्रकोटिकरकोरकभारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटाकुहरे हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
झात्कारडम्बरविरावि सुरापगाम्भः ॥"

जो चन्द्र-कलाकी किरण-कलिकाओंके भारतसे गुथे हुए शिवके पिंगलवर्ण जटा-कुहरमें चक्कर लगाता है, वह हिमालय पर्वतके शिला-कुंजोंमें झांकार-ध्वनि करता हुआ देव-सरित् गंगाका जल आपको पवित्र करे।[४]

वैद्याधरम्—"स्तोकानुप्राससच्छायं चतुरोक्तिप्रसादि च।
द्राघीयसा समासेन विद्धि वैद्याधरं वचः ॥"

---

४. इस उदाहरणमें 'चन्द्रकोटि' 'हिमशैल' आदि समासयुक्त लम्बे पद हैं, 'बभ्राम, बभ्रुणि, हरस्य' आदि व्यस्त पद भी हैं, रकार, ककार, शकार और हकार आदि अक्षरोंका मधुर अनुप्रास भी है तथा गङ्गाका शिवकी जटामें स्वच्छन्द भ्रमण और हिमालयके कुञ्जोंमें औद्धत्य—यह उदारता है। इसी प्रकार अन्य वचनोंमें लक्षण-सङ्गति कर लेनी चाहिए।

विद्याधरोंका वचन कुछ अनुप्रासकी छटा लिए सुन्दर उक्तियों एवं प्रसाद गुण-युक्त लम्बे समासों वाला होता है। जैसे—

यथा—"प्रणतसुरकिरीटप्रांशुरत्नांशुवंश-
च्छुरितनखशिखाग्रोद्भासमानारुणाङ्घ्रे ।
उदिततरणिवृन्दोद्दामधामोर्ध्वनेत्र-
ज्वलननिकरदग्धानङ्गमूर्ते नमस्ते ।"

प्रणाम करते हुए देवताओंके मुकुटमें जड़े हुए उत्कृष्ट रत्नोंकी विचित्र ज्योतिसे चित्रित-नखोंकी किरणमालासे चमकते चरणों वाले और उदीयमान सूर्य-मण्डलके प्रचण्ड तेजके समान प्रखर तृतीय नेत्रसे निकलती हुई अग्नि-ज्वालासे कामदेवके शरीरको भस्म करनेवाले हे शिव ! तुम्हें प्रणाम है।

इस पद्यमें कुछ अनुप्रास है और प्रसाद गुणवाले लम्बे पद भी हैं। उक्तियाँ भी मनोहर हैं।

यथा वा--"भ्रमति भ्रमरकरम्बितनन्दनवनचम्पकस्तवकगौरः ।
वात्याहत इव वियति स्फुटलक्ष्मा रोहिणीरमणः ॥"

दूसरा उदाहरण—

भ्रमरोंसे घिरे हुए नन्दन-वनके चम्पक-गुच्छके समान स्वच्छ और स्पष्ट कलंक-युक्त रोहिणी-रमण चन्द्रमा आकाशमें वायुसे उड़ाया हुआ-सा घूम रहा है।

गान्धर्वम्--"ह्रस्वैः समासैर्भूयोभिर्विभूषितपदोच्चया ।
तत्त्वार्थग्रथनग्राह्या गन्धर्वाणां सरस्वती ॥"

गन्धर्वोंके वाक्य, छोटे-छोटे समासवाले, अनेक पदोंसे सुसज्जित और मुख्य अर्थका गुंफन होनेके कारण आकर्षक होते हैं। जैसे—

यथा--"नमः शिवाय सोमाय सगणाय ससूनवे ।
सवृषव्यालशूलाय सकपालाय सेन्दवे ॥"

उमा-सहित, गणोंके सहित, पुत्रके सहित, नन्दी, सर्प और त्रिशूलके सहित एवं कपालके सहित शंकरको प्रणाम है।

योगिनीगतम्—"समासरूपकप्रायं गम्भीरार्थपदक्रमं ।
सिद्धान्तसमयस्थायि योगिनीनामिदं वचः ॥"

योगिनियोंके वचन, समास और रूपकसे युक्त, गम्भीर अर्थवाले पदोंसे गुंफित तथा कविसमयके सिद्धान्तका अनुसरणकरने वाले होते हैं। जैसे—

यथा— "दुःखेन्धनैकदहनामृतवर्षमेघ
संसारकूपपतनैककरावलम्ब ।
योगीन्द्रदर्पण जगद्गतकृत्स्नतेजः
प्रत्यक्षचौरवर वीरपते नमस्ते ॥"

हे दुःखरूप इन्धनको भस्म करनेमें अग्निरूप ! अमृत-वर्षा करनेवाले मेघ ! संसार-कूपमें गिरते हुए के लिए एकमात्र करावलम्बन ! योगीन्द्रोंके दर्पण ! समूचे जगत्‌को तेजसे व्याप्त करने वाले ! प्रत्यक्ष चोर ! और हे वीरोंके स्वामी ! तुम्हें प्रणाम है ।

इस उदाहरणमे प्रायः सभी पद समास-युक्त हैं । दुःखमें इंधनका आरोप, राजामें उसके नाशक अग्निका आरोप, संसारमें कूपका आरोप आदि रूपकालंकार भी हैं । इस प्रकारका रूपक कवि-सम्प्रदायके सिद्धान्तानुरूप होता है ।

महाप्रभावत्वाद्भौजङ्गममपि दिव्यमित्युपचर्यते ।

अतिशय प्रभावशाली होनेके कारण भौजङ्गम अर्थात् सर्प-सम्बन्धी वचन भी दिव्य वचनोंमें ही समझे जाते हैं ।

"प्रसन्नमधुरोदात्तसमासव्यासभागवत् ।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम् ॥"

'सर्पोंके वाक्य, प्रसाद और माधुर्यगुणवाले, उदात्त, संक्षेप एवं विस्तारके विभागसे युक्त तथा प्रायः मृदुल पदोंवाले होते हैं । जैसे—

यथा— "सुसर्जितां श्रोत्रसुखां सुरूपा-
मनेकरत्नोज्ज्वलचित्रिताङ्गीं ।
विद्याधरेन्द्रः प्रतिगृह्य वीणां
पिनाकिने गायति मंगलानि ॥"

विद्याधरोंका राजा, सुन्दर बनी हुई, कर्ण-मधुर, दर्शनीय और अनेक रंग-विरंगे रत्नोंसे जड़ी हुई वीणाको गोदमें रखकर शिवजीका मंगल-गान कर रहा है ।

"किमर्थं पुनरनुपदेश्ययोर्ब्राह्मपारमेश्वरयोर्वाक्यमार्गयोरुपन्यासः ?" इत्याचार्याः । "सोऽपि कवीनामुपदेशपरः" इति यायावरीयः । यतो नाटकादावीश्वरादीनां देवानां च प्रवेशे तच्छायावन्ति वाक्यानि विधेयानीति दिव्यम् ।

आचार्योंका प्रश्न है कि ब्राह्म और पारमेश्वर वचनोंका उपदेश और प्रयोग तो किया ही नहीं जाता । इसलिए यहाँ उसकी चर्चा क्यों की गई ? यायावरीय राज-

शेखरका उत्तर है कि ब्राह्म और पारमेश्वर वचन भी कवियोंके लिए उपदेश करते हैं; क्योंकि नाट्य-रचनामें ईश्वरों या देवताओंका प्रवेश होनेपर उनकी प्रकृतिके अनुरूप वाक्योंका प्रयोग करना कविके लिए आवश्यक होता है।

इह हि प्रायो वादो यदुत मर्त्यावतारव्यवहाररुचेर्भगवतो वासुदेवस्य वचो वैष्णवं तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रयभेदेन। तदाहुः—

प्रायः ऐसी किंवदन्ती है कि मर्त्य-लोकमें मनुष्य रूपसे अवतीर्ण भगवान् वासुदेवका वचन वैष्णव कहा जाता है। उसे मानुष वचन भी कहते हैं। यह मानुषवाक्य तीन रीतियोंके[५] कारण तीन प्रकारका है। जैसा कि कहा गया है—

"वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्रः।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते॥"
रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति॥

वैदर्भी, गौड़ीया और पाञ्चाली—ये तीन रीतियाँ हैं। इन रीतियोंमें सरस्वती साक्षात् निवास करती हुई-सी प्रतीत होती है। इन तीनों रीतियों वाले वाक्योंको काकु अनेक प्रकारका बना देती है।

काकु-निरूपण

'काकु' यह संस्कृतका स्त्रीलिंग शब्द है। यह हर्ष, शोक, भय, आश्चर्य, क्रोध, द्वेष आदि मानसिक भावोंके अनुकूल उच्चारण या बोलने की ध्वनिविशेष है। जिसके लिए अंग्रेजीका 'टोन' शब्द प्रचलित है। एक ही वाक्य विविध भावोंके कारण विभिन्न ध्वनियोंमें बोला जाता है। इसे ही काकु कहते हैं।

"काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दाऽलङ्कारोयम्" इति रुद्रटः॥ "अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः, स कथमलङ्कारी स्यात्?" इति यायावरीयः।

आचार्य रुद्रटका मत है कि काकु, यह वक्रोक्ति नामका एक अलङ्कार है[६]। राजशेखर कहते हैं कि काकु नामक एक साभिप्राय पठन-धर्म अर्थात् पढ़नेका या बोलने का प्रकार है। वह अलंकार कैसे हो सकता है?

---

५. रीतियोंकी विस्तृत मीमांसाके लिये राजशेखरने पृथक् अधिकरण-रचना की है। वामनके मतानुसार तीन रीतियाँ हैं। रुद्रट आदि आलङ्कारिकोंने 'लाटी' नामक चौथी रीति भी मानी है। राजशेखरने वामनके मतका अनुसरण किया है। रीति नाम रचनाशैली (Style) का है। इसका विशेष विवरण देखिए—वामन: काव्यालङ्कार, १-२-१७।

६. देखिए—रुद्रट: काव्यालङ्कार, २-१६।

सा च द्विधा साकांक्षा निराकांक्षा च । वाक्यान्तराकांक्षिणी साकांक्षा, वाक्योत्तरभाविनी निराकांक्षा । तदेव वाक्यं काकुविशेषेण साकांक्षम् । तदेव काक्वन्तरेण निराकांक्षम् । आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा, वितर्कगर्भा चेति साकांक्षा । विधिरूपा, उत्तररूपा, निर्णयरूपेति निराकांक्षा ।

काकु दो प्रकार की है—साकांक्षा और निराकांक्षा[७] । दूसरे वाक्यकी आकांक्षा करने वाली काकु साकांक्षा है और वाक्यका उत्तर हो जाने पर वह निराकांक्षा हो जाती है । अर्थात् एक ही वाक्य काकु-ध्वनि-विशेषसे साकांक्ष और निराकांक्ष भी हो जाता है । साकांक्षा काकु तीन प्रकारकी है—आक्षेप-गर्भा, प्रश्न-गर्भा और वितर्क-गर्भा । निराकांक्षा काकु भी तीन प्रकारकी है—विधि-रूपा, उत्तररूपा और निर्णयरूपा ।

तत्राक्षेपगर्भा—

"यदि मे वल्लभा दूती तदाऽहमपि वल्लभा ।
यदि तस्याः प्रिया वाचः तन्ममाऽपि प्रियप्रियाः ॥"

आक्षेप-गर्भा काकुका उदाहरण—

नायिकाकी सखियोंके प्रति उक्ति—यदि उसे (नायकको) मेरी भेजी हुई दूती प्यारी है तो मैं भी उसे प्यारी हूँ, और यदि उसे मेरी दूतीके वचन प्यारे लगते हैं तो मेरे वचन भी प्यारे लगते होंगे ।

यहाँ काकुसे यह ध्वनि-निकलती है कि जिसे मेरी दूती प्यारी है, उसे मैं कैसे प्रिय हो सकती हूँ ?

एवमेव निर्देष्टुर्विधिरूपा ।

यदि इसी वाक्यको सरल निर्देश रूपसे कहा जाय तो यह विधान किया जाता है कि उसे मेरी दूती और मेरे वचन दोनों प्रिय हैं ।

प्रश्नगर्भा—

"गतः स कालो यत्रासीन्मुक्तानां जन्म वल्लिषु ।
वर्त्तन्ते साम्प्रतं तासां हेतवः शुक्तिसम्पुटाः ॥"

प्रश्न-गर्भा काकुका उदाहरण—

वह समय चला गया, जब लताओंमें मोती लगते थे । अब तो उनका (मोतियोंका) जन्म सीपियोंके सम्पुटमें होता है[८] ।

---

७. नाट्यशास्त्रमें भी दो प्रकारके काकुका वर्णन है । देखिए–भरत : नाट्यशास्त्र, अ०–१७ ।

८. देखिए—राजशेखर : बालरामायण, ३–२ ।

इयमेवोपदेष्टुरुत्तररूपा ।

यहाँ 'क्या वह समय चला गया ?' यह प्रश्न-गर्भा साकांक्षा काकु है । यदि इसे उपदेश वाक्य माना जाय कि 'चला ही गया' तो उत्तररूपा निराकांक्षा काकु प्रतीत होती है ।

वितर्कगर्भा—"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥"

वितर्क-गर्भा साकांक्षा काकुका उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय नाटकमें विरही पुरुरवाकी उक्ति—क्या यह कृष्ण-वर्ण नवीन मेघ उमड़ रहा है ? यह राक्षस नहीं है ? क्या यह दूर तक खिंचा हुआ इन्द्रधनुष है ? यह बाण मारनेवाला कामधनुष नहीं ? क्या यह प्रबल जलधारा बरस रही है ? यह बाणोंकी वर्षा नहीं है ? क्या यह कसौटी पर खिंची हुई सुवर्ण-रेखाके समान विद्युत है ? मेरी प्यारी उर्वशी नहीं[1] ?

इयमेवोपदेष्टुर्निर्णयरूपा । ता इमास्तिस्रोऽपि नियतनिबन्धाः । तद्विपरीताः पुनरनन्ताः ।

यहाँ 'यह नव जलधर है या राक्षस' ? इत्यादि वितर्कोंसे यह वाक्य वितर्क-गर्भा साकांक्षा काकुका उदाहरण है । परन्तु ध्वनिका परिवर्तन करनेसे यह निर्णय-रूपा निराकांक्षा काकु हो जाती है कि 'यह जलधर है, राक्षस नहीं'; इन्द्रधनुष है, कामधनुष नहीं'; 'जलवृष्टि है, बाणवर्षा नहीं;' और 'यह बिजली है उर्वशी नहीं ।'

ये तीनों काकु नियम-नियंत्रित हैं । अनियंत्रित काकु असंख्य होती हैं । उनमें अभ्युपगमानुनय काकुका उदाहरण—

तत्राभ्युपगमानुनयकाकू—

"युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममाऽसि न गुरुर्नाऽहं विधेयस्तव ॥"

क्रोधसे अधीर भीमसेनकी युधिष्ठिरके प्रति उक्ति—हे युधिष्ठिर ! आजतक मैं तुम्हारे आज्ञोल्लंघन रूपी जलमें डूबा हुआ निष्क्रिय था और समर्थ छोटे भाइयोंसे भी तिरस्कार सहन करता रहा; लेकिन क्रोधसे उठी हुई शत्रुओंके रक्तसे रंजित इस

१. देखिए—कालिदास : विक्रमोर्वशीय ।

गदाको लेकर कौरवोंका नाश करता हुआ मैं आज एक दिनके लिए न तो तुम्हारा आज्ञापालक छोटा भाई हूँ और न तुम मेरे शासक बड़े भाई हो।[१०]

यहाँ पर 'मैं दबा हुआ बैठा था' 'भाईयोंसे तिरस्कार प्राप्त करता रहा'—यह अभ्युपगम काकु है। और 'केवल आज ही के लिए तुम मेरे बड़े भाई नहीं हो' तथा 'मैं तुम्हारा आज्ञाकारी छोटा भाई नहीं हूँ'—यह अनुनय काकु है। अर्थात् आजके बाद कलसे तुम फिर मेरे स्वामी और मैं तुम्हारा दास हूँ—यह ध्वनि निकलती है।

अभ्यनुज्ञोपहासकाकू—"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिवाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥"

अभ्यनुज्ञोपहास काकुका उदाहरण—

युधिष्ठिरको दुर्योधनके साथ सन्धि-प्रस्ताव करते हुए सुनकर छोटे भाइयोंके प्रति भीमसेनकी उक्तिः—मैं युद्ध-भूमिमें सौ कौरवोंको न मारूँ, दुःशासनकी छातीसे रक्त निकालकर न पीऊँ, गदासे दुर्योधनकी जंघाको चूर्ण न करूँ और तुम्हारा राजा युधिष्ठिर पण (शर्त) के साथ कौरवोंसे सन्धि करे[११]!

यहाँ 'प्रतिज्ञा करके भी मैं कुरुकुलका क्षय न करूँ' इत्यादि वाक्योंसे अभ्यनुज्ञाकाकुकी प्रतीति होती है और 'तुम्हारा राजा' इसमें उपहास-काकु है।

एवं त्रिचतुरकाकुयोगोऽपि।

इसी प्रकार एक ही वाक्यमें तीन-चार काकुओंका योग भी होता है।

तत्र त्रियोगः—"सेयं पश्यति नो कुरङ्गकवधूस्त्रस्तैवमुद्वीक्षते
तस्याः पाणिरयं न मारुतवलत्पत्रांगुलिः पल्लवः।
तारं रोदिति सैव नैष मरुता वेणुः समापूर्यते
सेयं मामभिभाषते प्रियतमा नो कोकिलः कूजति॥"

तीनोंके योगका उदाहरण—

विरही पुरुरवाकी उक्ति—यह तो वही मेरी प्रियतमा कातर दृष्टिसे देख रही है, हरिणी नहीं! यह उसीका हाथ है, पवनसे हिलाया हुआ नव पल्लव नहीं! यह वही ऊँचे स्वरसे रो रही है, वायुसे बजते हुए बाँसोंकी ध्वनि नहीं! और यह वही प्रियतमा मुझसे बातें कर रही है, कोयल की कूक नहीं!

यहाँ पहिले प्रश्नरूप वितर्क-गर्भा काकु है। उपदेश (निश्चय) रूपमें यही निर्णय-गर्भा हो जाती है। इसी प्रकार चार काकुके योगका उदाहरण—

१०. देखिए—भट्ट नारायण : वेणीसंहार, १-१२।

११. देखिए—भट्ट नारायण : वेणीसंहार, १-१५।

चतुर्योगः—उच्यतां स वचनीयमशेषं
नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा
विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥"

नायिकाकी सखिके प्रति उक्ति—हे सखि ! उसे जो भी कुछ भला-बुरा कहना है, कह देना; किन्तु सखि, स्वामीके प्रति कठोरता उचित नहीं; उसे किसी प्रकार मनाकर लाओ; परन्तु मेरे विपरीत कार्य करनेवालेको कैसे मनाया जा सकता है।[१२]

यहाँ 'कहना चाहिए या नहीं', 'विपरीत कार्य करनेवालेको कैसे मनाया जाय', ऐसा निर्देशरूपमें दो और उपदेशरूपमें दो—इस प्रकार चार काकु हैं। ऊपरके उदाहरणमें सखीके वाक्यमें और नायिकाके वाक्यमें काकु है। अनन्तर सखी और नायिकाके वाक्यमें अथवा अनेक सखियोंके वाक्योंमें काकु है।

"सख्या वा नायिकाया वा सखीनायिकयोरथ ।
सखीनां भूयसीनां वा वाक्ये काकुरिह स्थिता ॥

काकुका प्रयोग प्रायः सखीके, नायिकाके, सखी और नायिकाके या बहुत-सी नायिकाओंके अथवा सखियोंके वाक्योंमें होता है।

पदवाक्यविदां मार्गो योऽन्यथैव व्यवस्थितः ।
स त्वंगाभिनयो द्योत्या (नयद्योत्यः ?) तं काकुः कुरुतेऽन्यथा ॥

पद और वाक्य (व्याकरण और मीमांसा) के वेत्ताओंका दूसरा ही मार्ग है। वे अंगोंके अभिनयसे काकुका कार्य करते हैं; किन्तु काकु उसे अन्यथा कर देता है।

अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलं ।
शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येष जीवितम् ॥

यह काकुका प्रयोग केवल लोकमें ही नहीं होता। शास्त्रोंमें भी इसका साम्राज्य है[१३] और काव्यका तो यह जीवन (चमत्कारकारी होनेके कारण) ही है।

कामं विवृणुते काकुरर्थान्तरमतन्द्रिता ।
स्फुटीकरोति तु सतां भावाभिनयचातुरीम् ॥

---

१२. देखिए—भारवि : किरातार्जुनीय, ९-३९. इस श्लोकमें रौक्ष्य, प्रतिबोधन, औत्सुक्य और निर्वेद चार प्रकारके काकु हैं।

१३. वेद मन्त्रोंमें भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं; जहाँ स्वर विशेषके अल्प परिवर्तनसे दूसरे अर्थकी प्रतीति होती है।

उचित रूपसे प्रयुक्त काकु द्वारा सन्देह और विलम्बके बिना दूसरे अर्थकी प्रतीति होती है। काकु, चतुर व्यक्तियोंकी भावनाको व्यक्त या स्पष्ट करता है।

इत्थं कविर्निबध्नीयादित्थं च मतिमान्पठेत्।
यथा निबन्धनिगदश्छायां काञ्चिन्निषिञ्चति ॥

काव्य-रचनामें कविको काकुवाले वाक्योंका ऐसा प्रयोग करना चाहिए और बुद्धिमान्‌को उसे ऐसे स्वरसे पढ़ना चाहिए कि निबन्धका भाव स्पष्ट रूपसे चमत्कारी प्रतीत हो।

पाठ-प्रतिष्ठा

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती ॥

काव्य-रचना करनेमें निपुण कवि जैसे-तैसे काव्य-रचना तो कर लेता है; लेकिन कविता-पाठ करना उसे ही आता है, जिसे सरस्वती सिद्ध हो। अर्थात् उसका (काव्यका) पढ़ना सभी नहीं जानते। इस विषयमें संगृहीत श्लोक उद्‌धृत किये जाते हैं।

यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता।
तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥

जैसे पूर्वजन्मके संस्कारसे किसीका गला सुरीला होता है, उसी प्रकार काव्य-पाठका सौन्दर्य भी अनेक जन्मके अभ्याससे प्राप्त होता है।

ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिङ्गितं पठेत्।
प्राकृतं भूतभाषां च सौष्ठवोत्तरमुद्गिरेत् ॥

संस्कृत और अपभ्रंश भाषाकी कविताको लालित्यके साथ पढ़ना चाहिए और प्राकृत तथा भूत-भाषाको उत्तरोत्तर सौन्दर्यवृद्धिके साथ पढ़ना चाहिए।

प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम् ॥

प्रसाद गुणवाली कविताको गम्भीरताके साथ और ओजमयी कविताको ऊँचे स्वरसे। उभय गुणवाली रचनाको आवश्यकतानुसार गम्भीर और उच्च स्वरसे पढ़ना चाहिए।

ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ॥

ललित स्वरसे, काकुसे युक्त, सुस्पष्ट, अर्थके अनुसार विराम करते हुए, कर्ण-मधुर ध्वनिसे और एक-एक अक्षरको स्पष्ट रूपसे पढ़ना प्रशंसनीय कहा गया है।

अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादं च नादहीनं च।
अपदच्छिन्नमनावृतमतिमृदुपरुषं च निन्दति॥

अतिशीघ्र या अतिविलंबसे, बहुत जोरसे या चिल्लाकर अथवा अतिमन्द स्वरसे, बिना पदच्छेद किये हुए एवं अतिमृदुता या अतिकठोरतासे पढ़ना निन्दनीय कहा जाता है।

गम्भीरत्वमनैश्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः॥

गम्भीरता, सस्वरता, ऊँचे-नीचे स्वरका भली-भाँति निर्वाह और संयुक्ताक्षरोंके पढ़नेमें लावण्य—ये पाठकके गुण हैं।

यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभिश्च न पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥

अक्षरोंका उच्चारण ऐसे ढंगसे करना चाहिए, जैसे व्याघ्री कोमल बच्चोंको दाँतोंसे पकड़ते हुए भी उन्हें गिरने और कटनेसे बचाती है।

विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥

जिस पाठमें विभक्तियाँ स्पष्ट रूपसे प्रतीत हों, समास भी स्पष्ट प्रतीत हों और पदोंकी सन्धियाँ भी अस्पष्ट न हों, वह पाठ उत्तम कहा जाता है।

न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदां तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥

विद्वान्‌को चाहिए कि पृथक् पदोंको एक साथ मिलाकर न पढ़े, समासवाले पदोंको पृथक्-पृथक् न पढ़े और क्रियापदोंका स्पष्ट रूपसे उच्चारण करे।

आगोपालकमायोषिदास्तामेतस्य लेह्यता।
इत्थं कविः पठन्काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः॥

जो ग्वालेसे लेकर स्त्रियों तकको आकर्षक या रुचिकर हो, ऐसा काव्यपाठ करनेवाला कवि सरस्वतीका परमप्रिय होता है।

येऽपि शब्दविदो नैव नैव चार्थविचक्षणाः ।
तेषामपि सतां पाठः सुष्ठु कर्णरसायनम् ॥

विद्वानोंका पाठ, जिन्हें न तो शब्दज्ञान है और न अर्थज्ञान, उनके लिए भी कर्ण-मधुर होता है ।

भिन्न-भिन्न देशोंकी पाठ-प्रणाली

पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि ते ।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः ॥

वाराणसीसे पूर्व मगध आदि देशोंके कवि, संस्कृत-काव्योंको तो सुन्दर ढंगसे पढ़ते हैं; परन्तु प्राकृत-कविता-पाठमें वे कुंठित ही रहते हैं ।

आह स्म—ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती ॥

कहा जाता है—

सरस्वतीने अपने अधिकारको छोड़नेके लिए ब्रह्मासे निवेदन किया कि महाराज ! या तो गौड़-देश-वासी प्राकृत भाषाका पढ़ना छोड़ दें, या मेरे स्थान पर दूसरी सरस्वतीको नियुक्त किया जाय । तात्पर्य यह है कि गौड़-देश-वासी प्राकृत-भाषाकी कविताको पढ़ना नहीं जानते या उनका पाठ विस्वर और कर्णकटु होता है ।

नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रुक्षो नातिकोमलः ।
न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाडवः ॥

गौड़देश-वासी विद्वानोंका पाठक्रम सभी प्रकार मध्यम होता है । वे न अति स्पष्ट और न अति अस्पष्ट, न रुक्ष और न अति कोमल एवं न अति ऊँचे स्वरसे और न गम्भीर स्वरसे पढ़ते हैं ।

रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः ।
सगर्वं सर्वकर्णाटाष्टंकारोत्तरपाठिनः ॥

कर्णाट देशके कवियोंका पाठक्रम, अत्यन्त स्पष्ट-अर्थात् टंटनाहटके साथ होता है । कोई भी रीति हो, कोई भी रस हो या कोई भी गुण हो, वे सर्वत्र बड़ी कड़कड़ाहटके साथ गर्वान्वित होकर काव्य-पाठ करते हैं ।

गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि ।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः ॥

द्रविड़ देशके कवि-काव्यमर्मज्ञ होते हुए भी गद्य, पद्य या मिश्र भाषा—सभीको गाकर पढ़ते हैं ।

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥

लाट देशके कवि, संस्कृतके शत्रु होते हैं; परन्तु प्राकृत-भाषाके काव्योंको सुन्दरताके साथ पढ़ते हैं। पढ़नेके समय उनका जिह्वा-संचालन, ललित उच्चारणके कारण बहुत सुन्दर प्रतीत होता है। अर्थात् वे संस्कृत पढ़नेमें दक्ष नहीं होते, प्राकृतमें उनका उच्चारण मधुर होता है।

सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

सौराष्ट्र, गुर्जर, त्रवण—आदि देशोंके कवि, अपभ्रंश तथा संस्कृत दोनों भाषाओंकी कविताओंको सुन्दर और स्पष्ट रूपसे पढ़ते हैं।

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः।
कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु!॥

शारदाकी कृपासे काश्मीरके कवि, कवि तो अच्छे होते हैं; किन्तु उनका काव्य-पाठ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कानोंमें गुरुचके रसका कुल्ला किया जा रहा हो। अर्थात् उनका कविता-पाठ अतिशय कर्ण-कटु होता है।

ततः पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः॥

इसके आगे उत्तरापथके कवि, व्याकरण-शास्त्रके कितने ही विद्वान् और सुसंस्कृत क्यों न हों; लेकिन वे सानुनासिक पाठ ही करते हैं।

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

पांचाल देशके कवियोंका पाठ अत्यन्त मधुर होता है। वे नियमानुसार समुचित ध्वनिसे सम्पूर्ण वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करते हैं और उचित स्थानोंपर विश्राम करते हैं। उनका पाठ कानोंमें मधु बरसाता है।

ललल्लकारया जिह्मं जर्जरस्फाररेफया।
गिरा भुजङ्गाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु॥

लकारको जोरके साथ और पूरे रकारको अर्ध रेफके समान पढ़नेवाले सर्पोंके समान कठोर नैयायिक और वैयाकरण समाजमें भले ही आदरणीय माने जाते हों;

किन्तु काव्यकोमल बुद्धिवाले कवियोंकी आदर कोमल, मधुर और सुन्दर उच्चारणके कारण ही होता है।

पञ्चस्थानसमुद्भववर्णेषु यथास्वरूपनिष्पत्तिः ।
अर्थवशेन च विरतिः सर्वस्वमिदं हि पाठस्य ॥"

वर्णोंके पाँच स्थान हैं:—[14] स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान। इन पाँचोंसे उत्पन्न वर्णोंका समुचित रूपसे उच्चारण होना और अर्थके अनुरोधसे विराम (यति) होना, यही पाठका रहस्य है।

सकाकुकलना पाठप्रतिष्ठेयं प्रतिष्ठिता ।
अर्थानुशासनस्याथ प्रकारः परिकीर्त्यते ॥

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः

इस प्रकार इस अध्यायमें काकु विवेचनके साथ पठन प्रकारोंका समीक्षण किया गया है। अब अगले अध्यायमें अर्थ-सम्बन्धी विवेचन किया जायगा।

सप्तम अध्याय समाप्त



१४. वर्णोत्पत्तिके पाँच स्थानोंका विवरण प्राचीन ग्रन्थोंमें इसप्रकार किया गया है :—
'स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुः'।

अष्टमोऽध्यायः काव्यार्थयोनयः ।

अष्टम अध्याय : काव्यार्थके स्रोत

विगत सात अध्यायोंमें काव्य-पुरुषकी विवेचना की गई है। अब यहाँसे काव्यमें वर्णनीय अर्थ या विषय कैसे होते हैं और वे कहाँसे प्राप्त होते हैं?—इत्यादि विषयोंका विवेचन किया जायगा। इस अध्यायमें काव्यकी योनियाँ अर्थात् काव्यके स्रोत बताये जाएँगे।

"श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः। "उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश" इति यायावरीयः।

काव्य-रचनाके लिए विषय या अर्थ-प्राप्तिके प्रधानतः बारह स्रोत बताये गये हैं। वे ये हैं:—१. वेद, २. स्मृति (मनु आदि धर्मशास्त्र) ३. इतिहास, ४. पुराण, ५. प्रमाण-विद्या (मीमांसा और छः प्रकारका तर्क-शास्त्र), ६. राजसिद्धान्त-त्रयी अर्थात् अर्थ-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और काम-शास्त्र, ७. लोक (सांसारिक या व्यावहारिक वृत्त), ८. विरचना (अन्यान्य कवियोंकी रचनाएँ काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि) और ९. प्रकीर्णक, (चौंसठ कलाएँ, आवश्यक आयुर्वेद, ज्यौतिष, वृक्ष-शास्त्र, अश्व-गज-लक्षण आदि)। यह प्राचीन आचार्योंका मत है। यायावरीय राजशेखरका मत है कि इनमें चार और मिला कर सोलह काव्यार्थ-स्रोत हैं[1]। वे चार हैं—१. उचित-संयोग, २. योक्तृ-संयोग, ३. उत्पाद्य-संयोग और ४. संयोग-विकार। इनका स्पष्टीकरण यथावसर आगे किया जायगा।

तत्र श्रौतः।

इन सोलह काव्यार्थ-स्रोतोंमें प्रथम श्रुति या वेद है। उसका उदाहरण—

"उर्वशीहाप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे"। अत्रार्थे—

वेद (ऐतरेय[2] ब्राह्मण) में कहा गया है कि 'उर्वशी—अप्सराने इडा या इलाके पुत्र पुरूरवा नामक राजाकी' कामना की अर्थात् उसके प्रणयकी इच्छा की—इस आधारपर की गई काव्यरचना—

---

१. भरत, भामह, वामन, रुद्रट आदि प्राचीन आलङ्कारिक विद्वानोंने तथा क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, वाग्भट आदि राजशेखरसे अर्वाचीन विद्वानोंने इस सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन किया है। भामहने तो लिखा है—'न स शब्दः, न तद् वाच्यं, न स न्यायः, न सा कला, जायते यन्न काव्याङ्गम्—काव्यालङ्कार, ५–४।

२. देखिए—शतपथ ब्राह्मण, ५–१–२।

"चन्द्राद् बुधः समभवद्भगवान्नरेन्द्र-
माद्यं पुरूरवसमैडमसावसूत ।
तं चाप्सराः स्मरवती चकमे किमन्य-
दत्रोर्वशी स्मितवशीकृतशक्रचेताः ॥"

चन्द्रमासे बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, बुधने इला नामकी पत्नीसे पुरूरवाको उत्पन्न किया; जो चन्द्रवंशका प्रथम प्रवर्तक राजा था। उसके सौन्दर्यके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने मधुर स्मितसे इन्द्रका चित्त चुरानेवाली अप्सरा (स्वर्गीय वेश्या) उर्वशी भी कामातुर होकर उसपर आसक्त हो गई।

यथा वा—"यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।"

इसी प्रकार तैत्तिरेय-आरण्यकके चौदहवें अनुवाकमें सूर्य-मण्डलमें परब्रह्मोपासनाका वर्णन है:[3]—यह जो आकाशमें दीखता हुआ सूर्य-मण्डल तप रहा है। वह उक्थ नामक महान् साम है। उस मंडलमें ऋचाएँ हैं। वह मण्डल ऋचाओंके अभिमानी देवताओंका लोक (निवासस्थान) है। उस मण्डलमें जो किरणें देदीप्यमान हो रहीं हैं, वे साम हैं, वे महाव्रत हैं, वे अर्चिस्वरूप हैं, वह सामवेदके अभिमानी देवताओंका निवास है और इस मंडलमें जो पुरुष है, वह अग्नि है। वे यजुष् हैं। उनमें यजुषोंके अभिमानी देवताओंका निवास है। इस प्रकार मण्डल, किरण और पुरुष—ये तीनों ही त्रयी विद्याके रूपमें तपते हैं। अर्थात् इन्हींका नाम त्रयी विद्या है।

अत्रार्थे—"एतद्यन्मण्डलं खे तपति दिनकृतस्ता ऋचोऽर्चींषि यानि
द्योतन्ते तानि सामान्ययमपि पुरुषो मण्डलेऽणुर्यजूंषि ।
एवं यं वेद वेदत्रितयमयमयं वेदवेदीसमग्रो
वर्गः स्वर्गापवर्गप्रकृतिरविकृतिः सोऽस्तु सूर्यः श्रिये वः ॥"

इसी वेदार्थको महाकवि मयूर सूर्य-शतकमें काव्य रचनाकी शैलीसे वर्णन करते हैं—

आकाशमें जो यह सूर्य-मण्डल तप रहा है, वह ऋचाएँ हैं, उसकी किरणें साम हैं और मण्डलमें अणुरूपसे बैठा हुआ पुरुष यजुर्वेद है। इस प्रकार यह सूर्य तीनों वेदोंका स्वरूप है। यह सूर्य, वेदोंमें कहे गए सम्पूर्ण धर्म, अर्थ और

३. देखिए—तैत्तिरेय ब्राह्मण, १४ अनुवाक, महानारायणोपनिषद्, १२–२।

कामका समूह है। स्वर्ग तथा मोक्षका मुख्य कारण है। ऐसा यह अविकृत अर्थात् स्वयम्भू सूर्य आपकी श्रीको बढ़ावे[४]।

तच्चेदं वेदहरणं यदित्थं कथयन्ति

इस प्रकार प्राचीन आचार्य वेदार्थ-हरणके सम्बन्धमें कहते हैं—

"नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥"

उस श्रुतिको प्रणाम है; जिस श्रुतिरूपी गौको मन्त्र-द्रष्टा ऋषि, शास्त्रकार और कविजन पद-पदपर दुहते रहते हैं।

स्मार्त्तः—"बह्वर्थेष्वभियुक्तेन सर्वत्र व्यपलापिना।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥"

स्मार्त अर्थका उदाहरण—

अनेक वस्तुओंकी चोरीका अभियुक्त पुरुष, यदि सभी वस्तुओंकी चोरीको स्वीकार न करता हो और चुराई हुई वस्तुओंका कुछ भी अंश उसके पास मिल जाय या अंशमात्रकी चोरीको स्वीकार करले तो वह चोरी किये गये समूची चोरीका दायी होगा[५]।

अत्रार्थे—"हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
सम्भावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते॥"

इस धर्मशास्त्रीय अर्थके आधारपर रचना-कुशल-कवि कालिदास कहते हैं कि—हे हंस! मेरी प्रियतमा पत्नीको दो, तुमने उसकी गतिका हरण किया है। अतः तुम्हीं उसके लिए दायी हो; क्योंकि धर्मशास्त्रका यह नियम है कि चोरीके मालका एक अंश भी यदि किसीके पास मिल जाय तो वह समूची चोरीका दायी होता है। अर्थात् तुम्हारे पास उसकी गति मिल रही है, अतः उसे चुरानेका सम्पूर्ण दायित्व तुम पर है[६]।

ऐतिहासिकः—"न स संकुचितः पन्थाः येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः॥"

---

४. देखिए—मयूरकवि : सूर्यशतक, ३९।

५. देखिए—जीमूतवाहन : व्यवहार-मातृका, पृ० ३११ में नारदवचन, याज्ञवल्क्य व्यवहारकाण्ड और गौतमस्मृति।

६. देखिए—कालिदास : विक्रमोर्वशीय, ४-१७।

ऐतिहासिक अर्थ-हरण—

वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें विलास-वासना-लिप्त सुग्रीवने जब रामसे की हुई अपनी प्रतिज्ञा विस्मृत कर दी और रामचन्द्र प्रतीक्षा करते-करते श्रान्त हो गए, तब उन्होंने लक्ष्मण द्वारा संदेश भेजा—

हे सुग्रीव ! तुम्हारा भाई वाली, जिस मार्गपर चलकर मारा गया है, वह मार्ग अभी बन्द नहीं हुआ है। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहो, वालीके पथका अनुसरण न करो। तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा-भंग करने पर तुम्हें भी वालीके समान मृत्युका आलिंगन करना पड़ेगा[७]।

अत्र—"मदं नवैश्वर्यलवेन लम्भितं
विसृज्य पूर्वः समयो विमृश्यताम्।
जगज्जिघत्सातुरकण्ठपद्धति-
र्न वालिनैवाहततृप्तिरन्तकः ॥"

इस ऐतिहासिक अर्थको कवि काव्यकी भाषामें कहता है—हे सुग्रीव ! नवीन ऐश्वर्यकी प्राप्तिके मदको छोड़कर अपनी पूर्व-प्रतिज्ञाका स्मरण करो। संसारको भक्षण करनेके लिए लालायित कण्ठवाली मृत्यु केवल वालीको भक्षण करके ही तृप्त नहीं हुई है। तात्पर्य यह कि तुम्हें भी भक्षण कर सकती है[८]।

पौराणिकः—"हिरण्यकशिपुर्दैत्यो यां यां स्मित्वाऽभ्युदैक्षत।
भयभ्रान्तैः सुरैश्चक्रे तस्यै तस्यै दिशे नमः ॥"

पौराणिक अर्थ-हरण—

दैत्यराज हिरण्य-कशिपु मुस्कराकर जिस-जिस दिशाकी ओर देखता था; भयसे व्याकुल देवता गण उस-उस दिशाको प्रणाम करते थे[९]।

अत्र—"स सञ्चरिष्णुर्भुवनत्रयेऽपि यां
यदृच्छयाशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्य मुकुटोपलस्खलत्-
करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥"

भागवतके इसी भावको महाकवि माघ शिशुपाल-वधमें वर्णन करते हैं कि वह त्रैलोक्यकी राज-लक्ष्मीका एकमात्र स्वामी हिरण्य-कशिपु भुवनोंकी यात्राके

---

७. देखिए—वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड, अ० २४, श्लो० १८।

८. देखिए—कुमारदास : जानकीहरण, १२-३६।

९. यह अग्निपुराण और वायुपुराणमें भी है। देखिए—वायुपुराण, अ० ६७।

लिए जिस दिशाकी ओर जाता था, उस दिशाको देव-गण अपने मुकुटोंको झुकाकर तीनों काल नमस्कार करते थे [१०]।

अत्राहुः—"श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम् ॥

प्राचीन विद्वानोंने कहा है—

वेदों, उनके अंगों और शाखाओं, इतिहास और पुराणोंके अर्थोंका गुम्फन करना और उनमें वर्णित कथाओंका अनुशीलन या अभ्यास करना कवित्वकी एकमात्र महौषधि है।

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ॥

सत्कवि, विवेक रूपी अँजनसे विशुद्ध इतिहास-पुराण-रूपी आँखोंसे सूक्ष्म तत्त्वोंका अवलोकन करते हैं।

वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कवयो यथा।
स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा ॥"

वैदिक अर्थोंका अनुसरण करके रचना करनेवाले कवि जैसे प्रशंसनीय होते हैं, उसी प्रकार धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणमें वर्णित विषयोंपर रचना करनेवाले कवि भी सराहनीय समझे जाते हैं।

द्विविधः प्रामाणिको मैमांसिकस्तार्किकश्च। तत्र प्रथमः। शब्दस्य सामान्यमभिधेयं विशेषश्चार्थः। अत्र—

प्रामाणिक अर्थ दो प्रकार के होते हैं—मीमांसक और तार्किक। मीमांसा शास्त्रका सिद्धान्त है कि शब्द तो अपने सामान्य अर्थको ही व्यक्त करता है; परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानपर उसका विशेष अर्थ हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी कविको रचना है कि—

"सामान्यवाचि पदमप्यभिधीयमानं
मां प्राप्य जातमभिधेयविशेषनिष्ठं।
स्त्री काचिदित्यभिहिते सततं मनो मे
तामेव वामनयनां विषयीकरोति ॥"

---

१०. देखिए—माघ : शिशुपालवध, २-४६।

सामान्य रूपसे कहा गया स्त्री शब्द, मेरे प्रति विशेष अर्थकी प्रतीति कराता है। 'कोई स्त्री' ऐसा कहने पर मेरा मन अपनी उसी सुलोचना प्रियतमाकी ओर जाता है[११]।

तर्केषु साङ्ख्यीयः—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदृष्टिभिः ॥"

तार्किक अर्थ दो प्रकारके हैं—सांख्य-शास्त्रीय और न्याय-वैशेषिक-शास्त्रीय। उसमें सांख्य-शास्त्रीय अर्थ गीतामें कहा गया है कि—

असत् पदार्थका अस्तित्व नहीं है और सत् पदार्थका अभाव नहीं है। तत्त्व-दर्शी अर्थात् ब्रह्मवेत्ता विद्वानोंने सत् और असत् दोनोंकी मर्यादाको समझा है। अर्थात् सत्, सत् ही है और असत्, असत् ही[१२]।

अत्र—"य एते यज्वानः प्रथितमहसो येऽप्यवनिपा
मृगाक्ष्यो याश्चैताः कृतमपरसंसारकथया।
अमी ये दृश्यन्ते फलकुसुमनम्राश्च तरवो
जगत्येवंरूपा विलसति मृदेषा भगवती ॥"

इस अर्थके आधारपर काव्य-रचनाका उदाहरण—

जंगम-जगत्की बात जाने दीजिए, ये प्रसिद्ध यज्ञकर्ता, प्रसिद्ध प्रतापी राजा, ये सुन्दर मृगलोचनियाँ तथा स्थावर-जगत्में जो ये फल-फूलोंके भारसे लदे हुए वृक्ष दीख रहे हैं, इन सभीमें प्रत्यक्ष रूपसे मृत्तिकाका ही विलास दीखता है। अर्थात् यह समस्त स्थावर-जंगमात्मक जगत् मृत्तिकामय है, मिट्टी है।

अर्थात् मृत्तिकाके ये सारे विकार असत् हैं, मृत्तिका ही सत् है। उसका अभाव नहीं है।

न्यायवैशेषिकीयः—स किंसामग्रीक ईश्वरः कर्त्ता? इति पूर्व-पक्षः निरतिशयैश्वर्यस्य तस्य कर्तृत्वमिति सिद्धान्तः। अत्र—

न्यायशास्त्रमें 'ईश्वर किन-किन सामग्रियोंसे संसारकी रचना करता है'—इस प्रश्नके उत्तरमें यह सिद्धान्त किया गया है कि ईश्वर अकल्पनीय-शक्तिसंपन्न है, उसे सामग्री या सहायताकी आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं कर्ता है।

---

११. मीमांसकोंके मतमें किसी भी पद या शब्दका अर्थ जातिवाचक होता है। जैसे—गौ या मनुष्य कहनेसे संसारके सभी गौ और मनुष्य उसका अर्थ है; एक व्यक्ति नहीं। अर्थात् सभी शब्द जातिवाचक होते हैं। किन्तु इस पद्य में सामान्य स्त्री जातिवाचक शब्द मेरे लिए अपनी विशिष्ट प्रियतमा का सूचक हो गया। इस प्रकार कविने मीमांसादर्शनके सिद्धांत की इस बातको काव्यमें श्रृंगार-रस के अनुकूल बना कर कवि-कौशलका परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य दर्शनोंके उदाहरणमें भी समझना चाहिए।

१२. देखिए—भगवद्गीता, अ० २, श्लोक १६।

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥"

इस प्रश्न और उत्तरका वर्णन शिव-महिम्न-स्तोत्रके प्रणेता शास्त्रकवि पुष्पदन्ताचार्य करते हैं—'हे भगवन् ! अचिन्तनीय-ऐश्वर्य-सम्पन्न तुम्हारे सम्बन्धमें कुछ मूर्ख, संसारको भ्रममें डालनेके लिए यह कुतर्क किया करते हैं कि वह सृष्टिका निर्माता किस इच्छासे, किस शरीरसे, किस उपायसे, किस आधारसे और किस कारण-कलापसे सृष्टिकी रचना करता है'[१३] ?

बौद्धीयः—विवक्षापूर्वा हि शब्दास्तामेव विवक्षां सूचयेयुः ।

बौद्धोंके सिद्धान्तमें शब्द, वक्ताकी इच्छाके सूचक हैं।[१०] अर्थात् वक्ता, जिस इच्छासे शब्दका प्रयोग करता है, वही शब्दका मुख्य अर्थ होता है—

इसी भावको कवि रचना द्वारा स्पष्ट करता है—

अत्र—"भवतु विदितं शब्दा वक्तुर्विवक्षितसूचकाः
स्मरवति यतः कान्ते कान्तां बलात्परिचुम्बति ।
न न न म म मा मा मां स्प्राक्षीर्निषेधपरं वचो
भवति शिथिले मानग्रन्थौ तदेव विधायकम् ॥"

यह तो विदित ही है कि शब्द वक्ताकी इच्छाके सूचक होते हैं; क्योंकि प्रणय-कलहके शान्त होने पर कामातुर नायकने जब बलपूर्वक नायिकाका चुम्बन किया, तब 'नहीं-नहीं, मत-मत, मुझे न छुओ, न छेड़ो,' इत्यादि नायिकाके निषेध करनेवाले शब्द, वस्तुतः विधायक हुए। तात्पर्य यह है कि इन निषेधात्मक शब्दों द्वारा नायिका अपनी आन्तरिक विधिरूप इच्छाको प्रकट करती है ।

यहाँ नायिकाने विधिरूपसे ही निषेध वचनोंका प्रयोग किया है। अतः ये वचन वस्तुतः विधायक हैं ।

लौकायतिकः—भूतेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवत् । अत्र—
"बहुविधमिह साक्षिचिन्तकाः
प्रवदन्त्यन्यमितः कलेवरात् ।

---

१३. देखिए—पुष्पदन्ताचार्य : शिवमहिम्नःस्तोत्र, ५ श्लोक ।

अपि च सुदति ते सचिन्तकाः
प्रलयं यान्ति सहैव चिन्तया ॥"

चार्वाक-मतमें चैतन्य, शरीरसे पृथक् वस्तु नहीं है[१४]। उसके सिद्धान्तमें पाँच महाभूतोंके संयोगसे चैतन्य स्वयं उत्पन्न होता है। जैसे—सुरा-बीजोंके साथ कुछ वस्तुओं का संयोग होनेसे मादकता स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धान्तको कवि-रचनामें कहा गया है कि—हे सुन्दर दाँतोंवाली, बड़े-बड़े दार्शनिक चैतन्य-आत्माको इस शरीरसे भिन्न या पृथक् कहते हैं; किन्तु वे तेरी चिन्ता करनेवाले तो चिन्ताके साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

आर्हतः—शरीरपरिमाण आत्मा, अन्यथा शरीराफल्यमात्मा-फल्यं वा।

जैन दर्शनकारोंका मत है कि प्रत्येक आत्माका परिमाण उसके शरीरके समान है। अर्थात् जितना बड़ा शरीर है, उतनी ही लम्बी उसकी आत्मा भी होती है। चींटीकी आत्मा चींटीके ही परिमाणकी है और हाथीकी आत्मा हाथीके परिमाण की।

अत्र—"शरीरमात्रमात्मानं ये वदन्ति जयन्ति ते।
तच्चुम्बनेऽपि यज्जातः सर्वाङ्गपुलकोऽस्य मे ॥"

इसी सिद्धान्तके अनुसार कवि कहता है—

जो दर्शनकार आत्माको शरीरके समान परिमाणवाला कहते हैं, वे सबसे उत्कृष्ट हैं; क्योंकि उसका चुम्बन करनेसे मेरे समूचे शरीरमें रोमांच हो आया। इससे शरीरमात्र आत्ममय प्रतीत होता है।

सर्वपार्षदत्वात्काव्यविद्यायाः तानिमानन्यांश्चार्थान्व्युत्पत्तये प्रत्यवेक्षेत। आहुश्च—

काव्य-विद्या सभी शास्त्रोंसे अनुगृहीत है। या काव्य-विद्याके उपासक सभी संप्रदायवाले हो सकते हैं। अतः इन उक्त दार्शनिक सिद्धान्तोंके अतिरिक्त कविको अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तोंका प्रत्यवेक्षण भी करना चाहिए। कहा भी है—

"यांस्तर्ककर्कशानर्थान्सूक्तिष्वाद्रियते कविः।
सूर्यांशव इवेन्दौ ते काञ्चिदर्चन्ति कान्तताम् ॥"

---

१४. चार्वाक मतका सिद्धान्त है कि देहसे अतिरिक्त चैतन्य नवीन वस्तु नहीं है। जैसे—महुआ, गुड़ और जल—इनमें पृथक् मद (नशा) नहीं है; किन्तु इन्हें मिलादेने से मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीरमें पृथिवी आदि भूतोंके संपर्क से एक शक्ति उत्पन्न होती है; जिसे चैतन्य कहते हैं।

कवि, जिन तर्क-कर्कश अर्थोंका वर्णन अपनी सूक्तियों द्वारा करता है, वे कठोर अर्थ भी इस प्रकार कोमल और रमणीय हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यकी सन्ताप-दायिनी किरणें चन्द्रमाके रूपमें परिणत होकर शीतल, कोमल और सन्ताप-हारिणी हो जाती हैं।

ज्योतिर्विज्ञान द्वारा यह सिद्ध है कि चन्द्रमा, जलमय और प्रकाश-हीन है। अतः शीतल है। उसमें सूर्यकी किरणें प्रकाश उत्पन्न करती हैं।

समयविद्यासु शैवसिद्धान्तीयः—

साम्प्रदायिक विद्याओंके विषयोंका कवि-रचनामें समावेश करनेके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें सर्वप्रथम शैव-सिद्धान्तका उदाहरण—

"घोरघोरतरातीतब्रह्मविद्याकलातिगः।
परापरपदव्यापी पायाद्वः परमेश्वरः॥"

घोर और घोरतरसे भी अतीत जो ब्रह्म-विद्या, उसकी कलासे भी पर, तथा पर एवं अपर (बड़े-छोटे) सभी स्थानोंमें व्याप्त परमेश्वर (शिव) आपकी रक्षा करें[१५]।

पाञ्चरात्रः—"नाद्यन्तवन्तः कवयः पुराणाः
सूक्ष्मा बृहन्तोऽप्यनुशासितारः।
सर्वज्वरान्घ्नन्तु ममानिरुद्ध-
प्रद्युम्नसङ्कर्षणवासुदेवाः॥"

पाञ्चरात्र (वैष्णव) सिद्धान्तका उदाहरण—

आदि अन्तसे रहित, कवि, प्राचीन, महान् होते हुए भी सूक्ष्म और समस्त जगत्का शासन करनेवाले अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव हमारे सभी प्रकारके ज्वरोंको दूर करें[१६]।

बौद्धसिद्धान्तीयः—"कलिकलुषकृतानि यानि लोके
मयि निपतन्तु विमुच्यतां स लोकः।

---

१५. शैवसिद्धान्तमें क्रमशः ये छः स्तर माने गये हैं—घोर, घोरतर, ब्रह्म, विद्या, कला और परापर। समय नाम धार्मिक-सिद्धान्तका है।

१६. पञ्चरात्र-सिद्धान्त वैष्णव-सम्प्रदायका है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि रात्र शब्दका अर्थ ज्ञान है। वह पाँच प्रकारका है। इसलिए इसका नाम पँचरात्र-सिद्धान्त है। इसके मुख्य आचार्य नारदमुनि माने जाते हैं। कहा जाता है कि इसका उपदेश सात ऋषियोंने किया है, अतः यह सात प्रकारका है। इसमें चार व्यूह हैं—अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण और वासुदेव। ज्वर शब्दका तात्पर्य मानसिक और शारीरिक सन्तापसे है।

मम हि सुचरितेन सर्वसत्त्वाः
परमसुखेन सुखावनीं प्रयान्तु ॥"

करुणा-प्रधान बौद्ध-सिद्धान्तका उदाहरण—

संसारमें प्राणियोंके पापोंसे उत्पन्न जितने भी दुःख या कष्ट हैं, वे सब मुझे प्राप्त हों। प्राणिमात्र उन सब कष्टोंसे मुक्त हों। मेरे जो भी पुण्य-कर्म हैं, उनसे प्राणियोंको सुख प्राप्त हो और वे परम सुखसे सुखधाममें निवास करें।

एवं सिद्धान्तान्तरेष्वपि।

इसी प्रकार अन्यान्य सिद्धान्तोंका अर्थाहरण भी करना चाहिए।

राजसिद्धान्तत्रय्यामर्थशास्त्रीयः—

"शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः
परं प्रत्यावापः फलति कृतसेकस्तरुरिव।
बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराजप्रणिधिभि-
र्दुराराधा लक्ष्मीरनवहितचित्तं छलयति ॥"

तीन प्रकारके राजसिद्धान्तोंमें अर्थ-शास्त्रीय विषयका कवित्वमें वर्णन—

जैसे पहिले जल-सिंचन द्वारा पालित वृक्ष कुछ समयके पश्चात् फल उत्पन्न करता या प्रदान करता है। उसी प्रकार शान्ति और श्रम द्वारा व्यवस्थापित राज्य, राजाको फल-शक्ति प्रदान करता है। राज्य अनेक प्रकारके छलोंसे पूर्ण होते हैं। बिना गुप्तचरोंके उनका सुसंचालन नहीं हो सकता। क्योंकि लक्ष्मीको वशमें करना कठिन कार्य है। वह असावधान और अव्यवस्थित-चित्त व्यक्तिको धोखा देती है। इस प्रकार स्वराष्ट्र-चिन्तासे निश्चिन्त होकर परराष्ट्र-चिन्ता करनी चाहिए[१७]।

नाट्यशास्त्रीयः—"एवं धारय देवि बाहुलतिकामेवं कुरुष्वाङ्गकं
मात्युच्चैर्नम कुञ्चयाग्रचरणं मां पश्य तावत्स्थितं।
देवीं नर्त्तयतः स्ववक्त्रमुरजेनाम्भोधरध्वानिना
शम्भोर्वः परिपान्तु लम्बितलयच्छेदाहतास्तालिकाः"

नाट्य-शास्त्रीय विषयका कवित्वमें वर्णन—

देवी, हाथोंको ऐसे रखो, कोमल अंगको इस प्रकार करो, बहुत अधिक मत झुको, पैरकी अँगुलियोंको समेट लो, मुझे देखो'—इस प्रकार मेघके समान अपने मुखरूपी मृदंग-ध्वनिसे पार्वतीको नृत्यकी शिक्षा देते हुए शिवजीकी लंबित-लयोंके विच्छेदपर दी हुई तालें आपकी रक्षा करें।

---

१७. उक्तश्लोक कौटिलीय अर्थशास्त्रके निम्नलिखित सूत्रोंके आधार पर है—'शम-व्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः', 'कर्मारम्भणां योगाराधनो व्यायामः', 'कर्मफलोपभोगानां क्षेमाराधनः शमः', 'शम—व्यायामयोर्योनिः षाड्गुण्यम्'।

कामसूत्रीयः—"नाश्चर्यं त्वयि यल्लक्ष्मीः क्षिप्त्वाधोक्षजमागता ।
असौ मन्दरतस्त्वं तु प्राप्तः समरतस्तया ॥"

काम-शास्त्रीय विषयका कवित्वमें वर्णन—

(१) हे राजन् ! लक्ष्मी विष्णुको छोड़कर तुम्हारे साथ आ गई, यह आश्चर्यकी बात नहीं है ; क्योंकि विष्णुने मन्दराचल द्वारा उसे प्राप्त किया था और तुमने उसे समर (युद्ध) के द्वारा पाया है ।

(२) यहाँ विष्णुके लिए 'मन्दरत' और राजाके लिए 'समरत' शब्द श्लेषसे कहे गए हैं । एक ओर पंचमी विभक्तिसे 'तसिल्' प्रत्यय करनेसे 'मन्दरसे और 'समरसे' यह अर्थ होता है दूसरी ओर 'मन्द-रतः' और 'सम-रतः' बहुव्रीहि समास करने पर प्रथमा विभक्तिका अर्थ होता है—मन्द-शिथिल-रति करनेवाला और सम-अर्थात् समान रति करनेवाला । भावार्थ यह हुआ कि हे राजन् ! विष्णु पुराण-पुरुष होनेके कारण मन्द-रत अर्थात् रतिक्रियामें शिथिल था और तुम युवा और बली होने के कारण सम-रत अर्थात् समान रति करनेवाले थे । अतः लक्ष्मी विष्णुको छोड़कर तुम्हारे पास आ गई, यह आश्चर्यकी बात नहीं है । स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा ही है ।

(३) इस रचनामें 'स्त्री मन्दरतिवाले वृद्ध पुरुषको छोड़ देती है और समान रतिवाले युवा पुरुषको चाहती है'—इस कामशास्त्रीय रहस्यको श्लेषपूर्ण और आकर्षक कवित्वमें वर्णन किया गया है[१८] । रहस्यवस्तुको श्लेषके द्वारा सूचित करना कविधर्म है ।

लौकिकस्तु द्विधा प्राकृतो व्युत्पन्नश्च । तयोः प्रथमः—

लौकिक अर्थ दो प्रकारके होते हैं—प्राकृत और व्युत्पन्न । प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक अर्थका उदाहरण—

"स्फुटितपिठरीबन्धश्लाघ्यो विपक्षगृहेप्यभूत्
प्रियतम ययोः स्नेहग्रन्थिस्तथा प्रथमं स नौ ।
जनवदधुना सद्मन्यावां वसाव इहैव तौ
धिगपरिचितं प्रेम स्त्रीणां चिराय च जीवितम् ॥"

नायिका, विवाहसे पूर्व समयके प्रणयका स्मरण करती हुई स्वामीसे कहती है कि प्रियतम, पहिले (विवाहसे पूर्व) भिन्न-भिन्न घरोंमें रहते हुए भी हम दोनोंकी प्रणय-ग्रन्थि, फूटे हुए घड़ेके दो कपालों हिस्सोंके समान जुड़ी हुई कैसी सुन्दर लगती थी; परन्तु अब वे ही हम दोनों एक घरमें रहते हुए भी साधारण मनुष्योंका-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं । स्त्रियोंके अपरिचित-प्रेम और चिर-कालीन जीवनको धिक्कार है ।

---

१८. देखिए—वात्स्यायन : कामसूत्र, २-१-३-९-१३ ।

यहाँ गृहस्थ-जीवनकी प्राकृतिक स्थितिका वर्णन है। इसी प्रकार सामयिक स्थितिका उदाहरण—

यथा वा—"इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टकृतस्य च।
वाराहस्य च मांसस्य सैष गच्छति फाल्गुनः॥"

ईख, मण्ड, (भातकी माँड) दही, उरदकी पीठीके सामान, (बड़ी, बड़ा, कचौड़ी आदि) और जंगली सूअरका मांस—इन वस्तुओंके सेवन करनेके योग्य फागुनका महीना जा रहा है।

यहाँ वसन्तमें अयोग्य, केवल हेमन्त और शिशिरमें सेवन योग्य प्राकृतिक भोज्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है।

द्वितीयो द्विधा समस्तजनजन्यः कतिपयजनजन्यश्च। तयोः प्रथमोऽनेकधादेशानां बहुत्वात्।

व्युत्पन्न शब्दका अर्थ है—व्युत्पत्ति अर्थात् प्रतिभासे उत्पन्न अर्थ। वह दो प्रकार का होता है। एक तो समस्त-जन-जन्य अर्थात् किसी देश निवासी समस्त-पुरुषोंका साधारण-व्यवहार और दूसरा कुछ पुरुषोंकी प्रतिभासे निष्पन्न तात्कालिक-व्यवहार। समस्त-जन-जन्य अर्थ देशोंकी अनेकतासे अनेक प्रकारका होता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न देशोंके लौकिक साधारण-व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हैं। उनमें दक्षिण देशका उदाहरण—

तत्र दाक्षिणात्यः—"पिबन्त्यास्वाद्य मरिचं ताम्बूलविशदैर्मुखैः।
प्रियाधरावदंशानि मधूनि द्रमिलाङ्गनाः॥"

द्रविड़ देशकी महिलाएँ, अधिक पान चबानेसे विरस मुखों द्वारा काली मिर्च के दाने चबाकर प्रिय-जनोंके अधरोंसे उच्छिष्ट मद्यका पान करती हैं।

अधिक पान खानेसे मुखका स्वाद विरस हो जानेके कारण मद्यका स्वाद ठीक-ठीक नहीं प्रतीत होगा। इसलिए द्रविड़ देशकी स्त्रियाँ मद्यपानके पूर्व काली मिर्चोंको चबाकर मुखका स्वाद चरपरा कर लेती हैं। यह द्रविड़-देश-जन्य लौकिक अर्थ है।

यथा वा—"विरम मदन कस्त्वं चैत्र का शक्तिरिन्दो-
रिह हि कुसुमबाणाः कुण्ठिताग्राः स्खलन्ति।
हृदयभुव इमास्ताः कुन्तलप्रेयसीनां
प्रहतिकिणकठोरग्रन्थयो वज्रसाराः॥"

दूसरा उदाहरण—

कुन्तल देशकी इन रमणियोंके हृदयोंमें काम बाणोंके निरन्तर आघात सहनेके कारण गाठें पड़ गई हैं, अतः हे कामदेव, तुम बस करो, अर्थात् इनपर बाण

मारनेका निष्फल प्रयास न करो। हे चैत्र-मास, तुम कौन-सी वस्तु हो? अर्थात् तुम्हारा कुछ भी प्रभाव नहीं है और चन्द्रमाकी किरणोंकी तो शक्ति ही क्या है; जो इनको विचलित कर सकें।

यहाँ कुन्तल-देशकी रमणियोंपर काम, वसन्त, चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभावोंका कुछ भी प्रभाव न होनेका वर्णन किया गया है। यह भी दक्षिण-देश-जन-जन्य साधारण लौकिक अर्थ है।

उदीच्यः—"नेपाल्यो वल्लभैः सार्द्धमार्द्रैणमदमण्डनाः।
ग्रन्थिपर्णकपालीषु नयन्ति ग्रीष्मयामिनीः॥"

उत्तरदेशीय नैपालकी स्त्रियोंका ग्रीष्म-कालीन लोकव्यवहार—

नेपाल देशकी ललनाएँ, कस्तूरीका आर्द्र (ताजी) लेप करके ग्रन्थिपर्ण-वृक्षोंके झुण्डोंमें प्रियतमोंके साथ ग्रीष्म-कालीन रातें व्यतीत करती हैं।

इसी प्रकार विभिन्न देशोंके जन-साधारणका व्यवहार जानना और वर्णन करना चाहिए।

द्वितीयः—"मिथ्यामीलदरालपक्ष्मणि वलत्यन्तः कुरङ्गीदृशो
दीर्घापाङ्गसरित्तरङ्गतरले तल्पोन्मुखं चक्षुषि।
पत्युः केलिमतः कथां विरमयन्नन्योन्यकण्डूयनात्
कोऽयं व्याहरतीत्युदीर्य निरगात्सव्याजमालीजनः॥"

कतिपयजन-जन्य अर्थका उदाहरण—

किसी रमणीके शयनागारमें रातके समय सखियाँ बातें कर रही थीं, जब उन्होंने देखा कि गृहस्वामिनीकी लम्बी और नदीकी तरंगके समान चंचल आँखें, पलकोंके झूठे निमीलन द्वारा निद्राका बहाना करके बार-बार पलंगकी ओर जा रही हैं, तब सखियोंने अपने पतियोंकी केलिक्रीड़ा-वार्ताको समाप्त कर परस्पर इंगित करते हुए 'देखो, कोई बुला रहा है'—ऐसा कहकर अपने घरका रास्ता लिया।

यहाँ कतिपय व्यक्तियों द्वारा सामयिक लौकिक अर्थका उद्भावन किया गया है।

कविमनीषानिर्मितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना। तत्राद्या—

कविके अपने इच्छानुसार निर्मित कथा अथवा स्वतन्त्र वर्णनाका नाम विरचना है। कथा-विरचनाका उदाहरण—

"अस्ति चित्रशिखो नाम खड्गविद्याधराधिपः।
दक्षिणे मलयोत्सङ्गे रत्नवत्याः पुरः पतिः॥
तस्य रत्नाकरसुता श्रियो देव्याः सहोदरी।
स्वयम्वरविधावासीत्कलत्रं चित्रसुन्दरी॥"

दक्षिण दिशाके मलय-पर्वतकी उपत्यकामें बसी हुई रत्नवती नगरीका स्वामी चित्रशिख नामक विद्याधरोंका राजा था। उसकी चित्रसुन्दरी नामकी पत्नी थी; जो लक्ष्मीकी सहोदरा तथा रत्नाकर समुद्रकी कन्या थी। उसका परिणय चित्रशिखने स्वयंवरमें किया था।

यह रचना कथाके रूपमें कविकी स्वतन्त्र एवं निजी उपज है।

द्वितीया—"ज्योत्स्नां लिम्पति चन्दनेन स पुमान्सिञ्चत्यसौ मालती-
मालां गन्धजलैर्मधूनि कुरुते स्वादून्यसौ फाणितैः।
यस्तस्य प्रथितान्गुणान्प्रथयति श्रीवीरचूडामणेः
तारत्वं स च शाणया मृगयते मुक्ताफलानामपि।"

दूसरा उदाहरण—

जो व्यक्ति उस वीर-चूड़ामणि नामक राजाके प्रसिद्ध गुणोंको भी प्रसिद्ध करनेका यत्न करता है, वह मानों चाँदनी पर चन्दनका लेप चढ़ाता है, मालतीकी मालाको सुगन्धित जलसे सींचता है, महुएके मधुर पुष्पोंको गुड़की भावना देकर मीठा करता है और मोतियोंको शान पर चढ़ाकर चमकीला या बड़ा करनेकी चेष्टा करता है।

अत्राहुः—"नीचैर्नार्थकथासर्गे यस्य न प्रतिभाक्षयः।
स कविग्रामणीरत्र शेषास्तस्य कुटुम्बिनः॥"

प्राचीन विद्वानोंने कहा है कि नवीन अर्थवाली कथा-रचना करनेमें जिस कविकी प्रतिभाका क्षय नहीं होता, वह कवियोंका गृहस्वामी है और शेष सभी कवि उसके कुटुम्बी हैं।

अभिहितेभ्यो यदन्यत्तत्प्रकीर्णकम्। तत्र हस्तिशिक्षीयः—

उक्त अर्थ-स्रोतोंके अतिरिक्त कवियोंके लिए अन्यान्य अर्थस्रोत भी हैं; जो प्रकीर्णक कहे जाते हैं। उनमें हस्तिशिक्षा-संबन्धी अर्थ-रचनाका उदाहरण—

"मेघानां क्षणहासतामुपगतो हारः प्रकीर्णो दिशा-
माकाशोल्लसितामितामरवधूपीनस्तनास्फालकः।
क्षुण्णश्चन्द्र इवोल्बणो मदवशादैरावणप्रेरितः
पायाद्वः परिपाकपाण्डुलवलीश्रीतस्करः शीकरः॥"

मेघोंके लिए क्षणभर हासका कारण बने हुए, दिशाओंके बिखरेहुए मुक्ताहारों-के समान, आकाशमें विचरण करती हुई देवाङ्गनाओंके उभरे हुए पीन स्तन-मण्डलों पर टकराते हुए चन्द्रमाके पिसे हुए कणोंके समान चमकते हुए और पककर सफेद हुई लवलीकी शोभाको चुरानेवाले मदोन्मत्त ऐरावत हाथीके सूँड़ द्वारा बिखेरे गए जलकण, आप लोगोंके लिए आनन्द-दायक हों।

रत्नपरीक्षीयः—"द्वौ वज्रवर्णौ जगतीपतीनां
सद्भिः प्रदिष्टौ न तु सार्वजन्यौ ।
यः स्याज्जपाविद्रुमभङ्गशोणो
यो वा हरिद्रारससंनिकाशः ॥"

रत्न-परीक्षा-संबन्धी उदाहरण—

रत्न-परीक्षकोंने राजाके लिए हीरेके दो रंग उपयुक्त बताए हैं; जो सार्वजनिक नहीं हैं। एक तो तोड़े हुए जपाकुसुमके कोंपलके समान रक्त-वर्णका और दूसरा हलदीके रसके समान पीत-वर्णका।

राजाओंके लिए लाल और पीले दो ही रंगके हीरे उपयुक्त होते हैं—यह रत्न-परीक्षकोंका मत है।

धनुर्वेदीयः—"स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं
नतांसमाकुञ्चितसव्यपादं ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं
प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥"

धनुर्वेद-सम्बन्धी उदाहरण—

इन्द्रने दाहिने नेत्र प्रान्तके समीप मुट्ठी बाँधे हुए, कन्धोंको झुकाए हुए, दाहिने पैरको समेटकर धनुषको ताने हुए और शिवजी पर प्रहार करने के लिए उद्यत कामदेवको देखा[१९]।

कुमार संभवके तृतीय-सर्गमें महाकवि कालिदासने धनुर्वेदके अनुसार आलीढ नामक प्रकार (पैंतरे) का स्वरूप वर्णन किया है।

योगशास्त्रीयः—"यः सर्वेषां हृदयकमले प्राणिनामेकहंस-
स्त्वं जागर्षि स्वपिषि च मुहुर्बुध्यसे नापि बुद्धः ।
तं त्वाराध्य प्रविततधियो बन्धभेदं विधाय
ध्वस्तातङ्का विमलमहसस्ते भवन्तो भवन्ति ॥"

योग-शास्त्रीय उदाहरण—

भगवन्! तुम समस्त जीवोंके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले एक हंस हो। तुम सदा जागते हो, सोते हो और उस हृदयमें तुम्हारी बार-बार प्रतीति होती रहती है; फिर भी तुम जाने नहीं जाते, विशाल बुद्धिवाले दूरदर्शी विद्वान् ऐसे तुम्हारी आराधना करके और अज्ञान-जनित बन्धनको तोड़कर निर्भय चित्तसे निर्मल-ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं।

---

१९. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, ३ सर्ग ६९।

यहाँ योगशास्त्रकी दृष्टिसे आत्माका स्वरूप वर्णन और निर्मलज्ञान प्राप्तिका साधन बताया गया है।

एवं प्रकीर्णकान्तरमपि।

इसी प्रकार अन्य अन्य अनेक प्रकीर्ण (फुटकर) विषयोंका ज्ञानपूर्वक काव्य-रचनामें उपयोग किया जा सकता है।

अबतक काव्यार्थके द्वादश उत्पत्तिस्थान (स्रोत) बताए गए हैं। अब यायावरीयके मतानुसार अन्य चार स्रोत और कहे जाते हैं। इनमें प्रथम उचित-संयोग है। उचित-संयोगका अर्थ है—जिसमें काव्यके वर्णनीय पदार्थोंका उपमान उपमेयभाव आदि संयोग या संबंध समुचित प्रतीत हो। जैसे—

उचितसंयोगः—"पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥"

इन्दुमती-स्वयंवरके प्रसंगमें दक्षिण दिशाके पाण्ड्य-राजाका वर्णन—

हे इन्दुमती, दोनों कन्धोंसे छातीकी ओर लटकते हुए शुभ्र मोतियोंके लम्बे हारको धारण करनेवाला और कुंकुम-राग-मिश्रित चन्दनको शरीरमें लपेटे हुए यह पाण्ड्य देशका राजा, प्रातःकालीन सूर्यकी किरणोंसे रञ्जित शिखरवाले और बहते हुए शुभ्र झरनोंसे शोभित हिमालयकी भाँति शोभायमान हो रहा है[२०]।

यहाँ पाण्ड्य-नरेशका हिमालयके साथ उचित विशेषणोंके कारण सादृश्य समुचित जँचता है।

योक्तृसंयोगः—"कुर्वद्भिः सुरदन्तिनो मधुलिहामस्वादु दानोदकं
तन्वानैर्नमुचिद्रुहो भगवतश्चक्षुः सहस्रव्यथाम्।
मज्जत्स्वर्गतरङ्गिणीजलभरे पङ्कीकृते पांसुभि-
र्यद्यात्राव्यसनं निनिन्द विमनाः स्वर्लोकनारीजनः॥"

दूसरे, योक्तृ-संयोगका अर्थ है जहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग प्रतीत हो। जैसे—

स्वर्गकी देव-ललनाएँ, दुःखित हृदयसे जिस राजाके विजय-यात्रा-व्यसनकी निन्दा करती हैं; क्योंकि उस राजाकी विजय-यात्रामें असंख्य सैनिकों, रथों, हाथियों, घोड़ों आदि द्वारा उड़ाई गई धूलि, स्वर्गमें पहुँचकर दिग्गजोंकी कनपटियोंपर जाकर जम जाती हैं; जिससे उनकी कनपटियोंसे बहता हुआ मद-जल स्वर्गीय भ्रमरोंके

---

२०. देखिए—कालिदास : रघुवंश, सर्ग, ६०।

लिए कड़वा होजाता है। दूसरे, वह धूलि देवराज इन्द्रकी हजार आँखोंमें पड़कर उन्हें व्याकुल कर देती है और अन्तमें वह एकत्रित धूलि, स्वर्ग-गंगाके जलमें गिरकर उसे भी पंकिल कर देती है।

यहाँ राजाकी विजय-यात्रासे धूलिका उड़ना, उससे सुर-सरिताके जलका पंकिल होना, उससे स्नानार्थिनी सुरांगनाओंकी विमनस्कता और उससे विजय-यात्राकी निन्दा—इस प्रकार उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग है।

उत्पाद्यसंयोगः—"उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहा-
वाकाशगङ्गापयसः पतेतां।
तेनोपमीयेत तमालनील-
मामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः॥"

तीसरे, उत्पाद्य-संयोगका अर्थ यह है कि जहाँ उपमानोपमेय-भाव आदि सम्बन्ध संभाव्य हों। जैसे—

यदि आकाशसे स्वर्ग गंगाकी दो धाराएँ पृथक्-पृथक् रूपसे नीचेकी ओर गिरें तो श्रीकृष्णके नील-वक्षःस्थलपर दोनों ओर लटकती हुई मुक्ता-हारकी लड़ियोंकी उपमा दी जा सकती है[२१]।

यहाँ आकाश और वक्षःस्थलका तथा मुक्तालता और गंगा-प्रवाहका उपमानोपमेय-भाव सम्बन्ध सम्भावित है, अतः संयोग उत्पाद्य है।

चौथे, संयोग-विकारका अर्थ है—संयोगसे या सम्बन्धसे विकार उत्पन्न होना। उदाहरण—

संयोगविकारः—"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुंकुमम्॥"

गुणोंके अनुरागसे मिश्रित एवं चारों ओर फैलते हुए तुम्हारे यशसे दिशारूपी वधुओंके भाल स्थलपर अकस्मात् आधा कुंकुमका टीका लग गया।

अर्थात् गुण लाल थे और यश श्वेत था, अतः दोनोंके मिश्रणसे गुणवाला आधा लाल अंश तो मस्तकपर चमकता है और यशवाला आधा श्वेत भाग मस्तककी श्वेततामें मिलकर नहीं चमक रहा है। यहाँ गुण और यश दोनोंके संयोगसे अर्ध-कुंकुम-रूप विकार उत्पन्न हो गया, अर्थात् पूरा टीका न लग सका।

यथा वा—"उन्माद्यत्यम्बुराशिर्विदलति कुमुदं संकुचन्त्यम्बुजानि
स्यन्दन्ते चन्द्रकान्ताः पतितसुमनसः सन्ति शेफालिकाश्च।
पीयन्ते चन्द्रिकाम्भः क्रमसरलगलं किं च किञ्चिच्चकोरा-
श्चन्द्रे कर्पूरगौरद्युतिभृति नभसो याति चूडामणित्वम्॥"

---

२१. देखिए—माघ : शिशुपालवध, सर्ग ३, श्लोक ८।

दूसरा उदाहरण—

कपूरके समान स्वच्छ (शुभ्र) चन्द्रमाके आकाश-मध्यमें चूड़ामणिके समान चमकनेपर समुद्रमें उन्माद (तूफान) उत्पन्न होता है, कुमुदोंमें विकास होने लगता है, कमलोंमें म्लानता (सकुचाहट) उत्पन्न होती है, चन्द्रकान्त मणियाँ द्रुत होने लगती हैं और शेफालिका-सुमन शाखाओंसे गिरने लगते हैं।

यहाँ चन्द्रोदयके संयोगसे समुद्र आदिमें उन्माद आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

इदं कविभ्यः कथितमर्थोत्पत्तिपरायणम् ।
इह प्रगल्भमानस्य न जात्वर्थकदर्थना ॥

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे अर्थानुशासने षोडश काव्यार्थयोनयः । अष्टमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें कवियोंके लिए अर्थोत्पत्तिके स्रोत कहे गए हैं। इस विषयमें प्रगल्भता प्राप्त करने पर कविके लिए अर्थ-दारिद्र्य नहीं रहता।

अष्टम अध्याय समाप्त



नवमोऽध्यायः अर्थ-व्याप्तिः

नवाँ अध्याय : अर्थ-व्याप्ति

अष्टम अध्यायमें काव्यर्थोंके सोलह स्रोत बताए गए हैं। अब इस अध्यायमें उनके अवान्तर भेद और उनकी व्यापकताका विवेचन किया जायगा।

'स त्रिधा" इति द्रौहिणिः; दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। "सप्तधा" इति यायावरीयः; पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च ।

'दिव्य, दिव्य मानुष और मानुष—इस प्रकार अर्थ तीन प्रकारके होते हैं' यह आचार्य द्रौहिणीका मत है। यायावरीय राजशेखरके मतमें वह सात प्रकार का है—पूर्वोक्त तीन भेदोंके अतिरिक्त चार और हैं—पातालीय, मर्त्य-पातालीय, दिव्य-पातालीय और दिव्य-मर्त्य-पातालीय।

तत्र दिव्यः—"स्मृत्वा यन्निजवारवासगतया वीणासमं तुम्बुरो-
रुद्गीतं नलकूबरस्य विरहादुत्कञ्चुलं रम्भया।
तेनैरावणकर्णचापलमुषा शक्रोऽपि निद्रां जह-
द्भूयः कारित एव हासिनि शचीवक्त्रे दृशां सम्भ्रमम् ॥"

इनमें दिव्य अर्थ वह है जो स्वर्गीय-पात्रों तथा वस्तुओंके आश्रयसे वर्णित किया जाय। उदाहरण—

अपने वार-भवन (संकेत स्थानमें) बैठी हुई रम्भाने प्रियतम-प्रणयी नलकूबर (कुबेर पुत्र) के विरहमें रोमांचित होकर तुम्बुरू-गन्धर्वकी वीणाके समान स्वरमें ऐसा गाना गाया कि उससे ऐरावत हाथी एकाग्रचित्त होकर कानोंका हिलाना भूल गया और इन्द्र बार-बार निद्रा-त्याग कर इन्द्राणीके हँसते हुए मुखको रम्भाके भ्रमसे देखने लगा।

यहाँ सभी स्वर्गीय पात्रोंके आधार पर रचना की गई है, अतः यह दिव्य-अर्थका वर्णन है।

दिव्यमानुषस्तु चतुर्द्धा। दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेदः। दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीयः। दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीयः। प्रभावाविर्भूतदिव्यरूपतया चतुर्थः।

---

१. देखिए—माघ : शिशुपालवध, सर्ग १, श्लोक १।

दिव्य-मानुष अर्थ चार प्रकारका होता है—१. दिव्य-पुरुषके मर्त्यलोकमें आगमनपर और मर्त्य-पुरुषके दिव्यलोकमें गमनपर। २. दिव्य-पुरुषका जन्म लेकर मर्त्य बन जानेपर और मर्त्य-पुरुषका प्राणत्यागकर दिव्य बन जानेपर। ३. मर्त्य-पुरुषकी दिव्य-सम्बन्धी कथानक-कल्पना पर और ४. मर्त्य होकर भी अपने प्रभावसे दिव्य-विभूति प्रकट करने पर।

तत्र दिव्यस्य मर्त्यागमनम्—

"श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जग-
ज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बरा-
द्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥"

इन चार प्रकारोंमें प्रथम प्रकार—दिव्यका मर्त्यलोकमें आगमन का उदाहरण—

एक बार जगतकी शासन-व्यवस्थाको व्यवस्थित करनेके लिए वसुदेवके गृहमें रहते हुए जगत्के निवासस्थान लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने आकाश मार्गसे पृथ्वीकी ओर उतरते हुए ब्रह्माके अंगसे उत्पन्न मुनि नारदको देखा।

यहाँ दिव्य-पुरुष नारदका मर्त्यलोकमें आगमन कहा गया है।

मर्त्यस्य स्वर्गगमनम्—

"पाण्डोर्नन्दन नन्दनं वनमिदं सङ्कल्पजैः सीधुभिः
क्लृप्तापानककेलि कल्पतरुषु द्वन्द्वैः सुधालेहिनाम्।
अप्यत्रेन्दुशिलालवालवलयं सन्तानकानां तले
ज्योत्स्नास्रं गलदच्छनिर्झरजलैर्यत्नं विना पूर्यते॥"

मर्त्यका स्वर्ग-गमन सम्बन्धी उदाहरण—

हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन! यह नन्दनवन नामक स्वर्गीय उद्यान है। इस उद्यानमें देवताओंके द्वन्द्व (स्त्री-पुरुष) कल्पवृक्षोंसे इच्छा द्वारा प्राप्त मधुका पान करके विविध क्रीड़ाएँ करते हैं और यहाँ सन्तानक नामके कल्पवृक्षोंकी चन्द्रकान्त निर्मित क्यारियाँ, अमल-धवल चन्द्रिकाके संसर्गसे द्रुत होनेवाले जलसे सदा भरी रहती हैं। अर्थात् क्यारियोंके चारों ओर चन्द्रकान्त मणियोंका घेरा है। चन्द्रिकाके सम्पर्कसे मणियाँ स्वयं पिघलकर अपने जलसे क्यारियोंको भर देती हैं। अतिरिक्त जल भरनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ मर्त्यलोक वासी अर्जुनके स्वर्गमें अस्त्र-प्राप्तिके लिए जाने पर देवदूत द्वारा नन्दनवन का परिचय दिया गया है। यह मर्त्यके स्वर्ग-गमनका उदाहरण है।

दिव्यस्य मर्त्यभावः—"इति विकसति तस्मिन्नन्ववाये यदूनां
समजनि वसुदेवो देवकी यत्कलत्रम् ।
किमपरमथ तस्मात्षोडशस्त्रीसहस्र-
प्रणिहितपरिरम्भः पद्मनाभो बभूव ॥"

दिव्यके मर्त्यभावका उदाहरण—

इस प्रकार यदुवंशके विस्तृत होने पर उस वंशमें वसुदेव उत्पन्न हुए; जिनकी धर्मपत्नी देवकी थी। इस वसुदेव और देवकीके सहवाससे सोलह सहस्र स्त्रियोंके साथ रमण करनेवाले पद्मनाभ (विष्णु) आविर्भूत हुए।

यहाँ दिव्य-विष्णु भगवान्ने जन्म लेकर मर्त्यभावको प्राप्त किया।

मर्त्यस्य दिव्यभावः—"आकाशयानतटकोटिकृतैकपादा-
स्तद्धेमदण्डयुगलान्यवलम्ब्य हस्तैः ।
कौतूहलात्तव तरङ्गविघट्टितानि
पश्यन्ति देवि मनुजाः स्वकलेवराणि ॥"

मर्त्यके दिव्य-भावका उदाहरण—

गंगाकी स्तुति करता हुआ कवि कहता है कि, हे देवि गंगे ! तुम्हारे तीर पर मरा हुआ व्यक्ति, दिव्य विमानके स्वर्ण-दंडोंको पकड़कर उसकी सीढ़ियोंपर चढ़ता हुआ तुम्हारी तरंगोमें बहते अपने कलेवरको आश्चर्यके साथ देखता है।

यहाँ मर्त्यको गंगास्नान-जन्य पुण्यसे दिव्यताकी प्राप्ति हुई है।

दिव्येतिवृत्तपरिकल्पना—

"ज्योत्स्नापूरप्रसरविशदे सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्यूतं चिरतरमभूत्सिद्धयूनोः कयोश्चित् ।
एको ब्रूते प्रथमनिहतं कैटभं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥"

दिव्य-इतिहासकी परिकल्पनाका उदाहरण—

विष्णुरूप राजाकी प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—देव ! चाँदनीसे चमकते हुए सरयू नदीके वालुकामय पुलिन पर दो सिद्ध-युवकोंका चिरकाल तक वाद-विवाद होता रहा। उनमें पहला कहता था कि विष्णुने पहले कैटभको मारा, दूसरा कहता था कि नहीं; पहले कंसको मारा। अतः अब आप वास्तविक भेद बताइए कि आपने पहले किसे मारा था—कैटभको या कंसको !

यहाँ इस कथाकी कल्पना करके मर्त्य राजाका दिव्य-रूपमें वर्णन किया गया है।

प्रभावाविर्भूतदिव्यभावः—

"मा गाः पातालमुर्वि स्फुरसि किमपरं पाट्यमानः कुदैत्य
त्रैलोक्यं पादपीतप्रथिम नहि बले पूरयस्यूनमंङ्घ्रिः।
इत्युत्स्वप्नायमाने भुवनभृति शिशावङ्कसुप्ते यशोदा
पायाच्चक्राङ्कपादप्रणतिपुलकितस्मेरगण्डस्थला वः ॥

प्रभावाविर्भूत-दिव्यभावका उदाहरण—

'पृथिवि! रसातलको न जाओ, दुष्ट-दैत्य! तेरा पेट फाड़ दिया, अब भी तू फड़क रहा है। हे बली, तीनों लोककी विशालता एक चरणसे अधिक नहीं हो सकी। अतः चरणके लिए न्यून होते हुए भागको पूरा नहीं कर रहे हो'—स्वप्नमें इसप्रकार बोलते हुए और गोदमें सोए हुए त्रैलोक्य स्वामी शिशुरूप भगवान्के चक्रचिह्नाङ्कित चरणोंको प्रणाम करके पुलकित और मुस्कराती हुई माता यशोदा आपकी रक्षा करे।

यहाँ यशोदाकी गोदमें सोए हुए शिशुरूप भगवान्ने स्वप्नमें नृसिंह और वामन अवतारोंका स्मरण करते हुए दिव्यता प्रकट की।

मर्त्यः—"वधूः श्वश्रूस्थाने व्यवहरति पुत्रः पितृपदे
पदे रिक्ते रिक्ते विनिहितपदार्थान्तरमिति।
नदीस्रोतोन्यायादकलितविवेकक्रमघनं
न च प्रत्यावृत्तिः प्रवहति जगत्पूर्णमथ च ॥"

मर्त्यका उदाहरण—

यह विवेक-विकल संसारका प्रवाह, नदी-स्रोतन्यायसे निरन्तर बहता जा रहा है और जो प्रवाह निकल जाता है, उसका पुनः प्रत्यावर्तन (लौटना) नहीं होता। तो भी संसार उसी तरह पूर्ण है। आज जो बहू कही जाती है, कुछ दिनों के उपरान्त उसे सास कहा जाता है। आज जो पुत्र कहा जाता है, कुछ दिनों के पश्चात् वह पिता कहाने लगता है। इस प्रकार एकके पश्चात् दूसरा रिक्त स्थानको ग्रहण करता चला जाता है। नदी-प्रवाह न्यायसे जो जाता है, वह लौटता नहीं; किन्तु संसार उसी प्रकार पूर्ण रहता है।

अर्थात् जिस प्रकार नदीमें, एकके बाद दूसरा और उसके बाद तीसरा, इस प्रकार अनन्त प्रवाहोंसे निरन्तर रिक्त स्थानकी पूर्ति होती रहती है, उसी प्रकार संसारका प्रवाह भी निरन्तर चलता रहता है। जैसे—पुत्र, पिता बनकर उस स्थानकी पूर्ति करता है, फिर उसका पुत्र उसके स्थानकी। इसी प्रकार संसार भी रिक्त-स्थानोंकी पूर्ति करता रहता है। जो चला जाता है, वह लौटता नहीं; लेकिन संसार-चक्र उसी प्रकार पूर्णरूपमें विद्यमान है। उसमें किसी प्रकार कमी नहीं होती।

यह मर्त्यलोकके प्राणियोंका व्यवहार बताया गया है।

पातालीयः—"कर्कोटः कोटिकृत्त्वः प्रणमति पुरतस्तक्षके देहि चक्षुः
सज्जः सेवाञ्जलिस्ते कपिलकुलिकयोः स्तौति च स्वस्तिकस्त्वां।
पद्मः सद्मैष भक्तेरवलगति पुरः कम्बलोऽयं बलोऽयं
सोत्सर्पः सर्पराजो व्रजतु निजगृहं प्रेष्यतां शङ्खपालः ॥"

पातालीयका उदाहरण—

हे भगवन्! कर्कोटक नाग करोड़ों बार प्रणाम करता है, आगे खड़े हुए तक्षक पर कृपादृष्टि कीजिए, कपिल और कुलिक सेवाञ्जलि करते हुए खड़े हैं, स्वस्तिक नाग आपकी स्तुति कर रहा है, यह पद्म नामक नाग आपकी सेवाओंका स्थान है, यह बलवान् कम्बल नाग आपके आगे लोट रहा है, सर्पराज वासुकि अपने घरको जाय और शंखपालको भी अपने घर जानेकी आज्ञा दीजिए।

इसमें वर्णित सभी पात्र पाताल-निवासी हैं। अतः यह पातालीय अर्थ निबन्धन है।

मर्त्यपातालीयः—"आर्द्रावले व्रज न वेत्स्यपकर्ण कर्णं
द्विः सन्दधाति न शरं हरशिष्यशिष्यः।
तत्साम्प्रतं समिति पश्य कुतूहलेन
मर्त्यैः शरैरपि किरीटिकिरीटमाथम् ॥"

मर्त्य-पातालीयका उदाहरण—

महाभारतमें रथको खींचते हुए सर्पोंके प्रति कर्णकी उक्ति—हे आर्द्रावले, जाओ, हे अपकर्ण! मुझ कर्णको नहीं जानते? मैं महादेवके शिष्य परशुरामका शिष्य हूँ। इसलिए दूसरी बार बाण नहीं चढ़ाता। एक बार चढ़ाए हुए बाणसे ही शत्रुका विनाश करता हूँ। तुम इस समय मर्त्य-बाणोंसे अर्जुनके किरीटका पतन देखो।

यहाँ कर्ण और सर्प इन दोनों का वर्णन होनेसे मर्त्य-पातालीय अर्थ है। यहाँ कर्ण मर्त्य और सर्प पातालीय हैं।

इहापि पूर्ववत्समस्तमिश्रभेदानुगमः।

मर्त्य-पातालीयमें भी दिव्य-मानुषके समान सभी मिश्रित भेदोंका अनुगम कर लेना चाहिए। जैसेः—१. मर्त्यके पाताल गमन करनेपर और पातालीयके मर्त्यागमनपर। २. मर्त्यका पातालीय होनेपर और पातालीयके मर्त्य होनेपर। ३. मर्त्य इतिवृत्तकी कल्पना करनेपर और ४. पातालीय होने पर भी प्रभाववश मर्त्यरूपका आविर्भाव होनेके कारण। इनके उदाहरण विस्तारभयसे नहीं दिए गए। कविको दूसरे ग्रन्थोंसे इन्हें समझना चाहिए।

दिव्यपातालीयः—"स पातु वो यस्य शिखाश्मकर्णिकं
स्वदेहनालं फणपत्रसञ्चयम्।
विभाति जिह्वायुगलोलकेसरं
पिनाकिनः कर्णभुजङ्गपङ्कजम् ॥"

दिव्य-पातालीय अर्थका उदाहरण—

वे शंकर हमारी रक्षा करें, जिनके कानोंमें सर्परूपी कमल कर्णभूषणके समान शोभित होते हैं, सर्पोंके मस्तक पर चमकती हुई मणियाँ इन कमलोंकी कर्णिका (कमल मध्य) के समान हैं, उनका लंबा शरीर कमल-नालकी शोभाको धारण करता है, उनके चौड़े फन कमल-पत्रोंसे प्रतीत होते हैं और उनकी दोनों जिह्वाएँ कमल-केसरके समान प्रतीत होती हैं।

यहाँ शंकर दिव्य हैं और सर्प पातालीय। इन दोनोंका सम्बन्ध वर्णन होनेके कारण यह दिव्य-पातालीय अर्थ है।

स्वर्गमर्त्यपातालीयः—

> "आस्तीकोऽस्ति मुनिः स्म विस्मयकृतः पारीक्षितीयान्मखा-
> त्त्राता तक्षकलक्ष्मणः फणभृतां वंशस्य शक्रस्य च।
> उद्वेल्लन्मलयाद्रिचन्दनलतास्वान्दोलनप्रक्रमे
> यस्याद्यापि सविभ्रमं फणिवधूवृन्दैर्यशो गीयते॥"

दिव्य-मर्त्य-पातालीय अर्थका उदाहरण—

राजा परीक्षितके पुत्र जनमेजयके यज्ञसे नागराज तक्षकके कुलकी और उसके रक्षक इन्द्रकी रक्षा करनेवाला आस्तीक नामक मुनि है। आज भी हिमालयकी चंचल चन्दन-लताओंमें हिंडोलेपर झूलती हुई नागोंकी बधुएँ, उस आस्तीकका यशोगान करती हैं।

यहाँ इन्द्र दिव्य पात्र है, आस्तीक मर्त्य और सर्प-बधुएँ पातालीय हैं। इन तीनोंका सम्बन्ध वर्णित होनेके कारण यह दिव्य-मर्त्य-पातालीय अर्थ है।

"सोऽयमित्थंकारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते। अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारित-रमणीयश्च। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि" इत्यौद्भटाः।

आचार्योंका मत है कि 'इस उपर्युक्त प्रकारसे उल्लेख किये गये कवियोंकी प्रतिभासे सेव्यमान अर्थोंकी तो सीमा नहीं है। यह अर्थ-क्रम निःसीम है।' दूसरे आचार्य अर्थोंकी निःसीमताको स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'ठीक है। अर्थ-समूह अवश्य निःसीम है; परन्तु उसे केवल दो भागोंमें ही विभक्त किया जा सकता है। एक विचारित-सुस्थ और दूसरा अविचारित-रमणीय।'

एक अर्थ ऐसा है जो विचार करनेपर स्थिर होता है। अर्थात् उसपर जितना विचार किया जाय, उतनी ही नवीनता मिलती है और इस अर्थ पर पर्याप्तरूपसे तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है। ऐसा अर्थ विचारित-सुस्थ है; जो दर्शन आदि शास्त्रोंमें वर्णित है। दूसरा, अविचारित-रमणीय अर्थ काव्योंमें पाया जाता है; जिसे आपात-रमणीय भी कहते हैं। काव्योंमें वर्णित अर्थ सुनने और जाननेपर एक

चार चमत्कार उत्पन्न कर देता है; किन्तु यदि उसपर क्षोद-क्षेम या तर्क-वितर्क किया जाय तो उसके भीतर कुछ तत्त्व नहीं मिलता।

अतः शास्त्रोंमें वर्णित अर्थ विचारित-सुस्थ अर्थ है और काव्योंमें अविचारित-रमणीय या आपात-रमणीय है। यह उद्भट मतानुयायी आचार्योंका मत है[२]।

यथा—"अपां लङ्घयितुं राशिं रुचा पिञ्जरयन्नभः।
खमुत्पपात हनुमान्नीलोत्पलदलद्युतिः॥"

इसका उदाहरण—

हनूमान् समुद्रका उल्लंघन करनेके लिए अपनी कान्तिसे आकाशको पीला करते हुए और स्वयं आकाशके नीले रंगसे नीलकमलकी शोभाको धारण करते हुए आकाशमें उड़े।

यहाँ आकाशका अपना नील गुण त्यागकर हनुमान्‌के पीत गुणका स्वीकार करना, यह तद्‌गुण नामक अलंकार है। इस श्लोकका अर्थ सुनने और परस्पर रंग बदलनेकी कल्पनासे आनन्द और आकर्षण अवश्य होता है; परन्तु आकाश वास्तवमें नीरूप (रूपरहित) पदार्थ है। न तो उसमें अपना रंग है और न वह दूसरेके रंगको ग्रहण ही कर सकता है। अतः यह अर्थ विचार करनेपर स्थिर नहीं रहता। अतः अविचारित-रमणीय हैं। विचारित-सुस्थ नहीं।

यथा वा—"त आकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः॥"

इसीप्रकार दूसरा उदाहरण—

वे-मनके समान वेगवाले परम-ऋषि-गण, तलवारके समान श्यामवर्ण आकाशसे उड़कर औषधिप्रस्थ (हिमालयकी राजधानी) में पहुँचे[३]।

यहाँ आकाशका श्यामवर्ण शास्त्रीय दृष्टिसे असंगत होनेपर भी काव्य-दृष्टिसे सुन्दर प्रतीत होता है; जो विचारित-सुस्थ नहीं है। खड्गका श्यामवर्ण केवल कवि-सम्प्रदायमें वर्णित होता है। वास्तवमें वह श्वेत है।

यथा च—

"तदेव वारि सिन्धूनां महत्स्थेमार्चिषामिति" इत्यादि॥

इसी प्रकार 'नदियोंका जल ही तेजका महान स्थान है,' इत्यादि उदाहरण दिए जा सकते हैं। यहाँ जलसे तेजकी उत्पत्ति सृष्टिक्रमके विरुद्ध है।

---

२. उद्‌भटके काव्यलङ्कारमें इस विषयपर विचार किया गया है। उन्होंने इस सम्बन्धमें भामहके दो श्लोक भी उद्‌धृत किये हैं। राजशेखरने उसी आधार पर उद्‌भट का मत उद्‌धृत किया है।

३. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, ५–३६

"न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित्सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। न च प्रतिभासस्तादात्म्येन वस्तुन्यवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले दृष्ट्या परिच्छिद्यमानद्वादशांगुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्तः" इति यायावरीयः। एवं नक्षत्रादीनां सरित्सलिलादीनामन्येषां च। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि। शास्त्रे यथा—

यायावरीय राजशेखर कहते हैं—'ठीक है। उक्त काव्य-रचनामें वर्णित आकाशका रूप और नदियोंकी तेजोजनकता वास्तविक स्वरूपका वर्णन नहीं है; किन्तु प्रतिभास मात्र है। आभास या प्रतिभास किसी वस्तुमें स्वाभाविक रूपसे नहीं रहता। यदि आभासको ही वस्तुका स्वाभाविक धर्म मानलें तो सूर्य और चद्रमाके मंडल; जो देखनेसे बारह अंगुलके प्रतीत होते हैं, वे पृथ्वीकी गोलाईके बराबर या उससे भी बड़े नहीं माने जा सकते; जैसा कि पुराणोंमें वर्णन किया गया है'। इसी प्रकार नक्षत्र, पर्वत, नदीजल आदिके संबन्धमें भी समझना चाहिए।

प्रतिभास या आभास वस्तुका वास्तविक धर्म नहीं है--यह समझते हुए भी प्रतिभासके समान ही वस्तुके स्वरूपका वर्णन करना शास्त्र और काव्यमें उल्लेख करनेके लिए उपयुक्त होता है। शास्त्रमें प्रतिभासका उदाहरण—

"प्रशान्तजलभृत्पङ्के विमले वियदम्भसि।
ताराकुमुदसम्बन्धे हंसायत इवोडुराट्॥"

मेंघरूपी पङ्कसे रहित और नक्षत्ररूप कुमुदोंसे शोभित विमल आकाशरूपी जलमें चन्द्रमा हंसके समान प्रतीत होता है।

काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव।

इसी प्रकार शास्त्र और काव्यमें वस्तुका उल्लेख प्रतिभास द्वारा ही किया जा सकता है। सभी काव्य इसी प्रकार प्रतिभासमय अतएव अविचारित-रमणीय होते हैं।

"अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इति आपराजितिः।

अपराजितके पुत्र भट्ट लोल्लटका मत[४] है कि 'अर्थ-समूह भले ही असीम और हो; किन्तु काव्यमें सरस अर्थका निबन्धन होना अत्यावश्यक है। नीरस विषयका नहीं। जैसा कि कहा है—

४. हेमचन्द्रके काव्यानुशासनमें इसी भावके दो श्लोक भट्ट लोल्लटके नामसे उद्धृत किये गये हैं। मालूम होता है, लोल्लटके पिताका नाम अपराजित होगा। यह-अपराजित का नाम प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

यदाह—"मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥"

जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदिका वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रामें न होना चाहिए तथा प्रस्तुत प्रसंग एवं रसके विरुद्ध भी न होना चाहिए।

"यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥"

कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ आदिके वर्णनोंमें जो प्रयत्न करते है; वह उनकी काव्य-रचना-शक्तिका प्रचारमात्र है। मर्मज्ञ विद्वान् उसे बहुत अच्छा नहीं समझते।

'आम्' इति यायावरीयः। अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते।

यायावरीय कहते हैं कि यह उचित है; किन्तु यह भी अनुभवसे सिद्ध है कि कोई अर्थ रसके अनुकूल होता है और कोई उसके प्रतिकूल। यह तो निश्चित रूपसे देखा जाता है कि काव्योंमें कवियोंके वाक्य ही सरसता और नीरसता उत्पन्न करते हैं। अर्थ सरस या विरस नहीं होते। क्योंकि प्रतिभा-संपन्न कवि साधारण-से-साधारण (तुच्छ) अर्थको भी सरस और चमत्कारी बना देते हैं और प्रतिभा-शून्य कवि सरस अर्थको भी नीरस बना देते हैं।

तत्र सरिद्वर्णनरसवत्ता—"एतां विलोकय तलोदरि ! ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥"

नदी-वर्णनकी सरसता—

हे कृशोदरि ! समुद्रमें मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदीको देखो, सीपियोंके सम्पुटसे निकाले गये जिसके जल-कण, सुन्दरियोंके विशाल स्तन-तटोंपर मोतियोंके हारके रूपमें शोभा पाते हैं।

इस रचनामें नदीके जल-विन्दु, वाम-नयनाओंके स्तनों पर हाररूपसे परिणत होते हैं—इस प्रकार सम्भोग-शृङ्गार-रसके उद्दीपन विभावका वर्णन किया गया है।

अद्रिवर्णनरसवत्ता—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि ! रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः ।

यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चुविचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥"

पर्वत-वर्णनकी सरसता—

हे मृगनयने! ये मलय पर्वतकी अधित्यकामें बहनेवाली नदियोंकी वे तीर-भूमियाँ हैं; जो भगवान् कामदेवकी प्यारी और उसके धनुष चलानेका अभ्यास करनेका स्थान हैं। इन तीर प्रदेशोंमें चकोरांगनाएँ काली रातोंमें अन्धकारका पान करके खुली चोंचोंको ऊपरकी ओर किए हुए मोती-सी शुभ्र चाँदनीको गट-गट करके पीती हैं।

यहाँ पर्वतको शृङ्गार-रसके विभावरूपमें वर्णित करके कविने सरसता उत्पन्न कर दी है।

सागरवर्णनरसवत्ता—

"धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः।
यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृन्नित्यं सदा सम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधेस्तत्कान्तमाचेष्टितम् ॥"

समुद्र-वर्णनकी सरसता—

मदिरा, जो अभिलषित प्रियतमके सम्मिलनसे होनेवाले हर्षके कारण मृग-लोचनाओंको विविध हाव, भाव, क्रीड़ा आदि सिखाती है, चन्द्रिकासे आर्द्र आकाश, जो दम्पतियोंके प्रणय-कलहको दूर करने में समर्थ होता है, जो देवताओंकी यौवनावस्था सदा एक-सी बनी रहती है और जो लक्ष्मी समस्त भूमि आदि सम्पत्तियोंमें प्रधान मानी जाती है—यह सब समुद्रकी सुन्दर चेष्टाका फल है।[५]

तात्पर्य यह है कि मदिरा, चन्द्रमा, अमृत और लक्ष्मी—ये चारों पदार्थ समुद्रकी देन हैं। यहाँ कविने समुद्रकी महिमाका वर्णन करते हुए काव्यार्थको सम्भोग-शृङ्गार रससे सरस कर दिया है।

एवं पुरतुरगादिवर्णनरसवत्तापि।

इसी प्रकार नगर, तुरग (घोड़ा) आदिके वर्णनमें भी सरसताके अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिनमें कविकी प्रकृष्ट-प्रतिभाका परिचय प्राप्त होता है।

विप्रलम्भेप्यतिरसवत्ता—

विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गारमें भी अत्यन्त सरसताका उदाहरण—

---

५. देखिए—राजशेखर : बाल रामायण, १०–४४.

"विधर्माणो भावास्तदुपहितवृत्तेर्न धृतये
सरूपत्वादन्ये विहितविफलौत्सुक्यविरसाः ।
ततः स्वेच्छं पूर्वेष्वसजदितरेभ्यः प्रतिहतं
क्व हीनं प्रेयस्या हृदयमिदमन्यत्र रमताम् ॥"

नायिकाके प्रति सम्पूर्ण चित्त-वृत्तिको लगाए हुए विरही युवकके लिए प्रेमिकाके विरोधी पदार्थोंमें हृदयको लगाना अधीरता उत्पन्न करता है और उसके अनुरोधी (सहयोगी) पदार्थोंकी ओर हृदयको लगानेपर उत्कण्ठाकी वृद्धि होती है। अतः वे विरस प्रतीत होते हैं। इस स्थितिमें उसके विरोधी भावोंसे स्वतः विरोध रखनेवाला और उसके प्रिय पदार्थोंसे अधिक कष्ट होनेके कारण दूर रहनेवाला प्रिया-विरहित विरहीका हृदय, कहाँ विश्राम या सुख प्राप्त कर सकता है? अर्थात् कहीं नहीं।

यहाँ कविने अपने प्रतिभा-कौशलसे विप्रलम्भ शृंगारका अत्यन्त हृदय-ग्राही और सरस वर्णन किया है।

कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति ।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः ॥

विप्रलम्भ शृङ्गारके वर्णनमें सरसता अत्यावश्यक है; किन्तु कुकवि उसे भी नीरस बना देता है। तात्पय यह है कि किसी भी वस्तुमें रस हो या न हो, कविकी वाणीमें रस होना चाहिए—यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते" इति पाल्यकीर्त्तिः ।

पाल्यकीर्ति" नामक जैन आचार्य कहते हैं कि 'वस्तुका रूप चाहे कैसा भी हो, सरसता तो कविकी प्रकृतिके आधार पर है। अर्थात् कविकी प्रकृति सरस है, तो उसे सरस बना देती है और यदि कविकी प्रकृति रूक्ष या नीरस हो तो स-रस वस्तु भी नी-रस है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तुकी स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसीकी निन्दा करता है और मध्यस्थ व्यक्ति उस सम्बन्धमें उदासीन रहता है।' जैसे—

"येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत् ।
अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना-
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः ॥"

किसी उदासीनकी उक्ति—जिन पुरुषोंकी लम्बी रातें प्रियतमाके साथ क्षणके समान क्षीण हो जाती हैं; उनके लिए चन्द्रमा अत्यन्त शीतल वस्तु है और जो

विरही हैं; उनके लिए वही चन्द्रमा जलते हुए अंगारोंके समान सन्तापकारी है। मुझे न तो प्रियतमा ही है और न उसका वियोग ही है, अतः दोनोंसे रहित मेरे लिए यह चन्द्रमा शीशे (काँच) के समान शोभित हो रहा है। न उष्ण है और न शीतल। न सुखद है और न दुःखद।

"विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं नियतस्वभावम्" इति अवन्तिसुन्दरी। तदाह—

यायावरीय राजशेखरकी गृहिणी अवन्तिसुन्दरीका मत है कि 'किसी वस्तुका स्वरूप नियत नहीं है, प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाववाली है। अर्थात् न गुणवाली है और न दोष-युक्त। कुशल कविकी उक्ति विशेषसे वह सगुण या निर्गुण हो जाती है। जैसे—

"वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्त्तः॥"

काव्य-जगत्में किसी भी वस्तुका स्वभाव नियत नहीं है। कविकी उक्तिके कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं। जो चन्द्रमाकी स्तुति करना चाहता है, वह उसे 'अमृतांशु' कहता है और जो धूर्त कवि उसकी निन्दा करना चाहता है, वह उसे 'दोषाकर' कहता है।

"उभयमुपपन्नम्" इति यायावरीयः।

यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि पाल्यकीर्ति और अवन्तिसुन्दरी दोनोंके ही मत ठीक हैं। अर्थात् युक्ति-संगत होनेसे ग्राह्य हैं।

स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्धः, चित्रः, कथोत्थः, संविधानकभूः, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्तः शुद्धः। स एव सप्रपञ्चश्चित्रः। वृत्तेतिवृत्तः कथोत्थः। सम्भावितेतिवृत्तः संविधानकभूः। परिकल्पितेतिवृत्तः आख्यानकवान्। तत्र।

मुक्तक और प्रबन्ध

अब ग्रन्थकार राजशेखर इस विवादको समाप्त कर पूर्व-वर्णित दिव्य आदि सात प्रकारके अर्थोंको दो भागोंमें विभक्त करते हैं। एक तो मुक्तककाव्य-गत और दूसरा प्रबन्ध काव्य-गत[६]। मुक्तकका तात्पर्य स्वतन्त्र या स्फुट कवितासे है और

---

६. राजशेखरने जिन्हें मुक्तक और प्रबन्ध कहा है, उन्हें भामह और वामनने अनिबद्ध और निबद्ध नामसे भी उल्लिखित किया है। आचार्य आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकमें

प्रबन्धका अर्थ है—काव्य या महाकाव्य! मुक्तक पाँच प्रकारके और प्रबन्ध भी पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—१. शुद्ध, २. चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानक-भू और ५. आख्यानकवान्।

इतिवृत्त या इतिहाससे रहित अर्थ शुद्ध है। उसे विस्तारके साथ विस्तृत करना चित्र है। प्राचीन कथा या इतिहास-युक्त अर्थ कथोत्थ है। जिसमें घटना सम्भावित हो, उसे संविधानक-भू कहते हैं और जिसमें इतिहासकी कल्पना की की जाय, उसे आख्यानकवान् कहते हैं।

मुक्तके शुद्धः—

इन अर्थोंमें मुक्तक-काव्यमें शुद्ध अर्थका उदाहरण—

"सा पत्युः प्रथमापराधकरणे शिक्षोपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिचित्रां गतिम्।
स्वच्छैरच्छकपोलभित्तिगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलोदकैरश्रुभिः।"

कोई सखी अपनी नवोढा सखीका वृत्तान्त दूसरी सखीसे कहती है कि वह नव विवाहिता सखी यह नहीं जानती कि पतिके अपराध (अन्य नायिकागमन) करनेपर किस प्रकार भौंहें चढ़ानी चाहिए, किस प्रकार उसे तिरछे ताने देने चाहिए और किस प्रकार रूठ जाना चाहिए। इस कारण पतिके प्रथम अपराधके समय वह बेचारी, स्वच्छ कपोलोंसे ढुलककर निरन्तर गिरते हुए स्वच्छ आँसुओंको बहाती हुई और लज्जा एवं क्षोभसे आँखोंको तिरछी किये हुए रुदनमात्र करती है।[७]

इस मुक्तक-रचनामें किसी प्रकारका इतिहास न कहकर केवल नायिकाकी वास्तविक स्थितिका वर्णन किया गया है। अतः यह शुद्ध है।

चित्रः—"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतं।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णं क्षणा-
च्चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि॥"

मुक्तक-काव्यमें चित्र अर्थका उदाहरण—

इस पद्यमें अपराधी पति द्वारा रूठी नायिकाको मनानेके समय विभिन्न भावोंके अनुसार आँखोंकी क्रियाका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। जब अपराधी

मुक्तकका अर्थ इस प्रकार लिखा है—'मुक्तकम् = अन्येन नालिङ्गितम्। तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकाङ्क्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति मुक्तकमित्युच्यते'। (३-७)

७. देखिए—अमरु कवि : अमरुशतक, २९ श्लोक। यह पद्य मुग्धा नायिकाके उदाहरणमें अनेक स्थलोंपर उद्धृत किया गया है।

पति अत्यन्त उत्सुकताके साथ उसके (नायिकाके) पास आ रहा था तो उसे दूरसे देखने पर उसकी आँखोंमें उत्सुकता थी, समीप आनेपर वे तिरछी होकर फिर गईं, बोलने पर विस्फारित हो गईं, आलिंगन करनेपर लाल हो गईं, कपड़ा पकड़ने पर क्रोधसे भौंहें तन गईं और चरणोंमें प्रणाम करने पर आसुओंसे भर गईं। इस प्रकार मानिनीकी आँखें प्रियतमके अपराधके कारण विविध प्रपंच करनेमें चतुर हो गईं।[८]

इस मुक्तक-काव्यमें प्रथम श्लोकके विषयको विस्तारके साथ कहा गया है। अतः यह चित्र है।

कथोत्थः—"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः॥"

मुक्तक रचनामें कथोत्थ अर्थका उदाहरण—

हे राजन्! युद्धमें पराजित होनेके कारण साहस-रहित और प्रगति-हीन श्रीशर्मगुप्त नामक राजा, अपनी महिषी ध्रुवस्वामिनीको खशाधिपतिकेलिए देकर जिस हिमालयमें पराजित होकर लौटा था; कन्दराओंके कोनोंमें किन्नरोंके संगीतसे मुखरित उसी हिमालयमें कार्तिकेय-नगरकी स्त्रियाँ तुम्हारी कीर्तिका गान करती हैं।[९]

इस मुक्तक-पद्यमें कुमारगुप्तके पिता चन्द्रगुप्तकी प्रशंसा करते हुए ध्रुव स्वामिनीकी प्राप्ति-कथाका दिग्दर्शन भी करा दिया गया है। अतः यह कथोत्थ अर्थ है।

संविधानकभूः—"दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासवलत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥"

मुक्तकमें संविधानकसे उत्पन्नहोनेवाले अर्थका उदाहरण—

दो पत्नियोंवाले किसी धूर्त नायकने घरमें आते ही देखा कि उसकी दोनों प्रियतमाएँ एक ही आसन पर एक-साथ उसकी ओर पीठ किए बैठी हैं, अतः उसने दोनोंको प्रसन्न करनेके लिए धीरेसे आकर हाथोंसे एककी आँखें बन्द कर दीं और गर्दनको झुकाकर प्रेमसे उल्लसित और पुलकित होते हुए मुस्कराहटसे सुन्दर कपोलोंवाली दूसरी प्रियतमाका चुम्बन कर लिया[१०]।

---

८. देखिए—अमरु कवि : शतक, ४९ श्लोक। यह मानिनी नायिकाका वर्णन है।

९. यह वर्णन सम्राट् समुद्रगुप्तके प्रथमपुत्र श्रीशर्मगुप्त एवं द्वितीयपुत्र चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की कथासे सम्बन्ध रखता है। इस सम्बन्धमें देखिए परिशिष्ट प्रकरण।

१०. देखिए—अमरुकवि : अमरुशतक, १९ श्लोक। धूर्तनायकका वर्णन।

यहाँ धूर्त नायकने एकसाथ ही दोनों पत्नियोंको प्रसन्न कर लिया। एकसे आँख-मिचौनी की और दूसरीका चुम्बन किया या एकको आँखें बन्द करके वञ्चन किया और दूसरीका रञ्जन। यहाँ एक घटनाकी कल्पना करके अर्थ उत्पन्न किया गया है। अतः यह संविधानक-भू अर्थ है।

यथा च—"कुर्वत्या कुङ्कुमाम्भःकपिशितवपुषं यत्तदा राजहंसीं
क्रीडाहंसो मयासावजनि विरहितश्चक्रवाकीभ्रमेण।
तस्यतत्पाप्मनो मे परिणमति फलं यत्पुरे प्रेमबन्धा-
देकत्रावां वसावो न च दयित दृशाऽप्यस्ति नौ सन्निकर्षः॥

दूसरा उदाहरण—

हे प्रियतम! एक बार कुंकुम-जलमें स्नान करनेसे भूरे वर्णकी राजहंसीको ंगके भ्रमसे चकवी समझकर मैंने उसके पति राजहंससे उसे पृथक् कर दिया था, उसी पापका यह फल हुआ कि हम दोनों एक ही नगरमें रहते हैं; किन्तु परस्पर एक दूसरेको देख भी नहीं पाते।

यहाँ हंस और हंसीके संविधानसे अपने वियोगकी उत्प्रेक्षा की गई है। अतः यह भी संविधानक-भू है।

आख्यानकवान्—"अर्थिजनार्थधृतानां वनकरिणां प्रथमकल्पितैर्दशनैः।
चक्रे परोपकारी हैहयजन्मा गृहं शम्भोः॥"

मुक्तक-रचनामें आख्यानकवान् अर्थका उदाहरण—

सहस्राजुनने याचकोंको दान देनेके लिए रखे हुए हाथियोंके प्रथम बार उत्पन्न नवीन दाँतोंसे शिव-मन्दिर बनवाया।

यहाँ सहस्रार्जुन द्वारा शिव-मन्दिर-निर्माणका आख्यान वर्णित किया गया है।

मुक्तक-रचनामें पाँच प्रकार बतानेके अनन्तर अब प्रबन्धमें पाँचों भेदोंके उदाहरण प्रदर्शित किए जाते हैं। जिनमें पहला, प्रबन्धमें शुद्ध अर्थका उदाहरण—

निबन्धे शुद्धः—"स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजां।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
सुचिरमहमभूवं पात्रमालोकितानाम्॥"

मालती-माधव नाटकमें मालतीके अवलोकनोंका वर्णन करते हुए माधव कहता है—मैं, निश्चल और विकसित, उठी हुई भौहोंवाली, अनुरागसे स्निग्ध

एवं कुछ झेंपती हुई, प्रान्तों तक फैली हुई और प्रत्येक पलकके पतनमें कुछ सकुचाती हुई, (उसकी) विविध दृष्टियोंका लक्ष्य हुआ[११]।

यहाँ विशुद्ध-भावपूर्ण अनेक दृष्टियोंका शुद्ध (स्वाभाविक) वर्णन है।

चित्रः—"अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च ॥"

प्रबन्धमें चित्र अर्थका उदाहरण—

उस सुन्दर पलकोंवालीके कुछ अलसाये हुए. तिरछे, मुग्धतापूर्ण, स्नेह भरे, निश्चल, मन्द तथा अधिक विकसित होनेके कारण विस्मयसे तरल कनीनिका वाले कटाक्षोंसे मेरा हृदय बिंध गया, पान कर लिया गया और निर्मूल कर दिया गया[१२]।

यहाँ पूर्व श्लोकमें वर्णित अवलोकनोंके विस्तारको चातुर्यके साथ वर्णन किया गया। अतः यहाँ चित्र अर्थकी प्रतीति होती है।

कथोत्थः—"अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः
स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः।
अथ तेन निगृह्य विक्रिया-
मभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥"

प्रबन्धमें कथोत्थ अर्थका उदाहरण—

कुमार-संभवमें कामके भस्म हो जानेपर विलाप करती हुई रतिको आश्वासन देती हुई आकाशवाणीने कहा—एकबार काम-वासनाके कारण उत्तेजित होकर ब्रह्माने अपनी कन्या सरस्वतीके प्रति अनुराग प्रकट किया था; परन्तु विवेकवश उसे रोककर उसने कामदेवको शाप दिया कि 'तुम भस्म हो जाओगे'। इसी कारण आज कामदेव शिवजीकी नेत्र-ज्वालामें भस्म हो गया। यह उसे ब्रह्माके ही शापका फल भोगना पड़ा है[१३]।

यहाँ प्रबन्धमें प्राचीन ऐतिहासिक प्रसंगका वर्णन आया है। अतः यह कथोत्थ—अर्थ है।

---

११. भवभूतिरचित 'मालती-माधव-' नामक प्रकरणमें मकरन्दके प्रति माधवकी उक्ति है। इसमें हाव, लोल, स्मित आदि अनेक व्यभिचारी भावों तथा शृङ्गाररसकी अनेक दृष्टियोंके भेद प्रदर्शित किये गये हैं।

१२. देखिए—भवभूति : मालतीमाधव, प्रथम अङ्क। इसमें भी अनेक भावपूर्ण शृङ्गार-दृष्टियोंका वर्णन है।

१३. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, ४-४१.

संविधानकभूः—"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार ॥"

प्रबन्धमें संविधानक-भू अर्थका उदाहरण—

'हे प्रभो ! क्रोधको शान्त कीजिए, शान्त कीजिए'—आकाशमें जबतक देव-गणोंकी इस प्रकार प्रार्थना-वाणी सुन पड़ती है, तबतक शिव-नेत्रसे उत्पन्न अग्नि-ज्वालाने कामदेवको भस्मका ढेर बना दिया[१४]।

इसमें वर्तमान इतिवृत्तका वर्णन होनेसे संविधानक-भू अर्थ है ।

आख्यानकवान्—"पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
र्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥"

प्रबन्धमें आख्यानकवान् अर्थका उदाहरण—

कुमार-संभवमें पार्वतीके चरणोंमें महावर लगानेके उपरान्त हास्य करते हुए सखीने पार्वतीसे कहा—'सखी ! तुम अब इस लाक्षा-रंजित चरणसे पतिकी चन्द्र-कलापर प्रहार करो' ऐसा सुनकर पार्वतीने उसे (सखीको) बिना कुछ कहे मालासे मारा[१५]।

यहाँ काव्य-प्रबन्धमें इस आख्यानकी स्वतन्त्र रचना की गई है ।

किञ्च । संस्कृतवत्सर्वास्वपि भाषासु यथासामर्थ्यं यथारुचि यथाकौतुकं चावहितः स्यात् । शब्दार्थयोश्चाभिधानाभिधेयव्यापारप्रगुणतामवबुध्येत । तदुक्तम्—

कविको चाहिए कि संस्कृतके समान प्राकृत आदि सभी भाषाओंमें अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार या अपने मनोभावके अनुकूल रचना करे । किन्तु शब्द और अर्थके वाच्य-वाचक-सम्बन्धकी प्रौढ़ताका सर्वत्र सावधानीसे ध्यान रखे । जैसा कि कहा है—

एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या ससुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूतभाषाक्रमेण ।

---

१४. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, ३–७२.

१५. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, ६–१९.

द्वित्राभिः कोऽपि वाग्भिर्भवति चतसृभिः किञ्च कश्चिद्विवेक्तुं
यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्त्तिर्जगन्ति ॥

एक ही अर्थ कहीं संस्कृतमें सुकविकी सुन्दर-रचनाका विषय बनता है, कहीं कोई अर्थ प्राकृत-भाषामें सुकवि-रचनाका विषय होता है, कोई अर्थ अपभ्रंश-भाषाओंमें और कोई अर्थ भूत-भाषामें कविकी सुन्दर रचनाका विषय बनता है। कुछ कवि, दो-तीन भाषाओंमें तो कुछ चार-पाँच भाषाओंमें अर्थ-विवेचना कुशल होते हैं। इस प्रकार जिस कविकी प्रतिभाका अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्ति समस्त संसारको स्नान कराती है। अर्थात् उसकी कीर्ति संसारमें फैल जाती है।

इत्थङ्कारं घनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः।
दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती ॥

जिस कविका मन, इस प्रकार इन घने अर्थोंके विवेकसे व्युत्पन्न होता है, उसकी वाणी दुर्गम मार्गमें भी कुण्ठित नहीं होती।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
अर्थानुशासने अर्थव्याप्तिर्नवमोऽध्यायः ॥

नवम अध्याय समाप्त



दशमोऽध्यायः कविचर्या राजचर्या च

दशम अध्याय : कवि-चर्या और राज-चर्या

गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्याः। सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। किञ्च—

काव्य-विद्याके शिक्षार्थीको चाहिए, पहिले काव्योपयोगिनी विद्याओं और काव्यकी उपविद्याओंका भलीभाँति अध्ययन करके काव्य-रचनाकी ओर प्रवृत्ति करे। व्याकरण, कोष, छन्द और अलंकार—ये चार काव्योपयोगी मुख्य विद्याएँ हैं। चौंसठ कलाएँ काव्यकी उपविद्याएँ हैं। इनके अतिरिक्त ये विषय काव्यके प्रधान जीवन-स्रोत हैं। जैसे—उच्चस्तरके विषयोंका सत्संग, देशों एवं विदेशोंके समाचार, चतुर-विद्वानोंकी सूक्तियाँ, सांसारिक व्यवहार, विद्वद्गोष्ठी और प्राचीन कवियोंके प्रबन्धोंका मनन। कहा भी है—

स्वास्थ्यंप्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति—दृढ़ता और उत्साह—कवित्वकी ये आठ माताएँ हैं।

अपि च। नित्यं शुचिः स्यात्। त्रिधा च शौचं वाक्शौचं, मनःशौचं, कायशौचं च। प्रथमे शास्त्रजन्मनी। तार्तीयीकं तु सनखच्छेदौ पादौ, सताम्बूलं मुखं, सविलेपनमात्रं वपुः, महार्हमनुल्बणं च वासः, सकुसुमं शिर इति। शुचि शीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति।

इसके अतिरिक्त कविको सदा पवित्र रहना चाहिए। पवित्रता तीन प्रकारकी होती है—वाणीकी पवित्रता, मानसिक पवित्रता और शारीरिक पवित्रता। वाणीकी और मनकी पवित्रता शास्त्रों द्वारा प्राप्त होती है। शारीरिक पवित्रताके लिए हाथों और पैरोंके नख सदा कटे रहने चाहिए। मुखमें पान रहना चाहिए। शरीरमें इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओंका लेप होना चाहिए। स्वच्छ और उच्चकोटिका वस्त्र धारण करना चाहिए। सिरपर सुगन्धित पुष्प धारण करने चाहिए। इस प्रकार सभी प्रकारकी पवित्रताके साथ सरस्वतीका अनुशीलन करना उसका सम्मान करना है।

स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम् । यादृशाकारश्चित्रकरस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः । स्मितपूर्वमभिभाषणं, सर्वत्रोक्तिगर्भमभिधानं, सर्वतो रहस्यान्वेषणं, परकाव्यदूषणवैमुख्यमनभिहितस्य, अभिहितस्य तु यथार्थमभिधानम् ।

कविका जैसा स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता भी होती है । कहावत प्रसिद्ध है कि चित्रकार अपने ही अनुरूप चित्र बनाता है । कविको सदा मुस्कराते हुए बातें करनी चाहिए । सभी प्रकारका वार्तालाप गम्भीरता-पूर्ण करना चाहिए । सभी ओरसे रहस्यका अन्वेषण करना चाहिए । बिना पूछे दूसरेकी रचनामें दोष-प्रदर्शन न करना और पूछनेपर वास्तविक एवं समुचित आलोचना करनी चाहिए ।

तस्य भवनं सुसंमृष्टं, ऋतुषट्कोचितविविधस्थानम् , अनेकतरुमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकं, सक्रीडापर्वतकं, सदीर्घिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकं, सकुल्याप्रवाहं, सबर्हिणहरिणहारीतं, ससारसचक्रवाकहंसं, सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकं, घर्मक्लान्तिचौरं, सभूमिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकं, सदोलाप्रेङ्खं च स्यात् । काव्याभिनिवेशखिन्नस्य मनसस्तद्विनिर्वेदच्छेदाया ज्ञामूकपरिजनं विजनं वा तस्य स्थानम् । अपभ्रंशभाषणप्रवणः परिचारकवर्गः, समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः । प्राकृतसंस्कृतभाषाविद आन्तःपुरिका, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः ।

कविका भवन, साफ-सुथरा और लिपा-पुता होना चाहिए । प्रत्येक ऋतुमें बैठनेके लिए पृथक्-पृथक् स्थान हों । गृह-वाटिकाके अनेक वृक्षों और लता-गृहोंमें बैठनेके सुन्दर स्थान होने चाहिए । उसमें कृत्रिम-क्रीड़ा पर्वत भी बने हों । छोटी-छोटी वापी, पुष्करिणी आदि भी रहे । नदी और समुद्रके आवर्त (कृत्रिमरूप) भी हों । नहरें भी खुदी हों । मयूर, हरिण, हारिल, सारस, चकवा, हंस, चकोर, कुरर, सुग्गे और मैना आदि पक्षी भी हों, छायावाले स्थान हों, जहाँ धूप, वर्षा आदिसे रक्षा हो सके । गुफाएँ, धारायन्त्र (फव्वारे) एवं लता-मंडप आदिसे शोभित हों और हिंडोले तथा झूले भी पड़े हों ।

कवि, जब काव्य-रचनासे श्रान्त होकर मनोरंजन करना चाहे, उस समय उसके गृह-जन या भृत्य-गण उसकी आज्ञाके बिना न बोलें— चुप रहें या कविका निवासस्थान विजनमें हो । उसके सेवक अपभ्रंश भाषा बोलनेमें पटु हों, दासियाँ मागधी भाषामें प्रवीण हों, घरकी स्त्रियाँ संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाएँ बोल सकती हों और उसके मित्र उक्त सभी तथा भिन्न-भिन्न भाषाओंके अभिज्ञ होने चाहिए ।

सदःसंस्कारविशुद्धयर्थं सर्वभाषाकुशलः, शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः, इङ्गिताकारवेदी, नानालिपिज्ञः, कविः, लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् । तदसन्निधावतिरात्रादिषु पूर्वोक्तानामन्यतमः ।

कविकी रचनाओंकी प्रतिलिपि करनेवाला लेखक, सभी भाषाओंमें कुशल, शीघ्र बोलनेवाला, सुन्दर लिखनेवाला, आकार-प्रकार और चेष्टासे भावोंको समझनेवाला, भिन्न-भिन्न प्रकारकी लिपियोंका ज्ञाता, स्वयं कवि, सुलक्षण और सुस्वरूप होना चाहिए। राजाओंके यहाँ रात्रि आदिके समय पूर्वोक्त प्रकारके शिक्षित सेवक या सेविकाएँ भी यह कार्य कर सकते हैं।

स्वभवने हि भाषानियमं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति । श्रूयते हि मगधेषु शिशुनागो नाम राजा; तेन दुरुच्चारानष्टौ वर्णानपास्य स्वान्तःपुर एव प्रवर्त्तितो नियमः, टकरादयश्चत्वारो मूर्द्धन्यास्तृतीयवर्जमूष्माणस्त्रयः क्षकारश्चेति ।

नृपतिगण, अपने घरोंमें भाषाओंके नियम स्वयं ही चला सकते हैं । सुना जाता है कि मगधदेशके राजा शिशुनागने अपने अन्तःपुरमें यह नियम चला दिया था कि कठिनतासे बोले जानेवाले आठ अक्षरोंको छोड़कर भाषाका प्रयोग किया जाय। ये आठ अक्षर—ट, ठ, ड, ढ, श, ष, ह और क्ष—वर्जित कर दिए गए थे।

श्रूयते च सूरसेनेषु कुविन्दो नाम राजा; तेन परुषसंयोगाक्षरवर्जमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

यह भी सुना जाता है कि मथुरामें कुविन्द नामक राजा था, उसने भी अपने अन्तःपुरमें इसी प्रकार कठिन अक्षरोंका व्यवहार वर्जित कर दिया था।

श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा; तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

इसी प्रकार कुन्तल देशके राजा सातवाहनने अपने अन्तःपुरमें प्राकृत भाषाका प्रचार कर दिया था।

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा; तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।

उज्जयिनीके राजा साहसाङ्कका समस्त अंतःपुर (रनिवास) संस्कृतभाषामय था ।

तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीकमषीभाजनानि, ताडिपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा

भित्तयः, सततसन्निहिताः स्युः। "तद्धि काव्यविद्यायाः परिकरः" इति आचार्याः। "प्रतिभैव परिकरः" इति यायावरीयः।

खड़िया, स्लेट, सामान रखनेके डब्बे, कलम दावातके साथ कलमदान, ताड़के पत्ते, भूर्जपत्र, लोहेकी कीलों (पिनों) से गुँथे हुए ताल-पत्र, स्वच्छ और चिकनी दीवारें—ये सब सामग्री कविके पास सदा उपस्थित रहनी चाहिएँ। आचार्योंका कथन है कि 'यह सारी सामग्री काव्य-विद्याकी सहायक है'। यायावरीय कहते हैं कि 'नहीं'; काव्य-रचनाकी मुख्य सहायक-सामग्री प्रतिभा है। इसलिए उपर्युक्त समस्त सहायक-सामग्रीके रहने पर भी प्रतिभा-विहीन कवि, काव्य-निर्माण नहीं कर सकता।

"कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्। कियान्मे संस्कारः, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किंरुचिर्लोकः परिवृढो वा, कीदृशि गोष्ठ्यां विनीतः, क्वास्य वा चेतः संसजत इति बुद्‍ध्वा भाषाविशेषमाश्रयेत" इति आचार्याः। "एकदेशकवेरियं नियमतन्त्रणा स्वतन्त्रस्य पुनरेकभाषावत्सर्वा अपि भाषाः स्युः" इति यायावरीयः।

आचार्य कहते हैं कि 'कवि अपना संस्कार पहिले करे। मेरा अध्ययन कितना है। किस भाषापर मेरा कितना अधिकार है। जनताकी तथा राजाकी रुचि इस समय किस ओर अधिक है। मेरा स्वामी (संरक्षक) किस प्रकारकी गोष्ठीमें अधिक रुचि रखता है, या किस विषयमें शिक्षित है। उसका मन किस ओर अधिक आकृष्ट होता है। इन सभी बातोंका भली-भाँति विचार करके किसी भी एक उपयुक्त एवं अनुकूल भाषा द्वारा काव्य-रचना करे'।

यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'ये सारी बातें और नियम-नियंत्रण एक-देशीय कविके लिए हैं। स्वतन्त्र कविके लिए सभी भाषाएँ एक-सी हैं; क्योंकि वह सभी भाषाओंपर समान अधिकार रखता है।'

देशविशेषवशेन च भाषाश्रयणं दृश्यते।

देश विशेषके कारण भी उन-उन देशोंके कवि भाषाका आश्रय लेते हैं।

तदुक्तम्—"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

ऐसा कहा भी है—

गौड़ आदि देशोंके कवि, संस्कृतमें विशेष रुचि रखते हैं। लाट-देश निवासी, प्राकृत-प्रिय होते हैं। मरुभूमि (मारवाड़-राजपुताना) और पंजाबके कवि अपभ्रंश भाषामें अधिक रुचि रखते हैं और टकार, ककार एवं भकारका प्रयोग अधिक

मात्रामें करते हैं। अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि देशोंके कवि भूतभाषा या पैशाची भाषाका अधिक प्रयोग करते हैं और मध्यदेश-निवासी कविगण, सभी भाषाओंमें समान रुचि रखते हैं ।

जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च ।
असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च ॥

कविके लिए यह जानना परम आवश्यक है कि कौनसा कार्य ऐसा है; जो लोक-सम्मत भी है और मुझे भी अभिमत है। इसका विवेचन करने पर जो जनताके और अपनी आत्माके विरुद्ध हो, उसे छोड़ दे तथा जो उभय-सम्मत हो, उसका ग्रहण करे। अर्थात् जनरुचिका ध्यान रखना आवश्यक है।

जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि ।
जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः ॥

किन्तु साथ ही लोक-निन्दाके भयसे अपनी आत्माका तिरस्कार भी न करना चाहिए। अपनेको और अपनी वस्तुको यथार्थ रूपसे समझना चाहिए। जनता तो निरंकुश है (उसके मुँहमें लगाम नहीं) अच्छीसे अच्छी वस्तुकी भी कुछ लोग निन्दा करते ही रहते हैं।

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते ।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि ॥

कविकी काव्य-रचनाका महत्त्व तब मालूम होता है, या उसकी रचना तब प्रशंसित होती है, जब कि वह इस लोकमें विद्यमान न हो। अर्थात् कविके मर जानेपर अथवा उसकी रचनाके आलोचकके दूर देश-निवासी होनेपर भी प्रशंसा होती है। परन्तु कविके प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए उसकी रचनाकी प्रशंसा नहीं; प्रत्युत निन्दा ही होती है।

प्रत्यक्षकविकाव्यं च रूपं च कुलयोषितः ।
गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते ॥

प्रत्यक्ष कविकी कविता, कुलस्त्रियोंका रूप और घरेलू वैद्यकी चिकित्सा—किसीको ही अच्छी लगती है ? अर्थात् सबको नहीं।

इदं महाहासकरं विचेष्टितं
परोक्तिपाटच्चरतारतोऽपि यत् ।
सदुक्तिरत्नाकरतां गतान्कवीन्
कवित्वमात्रेण समेन निन्दति ॥

यह तो अत्यन्त हास्यका विषय है कि दूसरोंकी सुन्दर उक्तियोंको स्वयं चुराने-वाला चोर-कवि भी, जब कवि कहलानेके नाते, गर्वसे भरकर, नवीन सूक्तियोंके भाण्डार-महाकवियोंकी निन्दा करने लगता है।

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम् ॥

अन्यान्य काव्य-गुणोंके उत्कर्षसे रहित अल्प-मनोहर काव्य भी यदि सरल और श्रुति-मधुर हो तो उसे सज्जन सुनते हैं और ऐसा काव्य बालकों, स्त्रियों और हीन-जातियोंमें जाकर दूर-दूर तक फैल जाता है।

कार्यविसरसज्जानां परिव्राजां महीभुजाम्।
काव्यं सद्यः कवीनां च भ्रमत्यह्वा दिशो दश ॥

किसी-किसी अवसरपर तो आशुकवियों, सन्तों और राजाओं द्वारा की गई रचनाएँ, तत्काल ही चारों ओर फैल जाती हैं।

पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य सुतशिष्यपदातयः।
अविविच्यैव काव्यानि स्तुवन्ति च पठन्ति च ॥"

पिताकी रचनाओंको पुत्र, गुरुकी रचनाओंको शिष्य एवं राजाकी रचनाओंको खुशामदी सेवक बिना कुछ समझे-बूझे ही पढ़ते फिरते हैं और प्रशंसाके पुल बांध-बांधकर उन्हें प्रसारित कर देते हैं।

"किञ्च नार्द्धकृतं पठेदसमाप्तिस्तस्य फलम्" इति कविरहस्यम्।

और भी कुछ समझनेकी बातें हैं। जैसे—अपनी अधूरी कविता किसीको न सुनानी चाहिए; क्योंकि इससे उसके पूर्ण होनेमें कठिनाई हो सकती है। यह कवियोंका मर्म है।

न नवीनमेकाकिनः पुरतः। स हि स्वीयं ब्रुवाणः कतरेण साक्षिणा जीयेत।

दूसरे, किसी अकेले कविके सामने भी अपनी नवीन काव्य-रचना नहीं सुनानी चाहिए। यदि वह कभी उसे अपनी रचना बताने लगे तो साक्षी मिलना कठिन है। अतः इस विवादमें विजयी नहीं हो सकते।

न च स्वकृतिं बहु मन्येत। पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति।

तीसरे, अपनी रचनाकी अधिक प्रशंसा भी न करनी चाहिए। ऐसा करना पक्षपात है। पक्षपात, गुणको दोष और दोषको गुण बना देता है; जो अनर्थ और अयशका कारण होता है।

न च दृप्येत्। दर्पलवोऽपि सर्वसंस्कारानुच्छिनत्ति।

चौथे, कविको अभिमानी न होना चाहिए; क्योंकि अभिमानका लेश भी मानवके समस्त संस्कारों एवं गुणोंका उच्छेद कर देता है।

परैश्च परीक्षयेत्। यदुदासीनः पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायो वादः।

पाँचवें, अपनी काव्य-रचनाकी दूसरोंसे परीक्षा करानी चाहिए। कारण, यह कहावत प्रसिद्ध है कि तटस्थ-व्यक्ति किसी वस्तुको जिस दृष्टिसे देखता है, निर्माता स्वयं उसे उस दृष्टिसे नहीं देख पाता।

कविमानिनं तु छन्दोनुवर्त्तनेन रञ्जयेत्। कविम्मन्यस्य हि पुरतः सूक्तमरण्यरुदितं स्याद्विप्लवेत च। तदाह—

जो मूर्ख अपनेको स्वयं ही कवि मानता है, उसे 'हाँ में हाँ' मिलाकर प्रसन्न करते रहना उचित है। क्योकि उसके सामने उत्तमोत्तम सूक्तियाँ भी सुनाई जायँ तो अरण्य-रोदनके समान उनकी दुर्दशा होती है। प्राचीन विद्वानोंने कहा भी है—

"इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं
पठेन्न सूक्तिं कविमानिनः पुरः।
न केवलं तां न विभावयत्यसौ
स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि॥"

कविकी चातुरीका यही महान् रहस्य है कि कविमानीके सामने अपनी सूक्तिका पाठ कभी न करे। कारण यह कि वह कविमानी, उस सूक्तिका महत्त्व सर्वथा नहीं समझता—इतना ही नहीं; प्रत्युत उसमें अपनी टाँगें अड़ाकर उसे नष्ट-भ्रष्ट भी कर देता है।

कविचर्या

अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशां च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत्। स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतं सूक्तमधीयीत। ततो विद्यावसथे यथासुखमासीनः काव्यस्य विद्या उपविद्याश्चानुशीलयेदा-प्रहरात्। न ह्येवंविधमन्यत्प्रतिभाहेतुर्यथा प्रत्यग्रसंस्कारः।

समयका नियमित विभाग न करके किए जानेवाले काम विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए दिन और रातको प्रहरोंके हिसाबसे चार-चार भागोंमें विभक्त कर दे। कवि, प्रातःकाल उठकर सन्ध्यापूजा करनेके उपरान्त सरस्वतीका स्तोत्र पाठ करे। तदनन्तर विद्या-भवनमें आनन्दसे बैठकर एक प्रहर तक काव्यकी विद्याओं और उपविद्याओंका अभ्यास करे। प्रतिभा बढ़ानेके लिए अभ्यासके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है।

द्वितीये काव्यक्रियाम् । उपमध्याह्नं स्नायादविरुद्धं भुञ्जीत च । भोजनान्ते काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत् । कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत । काव्यसमस्याधारणा, मातृकाभ्यासः, चित्रा योगा इत्यायामत्रयम् ।

दूसरे प्रहरमें काव्य-रचनाका अभ्यास करे। मध्याह्नकालके कुछ पहिले ही स्नान करे तथा प्रकृतिके अनुकूल भोजन करे। भोजनोपरान्त काव्य-गोष्ठी अर्थात् काव्य-विषयक चर्चा करे। इस गोष्ठीमें कभी-कभी प्रश्नों, उत्तरों और प्रत्युत्तरों द्वारा विवेचन करे। इसी अवसरपर काव्य-सम्बन्धी विविध-समस्याओंका विवेचन, सुन्दर अक्षरोंका अभ्यास एवं चित्रकला या चित्रकाव्य-सम्बन्धी रचनाएँ करे।

चतुर्थ एकाकिनः परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्णभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा । रसावेशतः काव्यं विरचयतो न च विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत । अधिकस्य त्यागो, न्यूनस्य पूरणम् , अन्यथास्थितस्य परिवर्त्तनं, प्रस्मृतस्यानुसन्धानं चेत्यहीनम् ।

चौथे प्रहरमें एकाकी या दो-चार अभिन्न मित्रोंके साथ प्रातःकाल की गई रचनाओंका पुनर्निरीक्षण आदि करे। गुण-दोषकी विवेचना करे। भावावेशमें लिखे गए काव्यकी रचना करनेवालेकी दृष्टि विवेचन नहीं कर पाती। अतः कुछ समयके पश्चात् उसके पुनः परीक्षणकी आवश्यकता होती है। पुनः परीक्षणके समय निष्प्रयोजन अधिक पदोंको निकालना, छूटे हुए पदोंकी पूर्ति करना, इधर-उधर लिखे गये अव्यवस्थित पदोंको सजाकर रखना और भूले या छूटे पदोंका अनुसन्धान, स्मरण आदि करना—यह दिनके चतुर्थ प्रहरका कार्य है। यह दैनिक कृत्य है।

सायं सन्ध्यामुपासीत सरस्वतीं च । ततो दिवा विहितपरीक्षितस्याभिलेखनमाप्रदोषात् । यावदार्त्ति स्त्रियमभिमन्येत । द्वितीयतृतीयौ साधु शयीत । सम्यक्स्वापो वपुषः परमारोग्याय । चतुर्थे सप्रयत्नं प्रतिबुध्येत । ब्राह्मे मुहूर्त्ते मनः प्रसीदत्तांस्तानर्थानध्यक्षयतीत्याहोरात्रिकम् ।

इसी प्रकार सायंकालके प्रथम प्रहरमें सायं-सन्ध्या-वन्दन और सरस्वती-स्तोत्रका पारायण करे तथा दिनमें लिखी हुई एवं पुनः परीक्षित काव्य-रचनाको प्रथम प्रहरके अन्ततक लिख डाले। इसके उपरान्त जबतक श्रम-निवृत्ति न हो; तबतक स्त्रीके साथ रमण करे। दूसरे और तीसरे प्रहरमें भली-भाँति शयन करे; क्योंकि अच्छी निद्रा आना स्वास्थ्यके लिए आवश्यक है। चौथे प्रहरमें अवश्य ही उठ जाय। कारण यह कि ब्राह्म-मुहूर्तमे मन निर्मल रहता है तथा गूढ-से-गूढ और अलौकिक विषयोंका भी प्रत्यक्ष करा देता है। यह दिन-रातकी कवि-चर्या है।

चतुर्विधश्चासौ । असूर्यम्पश्यो, निषण्णो, दत्तावसरः, प्रायोजनिकश्च ।

कवि चार प्रकारके होते हैं, असूर्यंपश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक।

यो गुहागर्भभूमिगृहादिप्रवेशान्नैष्ठिकवृत्तिः कवते, असावसूर्यम्पश्यस्तस्य सर्वे कालाः ।

जो गिरि-कन्दराओं (गुफाओं) या भू-गर्भ-गृहोंमें स्थिर-चित्त होकर कविता करता है, उसे असूर्यंपश्य कहते हैं। उसके लिए कविता करनेका कोई निश्चित काल नहीं है। वह सभी कालोंमें रचना कर सकता है।

यः काव्यक्रियायामभिनिविष्टः कवते न च नैष्ठिकवृत्तिः, स निषण्णस्तस्यापि त एव कालाः ।

काव्य-रचनाकी आग्रह-पूर्ण इच्छा होनेपर ही जो काव्य-रचना करता है; परन्तु सावधान-चित्त नहीं है, वह निषण्ण-कवि कहलाता है। निषण्ण-कविके लिए भी सभी समय समान हैं। वह किसी भी समय रचना कर सकता है।

यः सेवादिकमविरुन्धानः कवते, स दत्तावसरस्तस्य कतिपये कालाः । निशायास्तुरीयो यामार्द्धः स हि सारस्वतो मुहूर्त्तः । भोजनान्तः सौहित्यं हि स्वास्थ्यमुपस्थापयति; व्यवायोपरमः यदार्त्तिविनिर्वृत्तिरेकमेकाग्रतायतनं, याप्ययानयात्रा । विषयान्तरविनिवृत्तं हि चित्तं यत्र यत्र प्रणिधीयते तत्र तत्र गुडूचीलागं लगति । यदा यदा चात्मनः क्षणिकतां मन्यते स स काव्यकरणकालः ।

जो अपने अध्यापन या अन्यान्य सेवाकार्योंको यथासमय सम्पन्न करते हुए, उससे अवसर मिलनेपर कविता करता है, वह दत्तावसर-कवि कहा जाता है। उसके लिए रचनाकाल निश्चितसा है। जैसे—रात्रिके चतुर्थ प्रहरका आधा भाग उसे सारस्वत-मुहूर्त कहा जाता है। इस समय सरस्वतीकी प्रसन्नतासे बुद्धि-स्फुरण होता है। दूसरा, भोजनके बादका समय। तृप्ति होनेके कारण चित्त स्थिर हो जाता है और उसमें स्फूर्ति आ जाती है। रमण करनेके बादका समय भी काव्य-रचनाके अनुकूल होता है; क्योंकि वासनाकी निवृत्ति या श्रमकारक कार्योंकी समाप्तिके अनन्तर सभी इन्द्रियों और मनकी चपलता दूर हो जाती है एवं एकाग्रता हो जाती है। इनके अतिरिक्त पालकी आदि बाहनों द्वारा लम्बी यात्रा करनेका समय भी काव्य-रचनाके लिए उपयुक्त होता है; क्योंकि उस समय चित्त एकाग्र रहता है और अन्य चिन्ताओंसे मुक्त भी रहता है। विषयान्तरोंसे मुक्त चित्त इस कार्यमें ऐसा लगता है, जैसे रोगोंपर गुरुच लगती है। इसके अतिरिक्त दत्तावसर-कवि जब-जब अपने कार्योंसे अवकाश प्राप्त करता है, तभी उसका रचना-काल होता है।

यस्तु प्रस्तुतं किञ्चन संविधानकमुद्दिश्य कवते, स प्रायोजनिकस्तस्य प्रयोजनवशात्कालव्यवस्था ।

जो प्रसंगवशात् उपस्थित किसी विषयके लिए कविता करता है, वह प्रायोजनिक कवि कहा जाता है। उसकी काव्य-रचनाका समय उसके प्रयोजनके अनुसार समझा जाता है।

बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योरियं नियममुद्रा। औपदेशिकस्य पुनरिच्छैव सर्वे कालाः, सर्वाश्च नियममुद्राः।

ये उपर्युक्त नियम बुद्धिमान् और आहार्य-बुद्धि कविके लिए बतलाए गए हैं। औपदेशिक कविके असूर्यंपश्य आदि भेद नहीं होते। उसके लिए समय और नियमकी कोई व्यवस्था नहीं है। उसकी इच्छा ही काल और नियम—सब कुछ है।

पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।

पुरुषोंके समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। कवित्व-शक्ति, संस्कार-विशेषसे प्राप्त होती है। वह संस्कार आत्मामें नित्य-सम्बन्ध या समवाय-संबन्धसे रहता है। उसके लिए पुरुष या स्त्री आदि भेद-भाव नहीं हैं। कितनी ही राजकुमारियाँ, राज-मंत्रियोंकी पुत्रियाँ, गणिकाएँ एवं नटनियाँ शास्त्रोंके ज्ञानसे स्फीत-प्रतिभा-संपन्न और कवयित्रियाँ सुनी और देखी जाती हैं।

सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥

कविको चाहिए कि अपना काव्य-प्रबन्ध पूर्णरूपेण सम्पन्न हो जाने पर उसे सभाओंमें सुनाकर, विद्वानोंको सूचना देकर, उसकी अनेक प्रतिलिपियाँ कराकर तथा अन्यान्य समुपलब्ध साधनों द्वारा उसका प्रचार करे। ऐसा कहा जाता है कि प्रबन्ध, किसीके पास धरोहरके रूपमें रख देनेसे, बेंच देनेसे, दान कर देनेसे, देशत्याग कर देनेसे, अल्पायु होनेसे, अपूर्ण रह जानेसे अग्नि एवं जल आदिसे विनष्ट हो जाते हैं।

दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वासः पञ्च काव्यमहापदः॥"

प्रबन्धोंके विनाशके अन्यान्य कारण भी होते हैं। जैसे—दरिद्रता, दुर्व्यसनोंमें आसक्ति, काव्यक्रियाका तिरस्कार, दुर्भाग्य, दुष्टों और शत्रुओंपर विश्वास काव्योंके लिए ये पाँच बड़ी आपत्तियाँ हैं। इनसे भी प्रबन्ध अधूरे रह जाते हैं।

पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।

काव्य-रचनाके समय, उसका संस्कार करते समय या उसकी परीक्षा करते समय 'फिर किसी समय समाप्त कर लूँगा', 'फिर कभी ठीक कर लूँगा', 'मित्रोंके साथ विचार कर फिर कभी संशोधन करूँगा',—इस प्रकार सोचना या राष्ट्र-विप्लव होना—ये सब भी काव्य-प्रबन्धोंके नष्ट होने या अधूरे रह जानेके कारण होते हैं।

"अहर्निशाविभागेन य इत्थं कवते कृती।
एकावलीव तत्काव्यं सतां कण्ठेषु लम्बते॥

जो कवि, ऊपर कहे हुए ढंगसे दिन और रातका विभाग करके कविताकी रचना करता है, उसका काव्य मोतियोंकी (एक लड़ी) मालाके समान विद्वानोंके कण्ठमें सुशोभित होता है।

यथा यथाभियोगश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः।
तथा तथा निबन्धानां तारतम्येन रम्यता॥

कविका चित्त, काव्य-रचनामें ज्यों-ज्यों आकृष्ट होता जाता है और संस्कृत जाता है, वैसे-वैसे उसकी रचना, भाषा, भाव आदि परिमार्जित होते जाते हैं और उसी तारतम्य (अनुपात) से उसके काव्यमें सौन्दर्यकी श्रीवृद्धि होती जाती है।

मुक्तके कवयोऽनन्ताः सङ्घाते कवयः शतं।
महाप्रबन्धे तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रयः॥"

प्रकीर्ण (फुटकर) कविताओंकी रचना करनेवाले कवि अगणित होते हैं, किसी एक विषयपर कविता करनेवाले कवि भी सैकड़ों मिलते हैं, परन्तु महाकाव्यका निर्माण करनेवाले अत्यल्प हैं। कठिनतासे एक, दो या संभवतः तीन मिल सकें।

अत्राह स्म—"बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥

इस विषयमें प्राचीन कवियोंने कहा है—

प्रकीर्ण (फुटकर) विषयोंपर अपने इच्छानुसार स्वतन्त्रतासे बहुत-कुछ कहा जा सकता है; किन्तु शास्त्र-संगत एवं पदार्थ-संगतिसे युक्त सन्दर्भ इने-गिने ही मिलते हैं।

रीतिं विचिन्त्य विगणय्य गुणान्विगाह्य
शब्दार्थसार्थमनुसृत्य च सूक्तिमुद्राः।
कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्नः
के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते॥

विद्वान् कविको चाहिए कि वह पहिले वैदर्भी आदि रीतियोंको एवं ओज आदि गुणोंको जानकर, शब्द, अर्थ और उन दोनोंके पारस्परिक-सम्बन्धको समझकर तथा प्राचीन सूक्तिकारोंकी शैलीका अनुशीलन करनेके उपरान्त कविता-विषयक प्रबन्ध

लिखनेका यत्न करे। ऐसा कौन व्यक्ति है जो बिना पोतयन्त्र (जहाज) के समुद्रको तैर सके। अर्थात् ये उक्त कार्य काव्य-रचनाके साधन हैं।

लीढाभिधोपनिषदां सविधे बुधाना-
मभ्यस्यतः प्रतिदिनं बहुदृश्वनोऽपि।
किञ्चित्कदाचन कथञ्चन सूक्तिपाका-
द्वाक्तत्त्वमुन्मिषति कस्यचिदेव पुंसः॥

व्याकरण-मीमांसा आदि शास्त्रोंके गहन-रहस्योंके मर्मज्ञ विद्वानोंके सम्पर्कमें निरन्तर अभ्यास करनेवाले तथा अनेक शास्त्र-पारङ्गत किसी विद्वान् कविकी काव्यरचनामें, परिपक्वताके कारण होनेवाली अलौकिक रमणीयताका आविर्भाव, कदाचित् ही होता है।

इत्यनन्यमनोवृत्तेर्निःशेषेऽस्य क्रियाक्रमे।
एकपत्नीव्रतं धत्ते कवेर्देवी सरस्वती॥

इस प्रकार अनन्य मनोवृत्तिसे अभ्यास करनेवाले कविके समस्त रचना सम्बन्धी) कार्यक्रममें सरस्वती देवी, एक पत्नीव्रत धारण करती है अर्थात् सर्वथा वशीभूत होजाती है।

सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरा।
मूल्यच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरां गुरुः॥"

इस क्रमसे अभ्यास-साधना-करने वाले कविकी सूक्तियोंमें वह सिद्धि प्राप्त होती है, जिसके सौन्दर्यके मूल्यको स्वयं बृहस्पति भी नहीं आँक सकते।

कविकी अच्छी-से-अच्छी रचनाका महत्त्व और प्रचार तब होता है, जब सहृदय समालोचक गण उसकी प्रशंसा करें। राजाकी ओर से उसका सम्मान हो एवं उसे राजाश्रय प्राप्त हो। इसी उद्देश्यसे राज-चर्याका निरूपण भी किया जाता है।

राजचर्या

राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्। सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारै-रष्टभिर्मत्तवारणीभिरुपेता स्यात्। तदनुलग्नं राज्ञः केलिगृहम्। मध्येसभं चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीणः स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनेकत्र प्रवीणः स संक्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्।

राजा स्वयं कवि हो और कवि-समाजकी स्थापना करे। यदि राजा स्वयं कवि हो तो उसकी प्रजा भी कवि हो जाय। वह काव्यकी परीक्षाके लिए एक सभा-मंडपका निर्माण करावे। सभा-मंडपमें सोलह खंभे लगे हों। चारों ओर चार द्वार हों और उसके अन्दर आठ हथिनियाँ (बरामदा-ओसारा) बनी हों। उस मंडपसे मिला हुआ राजाका अपना क्रीड़ा-गृह हो। सभा-मंडपके मध्यभागमें-चार खंभोंके बीच

एक हाथ ऊँचो रत्न-जटित वेदी (चबूतरा) हो। उसपर राजाका आसन हो। उस राजासनके उत्तरकी ओर संस्कृतके कवि बैठें। यद्यपि संस्कृत भाषाका कवि अन्यान्य भाषाओंका कवि भी हो सकता है; परन्तु उसमें आधिक्यकी मात्रा देखी जाती है। अर्थात् जो जिस भाषामें अधिक सफलताके साथ काव्य-रचना करता है, वह अनेक भाषावित् होने पर भी उसी भाषाका कवि कहा जाता है। जो अनेक भाषाओंकी रचनामें समान अधिकार रखता है, वह अपने इच्छानुसार जहाँ चाहे, बैठ सकता है।

ततः परं वेदविद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्त्ता भिषजो मौहूर्त्तिका अन्येऽपि तथाविधाः।

इसके अनन्तर संस्कृत-कवि-पंक्तिमें ही क्रमशः वदिक, वेद और उसकी अंग विद्याओंके ज्ञाता विद्वान्, दर्शनशास्त्र-वेत्ता, पौराणिक, धर्मशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी तथा इसी प्रकारके अन्य तान्त्रिक-मान्त्रिक आदि विद्वान् गण बैठें।

पूर्वेण प्राकृताः कवयः; ततः परं नटनर्त्तकगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधाः।

राजासनके पूर्व भागमें प्राकृत-भाषाके कविगण बैठें। उनके बाद नट, नर्तक, गायक, वादक, कथक, चारण, हाथके तालों पर नाचनेवाले तथा इसी श्रेणीके व्यक्ति बैठें।

पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः; ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथाविधाः।

राजासनके पश्चिम ओर अपभ्रंश भाषाओंके कविजन बैठें। उनके अनन्तर चित्रकार, शिल्पकार, कारीगर, दीवारोंपर पालिस करने, चित्र आदि लिखनेवाले चितेरे, जड़िये, जौहरी, स्वर्णकार, बढ़ई, लोहार आदि एवं इसी प्रकारके कलाकार बैठें।

दक्षिणतो भूतभाषाकवयः; ततः परं भुजङ्गगणिकाः प्लवकशौभिकजम्भकमल्लाः शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधाः।

दाहिनी ओर पैशाची या भूत भाषाके कवि बैठें। उनकी पंक्तिमें विट, वेश्या, तैराक, रस्सोंपर नाचनेवाले, ऐन्द्रजालिक, दाँतोंसे खेल दिखलानेवाले, पहलवान, पटेबाज, विविध शस्त्र-जीवी तथा मदारी आदि बैठें।

तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत् भावयेत्परीक्षेत च। वासुदेवसातवाहनशूद्रकसाहसाङ्कादीन्सकलान्सभापतीन्दानमानाभ्यामनुकुर्यात्।

इस प्रकार सभामंडपमें आनन्दपूर्वक बैठा हुआ राजा काव्य-गोष्ठीका प्रारम्भ करावे और कवियोंकी रचनाओंपर आलोचन, परीक्षण आदि करावे। यथासम्भव राजा स्वयं भी आलोचना करे। स्वयं काव्य-प्रबन्धोंके प्रणेता वासुदेव, सातवाहन,

शूद्रक और साहसाङ्क आदि पूर्वकालके नृपतिगण जिस प्रकार अपनी सभाओंमें गुणियोंको दान और मानसे सम्मानित करते थे, उसी प्रकार राजा कवियोंको पुरस्कार आदिसे सत्कृत करे।

तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः, स्थाने च पारितोषिकं लभेरन्। लोकोत्तरस्य काव्यस्य च यथार्हा पूजा कवेर्वा। अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुजानीयात्। मध्वपि नानवदंशं स्वदते।

राजाके सभासद प्रसन्न और समृद्ध रहने चाहिए। समय-समयपर उन्हें पारितोषिक मिलता रहे। यदि इनमें कोई लोकोत्तर या सर्वोत्कृष्ट कवि अथवा काव्य आ जायँ तो उनका आदर-सम्मान भी उनके अनुरूप ही होना चाहिए।

राजाको चाहिए कि काव्य-गोष्ठीके बीच बीचमें साहित्य-चर्चा और शास्त्र-चर्चाके लिए भी विद्वानोंको आदेश दे। क्योंकि बीच-बीचमें अचार-चटनी आदिके बिना मधुर-भोजन भी स्वादु नहीं लगता।

काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरमेत। देशान्तरागतानां च विदुषामन (न्य ?) द्वारा सङ्गं कारयेदौचित्याद्यावत्स्थितिं पूजां च। वृत्तिकामांश्चोपजपेत् संगृह्णीयाच्च। पुरुषरत्नानामेक एव राजोदन्वान्भाजनम्। राजचरितं च राजोपजीविनोऽप्यनुकुर्युः। राज्ञ एव ह्यसावुपकारो यद्राजोपजीविनां संस्कारः।

काव्य-गोष्ठीके उपरान्त राजाको वैज्ञानिक-गोष्ठीमें सम्मिलित होना चाहिए। दूसरे देशोंसे आए हुए विद्वानोंका अपने विद्वानोंसे सम्मेलन करावे। उनके यथायोग्य आतिथ्यका प्रबन्ध तथा उचित पूजा (बिदाई) करे। जो गुणी, नौकरी आदिके लिए आए हों, उनकी योग्यताको जानकर उनका सत्कार करे। जो संग्रहके योग्य हों, उनका संग्रह करे। पुरुष रूपी रत्नोंका एक मात्र आकर (समुद्र) राजा ही है। राजाके आश्रयमें रहनेवाले कर्मचारियोंको भी राजाका ही अनुकरण करना चाहिए। राज-कर्मचारियोंका सद्भाव, सद्व्यवहार और सदाचार राजाके लिए ही लाभदायक होता है। इससे भी राजाका उपकार और प्रजामें सन्तोषवृद्धि होती है।

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्। तत्र परीक्षोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च।

राजाको चाहिए कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध महानगरोंमें काव्यों और शास्त्रोंकी परीक्षाके लिए ब्रह्म-सभाएँ—ब्राह्मणोंकी सभाएँ—करावे। उस परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वानोंको ब्रह्मरथमें बैठाकर नगरमें घुमाया जाय और उन्हें परीक्षोत्तीर्णता सूचक पदवी एवं पट्ट (पेटी या गाउन) आदि दिया जाय।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

सुनते हैं, पूर्व समयमें उज्जयिनी नगरीमें काव्यकारोंकी परीक्षा होती थी। जैसा कि कहा है—

"इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥"

इस उज्जयिनी नगरीमें कालिदास, भर्तृमेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त नामक कवियोंकी परीक्षा हुई थी।

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

पाटलिपुत्र (पटना) नगरमें शास्त्रकारोंकी परीक्षा हुई थी। इस विषयमें भी सुना जाता है—

"अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥"

यहाँ (पाटलिपुत्रमें) उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलिकी परीक्षा हुई और वे यहाँ से उत्तीर्ण होकर देशमें सर्वत्र प्रसिद्ध हुए।

इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते।
यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च ॥

इस प्रकार जो राजा सभाओं और गोष्ठियोंका आयोजन कराकर और स्वयं सभापति बनकर काव्योंकी परीक्षा करता है, उसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैलती है और वह सर्वदा सुखी रहता है।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
कविचर्या राजचर्या च दशमोऽध्यायः ॥

दशम अध्याय समाप्त

एकादशोऽध्यायः शब्दहरणम्

एकादश अध्याय : शब्द-हरण

परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम् । तद्द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च । तयोः शब्दहरणमेव तावत्पञ्चधा पदतः, पादतः, अर्द्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च ।

दूसरेकी काव्य-रचनामें प्रयुक्त किए गए शब्दों तथा अर्थोंका अपनी रचनामें प्रयोग करने या ग्रहण करनेका नाम 'हरण' है । यह हरण दो प्रकारका होता है—परित्याज्य अर्थात् अग्राह्य और अनुग्राह्य अर्थात् स्वीकार्य । इन दोनों प्रकारके हरणोंमें प्रथम शब्द-हरण पाँच प्रकारका है—१. पद-हरण, २. पाद-हरण, ३. अर्ध-हरण, ४. वृत्त-हरण और ५. प्रबन्ध-हरण ।

"तत्रैकपदहरणं न दोषाय" इति आचार्याः । "अन्यत्र द्व्यर्थपदात्" इति यायावरीयः ।

हरणके विषयमें आचार्योंका मत है कि एक पदका हरण दोष नहीं कहा जा सकता[1] । यायावरीय-राजशेखर कहते हैं कि यदि वह पद दो अर्थोंवाला हो तो वस्तुतः दोष नहीं हैं; परन्तु द्व्यर्थकको छोड़कर पदका हरण करना उचित नहीं ।

तत्र श्लिष्टस्य श्लिष्टपदेन हरणम्—

श्लिष्ट-पदके द्वारा हरणका उदाहरण—

"दूराकृष्टशिलीमुखव्यतिकरान्नो किंकिरातानिमा-
नाराद्व्यावृतपीतलोहितमुखान्किं वा पलाशानपि ।
पान्थाः केसरिणं न पश्यत पुरोऽप्येनं वसन्तं वने
मूढा रक्षत जीवितानि शरणं यात प्रियां देवताम् ॥"

हे पथिको ! जिन्होंने शिलीमुखों (बाणों और भ्रमरों) के समूहोंको दूरसे ही खींच रखा है-ऐसे इन किरातों[2] (भीलों और फूले हुए चिरायता) का क्या

---

१. यहाँ आचार्य शब्दका तात्पर्य आचार्य आनन्दवर्धनसे प्रतीत होता है । उपर्युक्त विषयकी, ध्वन्यालोकके चतुर्थ आलोककी १५ वीं कारिकासे तुलना कीजिए ।

२. किरातनाम भू-निम्ब या चिरायताका है । दूसरे, किरात मृगयाजीवी जंगली अनार्य जातिका भी नाम है ।

तुम नहीं देख रहे हो ? तथा उन पलाशों[3] (पलाश-वृक्षों और राक्षसों) को भी नहीं देख रहे हो, जिन्होंने अपने मुखोंका पीलापन और लालपन प्रकट कर दिया है। फिर क्या तुम सामने ही बनमें खड़े केसरी[4] (नागकेसर और सिंह) को भी नहीं देख रहे हो ? हे मूर्खो ! अपने-अपने प्राणोंकी रक्षा करो और अपनी इष्ट देवता प्रिया (पत्नी) की शरणमें जाओ।

यथा च—"मा गाः पान्थ प्रियां त्यक्त्वा दूराकृष्टशिलीमुखम्।
स्थितं पन्थानमावृत्य किं किरातं न पश्यसि ॥"

दूसरा उदाहरण—

हे पथिक ! तुम अपनी प्राण-प्रियाको छोड़कर कहीं न जाओ। क्या तुम शिलीमुखों (बाणों और भ्रमरों) को आकृष्ट करके तथा मार्गको रोककर खड़े हुए इन किरातों (भीलों और चिरायतावृक्षों) को नहीं देख रहे हो ?

पहले श्लोकमें शिलीमुख, किरात, पलाश और केसरी–ये चारों श्लिष्ट (द्व्यर्थक) पद हैं। दूसरे श्लोकके निर्माता कविने इनमेंसे शिलीमुख और किरात इन दो शब्दोंका हरण किया है। इस प्रकार श्लेषयुक्त दो पदोंका हरण त्याज्य है।

श्लिष्टपदैकदेशेन हरणम्—

श्लिष्ट-पदके एक देशके द्वारा हरणका उदाहरण—

"नाश्चर्यं यदनार्याप्तावस्तप्रीतिरयं मयि।
मांसोपयोगं कुर्वीत कथं क्षुद्रहितो जनः ॥"

अनार्य या दुष्ट व्यक्तिके साथ संसर्ग हो जानेके कारण उसने मुझसे प्रेम करना छोड़ दिया, इसमें आश्चर्य ही क्या ? क्षुधासे रहित व्यक्ति मांसका उपयोग क्यों करेगा ?

यहाँ 'क्षुद्रहितः' यह पद श्लेष-युक्त है। एक ओर 'क्षुत्-रहितः', दूसरी ओर 'क्षुद्र-हितः' है। इस प्रकार सन्धि होनेसे यह प्रतीति होती है कि क्षुद्रका (अनार्यका) हितैषी व्यक्ति मुझ-आर्यसे प्रेम क्यों करने लगा ? दूसरा श्लेष है–'मां सोपयोगं' और 'मांसोपयोगं' इसका अर्थ हुआ—'उपयोगी मुझको' और 'मांसका उपयोग।'

यथा च—"कोपान्मानिनि किं स्फुरत्यतितरां शोभाधरस्तेऽधरः
किं वा चुम्बनकारणाद्दयित नो वायोर्विकारादयम्।

---

३. पलाशवृक्षके नवीन पुष्प, कुछ पीतिमा लिये हुए और परिपक्व होने पर लालवर्णके होते हैं। दूसरे, पल = मांसको अशन करनेवाले राक्षस भी पलाश कहे जाते हैं और रुधिर पान करनेके कारण उनके मुख रक्तवर्ण होते हैं और स्वभावतः पीतवर्ण होते हैं।

४. केसरी नाम नागकेसर वृक्षका है और सिंहका भी है।

तस्मात्सुभ्रु सुगन्धिमाहितरसं स्निग्धं भजस्वादरा-
न्मुग्धे मांसरसं ब्रुवन्निति तया गाढं समालिङ्गितः ॥"

दूसरा उदाहरण—

पतिने कहा—हे मानिनि, यह तुम्हारा सुन्दर कोमल अधर क्रोध या चुम्बनके कारण फड़क रहा है। पत्नीने कहा—प्रियतम, जैसा आप कह रहे हैं, वह कारण नहीं है। यह तो वायुके विकारसे फड़क रहा है। पतिने कहा—हे सुन्दर-भ्रू। यदि ऐसी बात है तो सुगन्धित, सुस्वादु और स्निग्ध मांस-रसका सेवन करो अथवा आमोद-हर्ष-से भरे हुए मेरे-ऐसे सरस प्रेमीका सेवन करो। ऐसा कहकर नायकने नायिकाका गाढ़ आलिगन कर लिया; क्योंकि वायु-विकारमें मांस-रस उपयोगी होता है।

इस पद्यमें पहिले उदाहरणके 'मांस-उपयोग' पदके एक भाग 'मांस' शब्दका समुचित हरण किया गया है। जैसे, एक ओर 'मांस-रसं' और दूसरी ओर 'मां सरसं' यह हरण अनुग्राह्य है।

श्लिष्टस्य यमकेन हरणम्—"हलमपारपयोनिधिविस्तृतं
प्रहरता हलिना समराङ्गणे।
निजयशश्च शशाङ्ककलामलं
निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

श्लेष-युक्त पूरे एक पादका यमक-अलंकारद्वारा हरण—

समराङ्गणमें अपार समुद्रके समान विशाल हलका[५] प्रहार करते हुए बलरामजीने, व्याकुल दैत्य-सेनाको मर्यादासे अधिक (अत्यधिक) कँपा दिया और चन्द्रिकाके समान अपने अमल-धवल यशको भू-लोक तथा स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया।

यथा च—"दलयता विशिखैर्बलमुन्मदं
निरवधीरितमाकुलमासुरम्।
दशसु दिक्षु च तेन यशः सितं
निरवधीरितमाकुलमासुरम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

विष्णुने बाणोंके प्रहारसे घमंडी दैत्योंकी सेनाको व्याकुल करते हुए ऐसा कँपा दिया; जिसकी सीमा न रही और अपने यशको दशों दिशाओंके क्रमसे भू-मण्डलसे देवलोक तक पहुँचा दिया।

---

५. हल और मूसल श्रीकृष्णके ज्येष्ठभ्राता बलरामके प्रसिद्ध आयुध हैं।

इस उदाहरणमें "निरवधीरितमाकुलमासुरम्" इस पादको यमक-अलंकारके रूपमें ग्रहण किया गया है।

श्लिष्टस्य प्रश्नोत्तरेण हरणम्—

प्रश्नोत्तरके रूपमें श्लेषयुक्त पदके हरणका उदाहरण—

"यस्यां भुजङ्गवर्गः कर्णायतेक्षणं कामिनीवदनं च ॥"

जिस नगरीमें विट (कामुक) लोग कर्णके समान दानी बन जाते हैं और नायिकाओंके मुख भी कान तक फैले हुए विस्तृत-नेत्रोंसे युक्त होते हैं।

यथा च—"किं करोति कियत्कालं वेश्यावेश्मनि कामुकः।
कीदृशं वदनं वीक्ष्य तस्याः कर्णायतेक्षणम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

प्रश्न—कामुक व्यक्ति वेश्याके घरमें उसके कैसे मुखको देखकर कितने समय तक क्या करता है? उत्तर—कर्ण-पर्यन्त विस्तृत नेत्रोंको देखकर क्षण भरके लिए कर्ण बन जाता है।

यहाँ दूसरे उदाहरणमें पहिले श्लोकके अर्थको 'कर्णायते क्षणम्[6]' इस श्लिष्ट पदका प्रश्नके उत्तर-रूपमें हरण किया गया है।

यमकस्य यमकेन हरणम्—

यमकालंकारसे यमकका हरण—

"वरदाय नमो हरये पतति जनोऽयं स्मरन्नपि न मोहरये।
बहुशश्चक्रन्द हता मनसि दितिर्येन दैत्यचक्रं दहता ॥"

जिसके द्वारा दैत्यवर्गका नाश होनेसे मनमें उत्पीड़ित दैत्योंकी माता दितिने बहुत रुदन किया और जिसका स्मरण करने मात्रसे प्राणी मोहके वेगमें नहीं पड़ता, उस वरद भगवान् विष्णुको प्रणाम है।[7]

यथा च—चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारं खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी।

दूसरा उदाहरण—

हे राजन्! युद्धमें तुम्हारे खड्गके द्वारा शत्रुदलका निर्दय संहार देखकर उनकी अंगनाएँ अत्यन्त रोने-कलपने लगीं।

---

६. 'कर्णायतेक्षणम्' इस पदको समस्त मानने पर इसका अर्थ होता है—'कानोंतक फैले हुए नेत्रवाला'। यदि इसे 'कर्णायते' और 'क्षणम्' इन दो पदोंमें व्यस्त कर दिया जाय तो इसका अर्थ होता है—'क्षण भारके लिये कर्णके समान (दानी) बन जाता है'।

७. यह पद्य वृन्दावन—यमक काव्यका है। इसे रुद्रटने भी उद्धृत किया है। देखिए रुद्रट: काव्यलङ्कार, ३–४

इस दूसरे उदाहरणमें पहिले श्लोकके 'चक्रं दहता' इन दोनों पदोंको 'अर' और 'आर' पद लगाकर हरण कर लिया गया है।

एवमन्योन्यसमन्वयेऽन्येऽपि भेदाः।

ऊपरके सन्दर्भमें जिस प्रकार पद और पादके द्वारा शब्द-हरणके अनेक प्रकार प्रदर्शित किए गए हैं, उसी प्रकार पद, पाद आदि समस्त भेदोंका परस्पर समन्वय करने पर बहुतसे भेद हो सकते हैं, जिन्हें स्वयं समझना चाहिए।

नन्विदमुपदेश्यमेव न भवति। यदित्थं कथयन्ति—

यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि यह हरण तो एक प्रकारकी चोरी है। अतः इसका उपदेश ही न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा कहते हैं—

"पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति॥"[८]

अन्यान्य चोरियोंसे लगनेवाला मनुष्यका लाञ्छन तो कुछ समय बीतनेपर मिट जाता है; किन्तु वाणीकी चोरीका लाञ्छन, पुत्र, पौत्र आदि अनेक पीढ़ियोंतक नहीं मिटता।

"अयमप्रसिद्धः प्रसिद्धिमानहम्, अयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठावानहम्, अप्रक्रान्तमिदमस्य संविधानकं प्रक्रान्तं मम, गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्, अनादृतभाषाविशेषोऽयमहमादृतभाषाविशेषः, प्रशान्तज्ञातृकमिदं, देशान्तरितकर्तृकमिदम्, उच्छिन्ननिबन्धनमूलमिदं, म्लेच्छितकोपनिबन्धनमूलमिदमित्येवमादिभिः कारणैः शब्दहरणेऽर्थहरणे चाभिरमेत" इति अवन्तिसुन्दरी।

इस शंकाका समाधान अवन्तिसुन्दरीने इस प्रकार किया है:—'अपनी काव्य-रचनाका सौन्दर्य एवं अपनी प्रतिष्ठा आदिकी वृद्धिके लिए शब्द-हरण और अर्थ-हरण करना उचित है। अतः यह विषय उपदेश देने योग्य है। यदि किसी अप्रसिद्ध कविके काव्यमें हरण करने योग्य पद, पाद आदि हैं, तो प्रसिद्ध कवि यह सोचकर उसका हरण करेगा कि उसके सामने अप्रसिद्ध कविकी बातपर लोग विश्वास न करेंगे। दूसरे, प्रसिद्ध कवि, साधन-हीन अप्रसिद्ध कविके काव्यसे हरण करके अपने प्रभावसे उसका प्रचार करेगा तो अप्रसिद्ध कविकी बातें कौन मानेगा? इसी प्रकार हरण करनेवाला कवि यह सोचकर दूसरेके काव्यसे हरण करे कि 'इसका काव्य प्रचलित नहीं है, मेरा काव्य प्रचलित है' 'इसका काव्य गुडूची-पाक (कटु)

---

८. काव्यमीमांसाकी हस्तलिखित प्रतिमें विशीर्यति और शीर्यति—ये परस्मैपद प्रयोग किये गये हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'विशीर्यते' और 'शीर्यते' यह पाठ शुद्ध है। हेमचन्द्रने इन दोनों क्रियाओंका प्रयोग आत्मनेपदमें ही किया है।

है और मेरा द्राक्षा-पाक (मधुर) है।' 'यह दूसरी भाषाका कवि है, मैं दूसरी भाषाका कवि हूँ', 'इस काव्यको जाननेवाले प्रायः मर गए', 'यह दूसरे देशके निवासी कविकी रचना है—इसे इस देशमें कौन जानेगा', 'इसके निबन्धनका मूल ही समाप्त हो गया है', 'मेरा काव्य म्लेच्छ भाषाके आधारपर है, अतः मेरे काव्यकी किसी प्रकार निन्दा न होगी'—इत्यादि

"त्रिभ्यः पदेभ्यः प्रभृति त्वश्लिष्टेभ्यो हरणम्" इति आचार्याः—

आचार्योंका मत है कि श्लेष-रहित तीन पदोंतकका हरण हो सकता है। जैसे-

यथा—"स पातु वो यस्य जटाकलापे
स्थितः शशांकः स्फुटहारगौरः।
नीलोत्पलानामिव नालपुञ्जे
निद्रायमाणः शरदीव हंसः॥"

शरद् ऋतुमें नील कमलोंकी नालोंके ढेर पर सोए हुए हंसके समान शोभा धारण करनेवाला अमल-धवल चन्द्रमा, जिसके काले जटा-जूट पर विशुद्ध मुक्ता-हारकी-सी शोभा धारण करता है, वे भगवान् शंकर आप लोगोंकी रक्षा करें।

यथा च—"स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति
दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥"

दूसरा उदाहरण—

देवासुर संग्राममें विनाशसे बचे हुए दैत्य गण, अपनी पत्नियोंके अंजनरहित एवं कृष्ण-वर्णके नयन-कमलोंको निहारकर जिसकी स्मृतिसे त्रस्त (भयभीत) हो उठते हैं, वे विष्णु आपकी रक्षा करें। अर्थात् स्त्रियोंके काले नयन—कमलोंको देखकर उन्हें कृष्ण-वर्ण कमल-नयन (विष्णु) का स्मरण हो आता है।

इस पद्यमें प्रथम श्लोकके 'सः, पातु, वः' इन तीन पदोंका अपहरण किया गया है। आचार्योंके मतसे यह हरण नहीं है।

"न" इति यायावरीयः। उल्लेखवान्पदसन्दर्भः परिहरणीयो नाप्रत्यभिज्ञायातः पादोऽपि। तस्यापि साम्येन किञ्चन दुष्टं स्यात्।

आचार्योंके इस मतका खण्डन करते हुए यायावरीय कहते हैं कि—'उनका (आचार्योंका) यह कथन उचित नहीं कि तीन पदोंका हरण सह्य हो सकता है।

---

१. यह पद्य सुभाषितावलिमें चन्द्रक कविके नामसे उद्धृत है। राजतरङ्गिणीके अनुसार यह कश्मीरका नाट्यकार कवि था। यह श्लोक ध्वन्यालोकलोचनमें भी आया है।

कारण यह कि जिसके निर्माणमें कविकी प्रतिभाका व्यय हुआ हो, ऐसे उल्लेखनीय पदका हरण न करना चाहिए। हाँ, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया हो, जिसके श्रवण-मात्रसे सुननेवालोंको उसके कर्ताका स्मरण हो जावे, ऐसे पद ही नहीं ; पादका हरण भी उचित है। यदि वह उल्लेखनीय नहीं है तो अन्य काव्यसे उसकी समता होनेपर भी कोई दोष नहीं है। उदाहरण—

यथा—"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं
मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां
द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥"

उदार-चरित राजा युधिष्ठिरद्वारा एकाग्रचित्त होकर अत्यन्त रमणीय शब्दोंसे प्रार्थना किए गए भगवान् वेदव्यासने हृदयग्राही और प्रामाणिक शब्दोंमें कहना प्रारम्भ किया।[10]

यथा च—इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं
रामानुजन्मा विरराम मानी।
सङ्क्षिप्तमाप्तावसरं च वाक्यं
सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणाम्॥"

दूसरा उदाहरण—

आत्माभिमानी लक्ष्मण, इस प्रकार अत्यन्त रमणीय शब्दोंमें अपना भाव व्यक्त करके चुप हो गए; क्योंकि सेवामें निपुण व्यक्ति, स्वामीके सन्मुख समयानुसार संक्षेपमें ही अपना भाव व्यक्त करते हैं।

पहले श्लोकमें कहे गए 'इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यम्' इस पूरे पादको दूसरे उदाहरणमें ले लिया गया है—ऐसा कोई भी कह सकता है। ऐसी वाक्य-रचना 'हरण' नहीं कही जाती। इसमें कविकी प्रतिभाका प्रकर्ष नहीं है।

उल्लेखवान्यथा—"नमः संसारनिर्वाणविषामृतविधायिने।
सप्तलोकोर्मिभङ्गाय शङ्करक्षीरसिन्धवे॥"

उल्लेखनीय पद-हरणका उदाहरण—

उस शंकर-स्वरूप क्षीरसागरको प्रणाम है; जिसने संसाररूपी विष और मोक्ष रूपी अमृतको उत्पन्न किया और जो पृथ्वी आदि सात लोक रूपी लहरोंसे सुन्दर प्रतीत होता है।

---

१० देखिए—भारवि : किरातार्जुनीय, ३-१०

यथा च—प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने।
नमोऽनन्तप्रकाशाय शङ्करक्षीरसिन्धवे॥"

दूसरा उदाहरण—

उस शंकर-स्वरूप क्षीर-सागरको प्रणाम है, जिसमें बिन्दु और नाद रूप जलकणोंकी ध्वनि सदा फैलती रहती है, जिसकी विशुद्ध आत्मा अमृतमय है और जिसके द्वारा अनन्त प्रकाशका विस्तार हो रहा है।

यहाँ प्रथम श्लोकके 'शंकरक्षीर-सिन्धवे' इस पदका हरण किया गया है। यह पद उल्लेखनीय है। शंकरको क्षीर-समुद्र बनाकर उसे अमृत और विषका जनक सिद्ध करना सामान्य बात नहीं है। यहाँ कविने अपनी असाधारण प्रतिभाका व्यय किया है। अतः उसका इस प्रकार हरण करना अनुचित और हेय है।

"पाद एवान्यथात्वकरणकारणं न हरणम्, अपि तु स्वीकरणम्" इति आचार्याः।

आचार्योंका कथन है कि किसी श्लोकके किसी एक पादको ही वैपरीत्यका कारण बनाकर ले लिया जाय तो उसे हरण नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसे दूसरेका मानकर ग्रहण किया जाता है। अतः उसे स्वीकरण ही कहना चाहिए। जैसे—

यथा—"त्यागाधिकाः स्वर्गमुपाश्रयन्ते
त्यागेन हीना नरकं व्रजन्ति।
न त्यागिनां किञ्चिदसाध्यमस्ति
त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति॥"

अपने उच्चतम त्यागके कारण उत्कृष्ट व्यक्ति, स्वर्गको प्राप्त करते हैं और त्याग-हीन व्यक्ति नरकको जाते हैं। त्यागियों के लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। त्यागसे सभी प्रकारके कष्ट दूर होते हैं।

यथा च—"त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ती-
त्यलीकमेतद् भुवि सम्प्रतीतम्।
जातानि सर्वव्यसनानि तस्या-
स्त्यागेन मे मुग्धविलोचनायाः॥"

दूसरा उदाहरण—

किसीने ऐसा कहा है कि 'त्याग सब कष्टोंको दूर करता है'। यह बात लोकमें मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। उस सरल-सुन्दर नेत्रोंवाली प्रियतमाके त्यागसे ही तो मुझे सारे कष्ट झेलने पड़े हैं।

पहिले श्लोकमें कहे गए 'त्यागो हि सर्वव्यसनानि हन्ति' इस पदको दूसरेका मानकर ही ग्रहण किया गया है। अतः ऐसा स्वीकरण निर्दोष है।

तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव। तद्वदर्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

यायावरीयका मत है कि उपर्युक्त स्वीकरण भी हरण ही है। इसी प्रकार एक पादके सिवा आधे श्लोकका हरण भी होता है। जैसे—

"पादस्ते नरवर दक्षिणे समुद्रे
पादोऽन्यो हिमवति हेमकूटलग्ने।
आक्रामत्यलघु महीतलं त्वयीत्थं
भूपालाः प्रणतिमपास्य किन्नु कुर्युः॥"

हे राजन्! तुम्हारा एक पैर तो हेमकूटसे लगे हुए दक्षिण समुद्रमें है और दूसरा पैर हिमालयपर है। इस प्रकार जब तुमने इस विशाल भू-मण्डलको आक्रान्त कर लिया तो दूसरे नृपतिगण तुम्हारे चरणोंमें प्रणत होनेके सिवा और करते ही क्या?

यथा चोत्तरार्द्धे—"इत्थं ते विधृतपदद्वयस्य राज-
न्नाश्चर्यं कथमिव सीवनी न भिन्ना॥"

दूसरा उदाहरण—

इस प्रकार दो पर्वतोंपर दो पैर रखनेपर भी तुम्हारी सीवन (दोनों जंघाओंके बीचका जोड़) फट नहीं गई—यह परम आश्चर्य है।

दूसरे उदाहरणमें कविने पूर्वार्धको वैसे ही रहने दिया है। केवल उत्तरार्धमें उसका महत्त्व बढ़ानेके लिए आश्चर्य प्रकट किया है।

एवं व्यस्तार्द्धप्रयोगेऽपि। यथा—

इस प्रकार अस्त-व्यस्त रूपसे श्लोकार्थका स्वीकरण भी हरण ही है। जैसे—

"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न तिग्मरुचिमण्डलमभ्युदेति।
अभ्युद्गते सकलधामनिधौ तु तस्मि-
न्निन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः॥

आकाशमें चन्द्रमाका चमकना तभी तक महत्त्वपूर्ण रहता है, जबतक सूर्य किरणोंका जाल नहीं फैलता। समस्त तेजोनिधि सूर्यके उदय होने पर चन्द्रमामें और एक छोटेसे सूखे बादलके टुकड़ेमें कोई भेद नहीं रह जाता। दोनों एक-से ही प्रतीत होते हैं।

यथा च—"तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महीयो
यावन्न किञ्चिदपि गौरतरा हसन्ति ।
ताभिः पुनर्विहसिताननपङ्कजाभि-
रिन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥"

दूसरा उदाहरण—

आकाशमें चन्द्रकी धवल-किरणोंका महत्त्व तभी तक है, जबतक अत्यन्त गौर-वर्ण ललनाएँ कुछ हँस नहीं रहीं हैं। जब उनके सुन्दर मुख-कमलोंमें हासका विकास होगा तब चन्द्रमामें और बादलके एक छोटे टुकड़ेमें कुछ भी भेद न रह जायगा।

यहाँ पहले श्लोकके प्रथम और चतुर्थ पादका हरण किया गया है। यह अस्त-व्यस्त रूपसे हरण है।

पाद एवान्यथात्वकरणं न स्वीकरणं पादोहरणं वा। यथा—

जहाँ केवल एक ही पादका परिवर्तन करके दूसरी रचनाका निर्माण किया जाता है, उसे भी स्वीकरण नहीं; प्रत्युत एक पादको छोड़कर समस्त श्लोकका अपहरण कहा जायगा। जैसे—

"अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासापह्नवने चैव दिव्या सम्भवति क्रिया ॥"

जंगलमें, निर्जन-स्थानमें, रात्रिमें, घरके भीतरी भागमें, साहसके अवसरपर और किसीकी धरोहर छिपानेमें, दिव्य (अलौकिक) क्रिया हो सकती है।

यथा चोत्तरार्द्धे—"तन्वङ्गी यदि लभ्येत दिव्या सम्भवति क्रिया ।"

परिवर्तित उदाहरण—

ऐसे सभी उपर्युक्त अवसरोंपर यदि सुन्दरी रमणी मिल जाय तो दिव्य-क्रिया सम्पन्न हो सकती है।

यहाँ धरोहर छिपानेकी बातको छोड़कर और 'तन्वङ्गी यदि लभ्येत' एक नवीन पाद बनाकर शेष तीन पादोंको वैसे ही रहने दिया गया है। अतः यह भी अपहरण ही है।

यथा वा—"यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥"

इसी पादत्रय-हरणका एक और उदाहरण—

जिसके केशोंमें मेघ हैं, जिसकी एक-एक अंग-सन्धिमें एक-एक नदी है और जिसकी कोखमें चारों समुद्र हैं; उस जल-स्वरूप भगवान्‌को नमस्कार है।

यथा चोत्तरार्द्धे—"कुक्षौ समुद्राश्चत्वारः स सहेत स्मरानलम् ।"

उत्तरार्द्धमें परिवर्तित उदाहरण—

जो उक्त प्रकारसे जलमय है, वह कामाग्निको सहन कर सकता है।

इसमें भी 'तस्म तोयात्मने नमः' इस एक पादको हटाकर और 'स सहेत स्मरानलम्' यह एक पाद जोड़ दिया गया है। शेष तीन पाद प्रथम पद्यके ही हैं।

भिन्नार्थानां तु पादानामेकेन पादेनान्वयनं कवित्वमेव । यथा—

भिन्न-भिन्न अर्थवाले अनेक पादोंको एक पादसे मिलाकर अर्थ-संगति कर देना हरण नहीं कहा जा सकता; किन्तु वह भी एक प्रकारका कवित्व है और उसमें कविकी प्रतिभाका चमत्कार होता है। उदाहरण—

"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
व्रजति दिनकरोऽयं यत्र नास्तं कदाचित् ।
भ्रमति विहगसार्थानित्थमापृच्छमानो
रजनिविरहभीतश्चक्रवाको वराकः ॥"

रात्रिमें होनेवाले प्रिया-वियोगसे भीत बेचारा चकवा, पक्षियोंसे यह पूछता फिरता है कि भाई, तुमने पृथ्वीपर कोई ऐसा भी स्थान देखा या सुना है; जहाँ सूर्य, अस्त न होता हो।

यथा च—"जयति सितविलोलव्यालयज्ञोपवीती
घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः ।
अविदितमृगचिह्नामिन्दुलेखां दधानः
परिणतशितिकण्ठश्यामकण्ठः पिनाकी ॥"

दूसरा उदाहरण—

विशुभ्र एवं छातीपर लटकता हुआ सर्प, जिनका यज्ञोपवीत है, जिनकी सुनहली और घनी जटाओंके जालमें गंगाका जल घूमा करता है और जो मृग-चिह्न-रहित (निष्कलंक) चन्द्रमाकी लेखाको सिरमें धारण करते हैं, उन नीलकण्ठ शङ्कर भगवान्‌की जय हो।

यथा च—"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ह्री विचित्रो विपाकः ॥"

तीसरा उदाहरण—

प्रातःकाल, जब कुमुद-वन मुरझाकर शोभाविहीन हो जाते हैं, तब कमलोंके वन, अभिनव शोभा धारण करते हुए खिल उठते हैं। उधर उलूक (उल्लू), हर्ष-विहीन होकर अपने अन्धेरे नीड़में घुसनेकी चेष्टा करता है; इधर चकवा, रात्रि-वियोगके अनन्तर प्रिया-मिलनके असीम आनन्दसे फूल उठता है। जब प्रचंड-सूर्यकी किरणें उदयाचलके शिखरपर आरूढ़ होती हैं, तब शीत-रश्मि चन्द्रमा, अस्ताचलकी ओर लटकने लगता है। यह आश्चर्य है कि प्राणियोंको अपने-अपने कर्मके अनुसार विविध प्रकारके दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं"।

यथा च—"किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगङ्गाजलौघः।
निवसति स पिनाकी यत्र यायात्तदस्मिन्
हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः॥"

चौथा उदाहरण—

क्या इस लोकमें कोई ऐसा स्थान देखा या सुना गया है; जहाँ पीतवर्णकी सघन जटाओंके जालमें घूमती हुई गंगाको धारण किये हुए शंकर भगवान्, निवास करते हों। मैं भी वहीं जाऊँ। आश्चर्य है कि प्राणियोंको अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके दैव-दुर्विपाक भोगने पड़ते हैं।

इस चौथे उदाहरणमें, कविने, पहिलेका प्रथमपाद, दूसरेका दूसरा और तीसरेका चौथा पाद लेकर एवं तीसरा पाद अपनी ओरसे जोड़कर श्लोक पूरा कर दिया है। यह स्वतन्त्र प्रतिभा-प्रसूत कवित्व है; हरण नहीं।

पादोनवत्कतिपयपदप्रयोगोऽपि। यथा—

पादोन (एक पादहीन) श्लोकके समान ही कुछ पदोंका प्रयोग करना भी न 'हरण' है और न 'स्वीकरण' ही है। जैसे—

"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥"

संसारका वर्णन दो दृष्टियोंसे किया जाता है—एक तो नवीन रसमयी कवियोंकी दृष्टि है, जिसमें वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि व्यापारोंका प्रयोग करते हैं और दूसरी ओर प्राचीन दार्शनिक विद्वानोंकी दृष्टि है; जो परिनिष्ठित (वास्तविक) एवं लोक-प्रसिद्ध अर्थका प्रामाणिक रूपसे विवेचन करती हैं। हे समुद्र-

११. देखिए—माघ : शिशुपालवध, ११-६४

शायी भगवन्! उन दोनों दृष्टियोंसे समस्त विश्वका विवेचन करते-करते हम थक गए; किन्तु जो सुख तुम्हारी भक्तिमें प्राप्त होता है, वह कहीं न मिला।

यथा च चतुर्थपादे--

"श्रान्ता नैव च लब्धमुत्पलदृशां प्रेम्णः समानं सुखम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

हमलोग दोनों दृष्टियोंसे विश्व-वर्णन करते-करते थक गए; परन्तु कमल-नयनाओंके प्रेमके समान सुख कहीं न मिला।

पहले श्लोकमें चतुर्थ चरणके 'अब्धि-शयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्'—इस टुकड़ेके स्थानपर 'उत्पलदृशां प्रेम्णः समानं सुखम्' इतना जोड़ देनेसे पहली भक्ति-रसात्मक-रचना, शृंगार-रसमयी हो गई। यह कविकी प्रतिभाका विशेष-चमत्कार है। अतः यह न 'हरण' है और न 'स्वीकरण'।

पादैकदेशग्रहणमपि पदैकदेशोपलक्षणपरम्। यथा--

पादके एकदेशका ग्रहण भी पदके एकदेश-ग्रहणका उपलक्षण है। अतः किसी काव्य-रचनामें पदके एक देश (भाग) का परिवर्तन कर देना भी 'हरण' या 'स्वीकरण' नहीं कहा जा सकता। जैसे—

"असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥"

कुन्तल-देशके राज-मन्त्रीसे किसीने कहा कि--हे मन्त्रिन्! कुन्तल-देशका राजा तुम्हारे ऊपर सारा राज्य-भार छोड़कर प्रियतमाओंके मधु-सुगन्धित मुखोंका पान कर रहा है। उन प्रियतमाओंके मुख, मन्द-स्मितकी शोभासे धुले हुए हैं और नयनोंके अधखुले रहनेके कारण कमलोंके कर्णफूल उनपर स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि यदि उनके नयन-कमल पूर्ण रूपसे खुले होते तो कर्ण-कमल उनके आगे मन्द (फीके) पड़ जाते।

यथा चोत्तरार्द्धे—"पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः।"

इसीका परिवर्तित उदाहरण—

उत्तरमें कहा गया कि—कुन्तलेश्वर, राज्यका भार मुझे सौंपकर प्रियतमाओंके सुगन्धित मुखोंका प्रेमसे पान करें।[१२]

यहाँ पहले श्लोकके तृतीय-पादमें 'पिबति' के स्थान पर 'पिबतु' और चतुर्थ-पादमें 'त्वयि'के स्थानपर 'मयि' कर देनेसे पहला श्लोक प्रार्थना-परक हो गया। 'पिबति' पदके एक देश (भाग) लट् लकार 'ति' के स्थानपर लोट् लकार 'तु' का प्रयोग किया गया है और 'त्वयि' के एक देश 'त्व' के स्थानपर 'अस्मद्' का प्रयोग 'म' किया गया है। अतः यह हरण या स्वीकरण—कुछ भी नहीं है।

वाक्यस्यान्यथा व्याख्यानमपि न स्वीकरणं हरणं वा। यथा—

श्लोकके सम्पूर्ण वाक्योंका ग्रहण कर उसका भिन्न रूपसे व्याख्यान करना भी 'स्वीकरण' या 'हरण' नहीं है। जैसे—

"सुभ्रु त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता कथा योषितां
दूरादेव मयोज्झिताः सुरभयः स्रग्दामधूपादयः।
कोपं रागिणि मुञ्च मय्यवनते दृष्टे प्रसीदाधुना
सद्यस्त्वद्विरहाद्भवन्ति दयिते सर्वा ममान्धा दिशः॥"

हे सुन्दर भौहोंवाली, तुम कुपित हो गई हो; इसलिए मैंने अनशन प्रारम्भ कर दिया है। स्त्रियोंकी चर्चा तक नहीं करता। सुगन्धित माला, फूल, धूप, इत्र आदिका सेवन तो दूरसे ही छोड़ दिया। मुझपर क्रोध न करो। मुझ प्रेमीको चरणोंमें प्रणत देखकर भी तो प्रसन्न हो जाओ। तुम्हारे विरहमें मेरे लिए सारी दिशाएँ शून्य हैं। अर्थात् सभी ओर अन्धकार ही दीखता है।

एतच्च कान्ताप्रसादनपरं वाक्यं कुपितदृष्टिपरतया व्याख्यातं, न स्वीकृतं हृतं वा।

यह श्लोक प्रणय-कुपिता मानिनी नायिकाको प्रसन्न करनेके लिए है। किन्तु इसमें पड़े हुए 'दृष्टे' इस सप्तम्यन्त पदको यदि सम्बोधन मान लें तो यही श्लोक कुपित-दृष्टिको प्रसन्न करनेवाला हो जायगा और 'सुभ्रु' सम्बोधन, दृष्टिका विशेषण हो जायगा। इसको भी 'हरण' या 'स्वीकरण' नहीं कहा जा सकता।

---

१२. इस श्लोककी पृष्ठभूमिमें एक इतिहास है। इस इतिहासपर ऐतिहासिक विद्वानोंके कुछ मतभेद हैं। क्षेमेन्द्रने इस श्लोकको औचित्यविचारचर्चामें कालिदासके नामसे उद्धृत किया है। इसका सम्बन्ध कुन्तलदेशके किसी राजासे है; जिसके यहाँ कालिदास विक्रमादित्यके दूत बनकर गये थे। अतः कालिदास और विक्रमका समकालीन यह कुन्तलेश्वर कौन था, यह आजतक अनुमान और कल्पनाका विषय बना है। इसपर संक्षिप्त विचार परिशिष्ट प्रकरणमें देखिए।

यत्तु परकीयं स्वीयमिति प्रोक्तानामन्यतमेन कारणेन विलपन्ति, तन्न केवलं हरणम् , अपि तु दोषोदाहरणम् । मुक्तकप्रबन्धकविषयं तत् ।

जो लोग पहले कहे हुए अप्रसिद्ध आदि कारणोंमेंसे किसी एक कारणवश दूसरेके काव्यको अपना बनानेका अनर्थक प्रलाप करते हैं, वे केवल हरण ही नहीं करते; प्रत्युत अपनी दुर्बलता, असमर्थता एवं अकुलीनता आदि दोषोंको भी प्रकट करते हैं। ये सब दूषण, मुक्तक-काव्यों और प्रबन्ध-काव्योंके विषयमें समानरूपसे लागू होते हैं।

मूल्यक्रयोऽपि हरणमेव । वरमप्राप्तिर्यशसो न पुनर्दुर्यशः ।

दूसरेके काव्योंको पैसोंके बलपर खरीदकर अपने नामसे प्रसिद्ध करना भी 'हरण' ही है। यशकी प्राप्ति भले ही न हो; किन्तु निन्दा होना उचित नहीं।

"तद्वदुक्तिहरणम्" इति—आचार्याः ।

आचार्योंका कथन है कि मूल्य देकर अन्य कविकी रचनाको खरीदकर अपने नामसे प्रसिद्ध करनेके समान किसीकी उक्तिका हरण करना भी निन्दनीय (दोष) है।

यथा—"ऊरुद्वन्द्वं सरसकदलीकाण्डसब्रह्मचारि ।"

उदाहरण—

मृगाक्षीकी दोनों जाँघें सरस (हरे या ताजे) कदली-स्तम्भके समान हैं।

यथा च—'ऊरुद्वयं कदलकन्दलयोः सदंशं
श्रोणिः शिलाफलकसोदरसन्निवेशा ।
वक्षः स्तनद्वितयताडितकुम्भशोभं
सब्रह्मचारि शशिनश्च मुखं मृगाक्ष्याः ॥"

दूसरा उदाहरण—

उस मृगनयनीके दोनों ऊरु, केलेके खम्भेके समान चिकने और सरस हैं, कमर, शिला-पट्टके समान है, छाती, दोनों स्तनोंकी शोभासे घटोंकी शोभाका हरण करती है और मुख, चन्द्रमाका साथी है।

यहाँ प्रथम श्लोकमें ऊरु-युगलको कदली-स्तम्भके समान बताया गया है। जिसका अनुकरण दूसरे श्लोकमें भी उसी रूपमें कर दिया गया है।

"उक्तयो ह्यर्थान्तरसंक्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते, स्वदन्ते च; तदर्थास्तु हरणादपि हरणं स्युः" इति यायावरीयः ।

यायावरीयका मत है कि दूसरे कवियोंकी अलौकिक कल्पनाओंको लेकर यदि विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया जाय तो वे हरणके रूपमें पहचानी तो नहीं ही जा सकतीं; अपितु अत्यन्त सरस और आकर्षक भी हो जाती हैं। परन्तु हरण की

गई उक्तियोंका हरण, तो हरणसे भी गर्हित हरण हो जाता है। वह चुराये हुए को चुराना है।

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम्॥"

काव्य-रचना करनेवाले कवि और व्यापारी—ये दोनों चोर न हों—ऐसा सम्भव नहीं है। अर्थात् ये लोग कहीं-न-कहीं चोरी अवश्य करते हैं। इनमें प्रशंसनीय वही है; जो चोरीको छिपा सके और जिसकी निन्दा न हो। अतः जो कवि या व्यापारी चोरीको छिपा सकते हैं, वे अच्छे रहते हैं।

"उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः॥"

कवियोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि कुछ कवि उत्पादक[13] होते हैं, अर्थात् अपने प्रतिभा-बलसे मौलिक काव्य-रचना करते हैं। दूसरे परिवर्तक कवि हैं; जो दूसरोंकी रचनाओं और उक्तियोंको उलट-पलटकर अपने शब्दोंमें परिवर्तित कर देते हैं। कुछ आच्छादक कवि होते हैं; जो दूसरोंकी रचनाओंमेंसे किए गए हरणको छिपानेमें समर्थ होते हैं और चौथे संवर्गक कवि होते हैं; जो दूसरोंका अर्थाहरण करके अपने शब्दोंमें रखनेके लिए समर्थ होते हैं।

"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥"

जो कवि, शब्दों, अर्थों और उक्तियोंमें कुछ नए भावोंको देखनेकी शक्ति रखता है और अपने प्रतिभा-प्रकर्षसे किसी अलौकिक वस्तुका उन्मेष करता है, उसे महाकवि कहना चाहिए।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
एकादशोऽध्यायः शब्दहरणानि॥

एकादश अध्याय समाप्त



---

१३. उत्पादक कविके सम्बन्धमें बाणभट्टने भी लिखा है—"सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे-गृहे। उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव"। —हर्षचरित, १

द्वादशोऽध्यायः शब्दार्थहरणेषु कविप्रभेदाः प्रतिविम्बकल्पविकल्पस्य च समीक्षा ।

द्वादश अध्याय : अर्थ-हरणके अनेक भेद

पिछले अध्यायमें शब्द-हरणके प्रकार, भेद आदि बताए गए हैं। उनके औचित्यकी विविध प्रकारसे समीक्षा भी की गई । अब इस अध्यायमें अर्थ-हरणके सम्बन्धमें विवेचन किया जायगा ।

"पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु, ततश्च तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत" इति आचार्याः ।

आचार्योंका मत है कि 'प्राचीन कवियोंने काव्य-पथको अपने इस प्रतिभा-प्रकर्षसे इतना रौंद डाला है कि इस पथकी कोई भी वर्णनीय वस्तु, उनकी तीक्ष्ण, सूक्ष्म और अलौकिक दृष्टिसे बची नहीं है, अर्थात् अछूती नहीं रह गई। जो कुछ कहा जा सकता था; वे कह गए। नवीन विषय कुछ नहीं रह गया। अतः आधुनिक काव्य-निर्माताओंको चाहिए कि वे उसी वस्तुको काव्य-कलाके द्वारा सुसंस्कृत एवं सुसज्जित करनेका प्रयत्न करें।'

"न" इति वाक्पतिराजः ।
"आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि ।
अद्याऽप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः ॥"

वाक्पतिराज नामके महाकवि कहते हैं कि 'नहीं'। ऐसा नहीं है। यह वाणीका स्रोत, असीम और अनन्त है। सृष्टि-कालसे लेकर आज-तक न जाने कितने ही प्रखर-प्रतिभा-शाली कविगण, प्रतिदिन इसका तत्त्व-ग्रहण करते आ रहे हैं और ग्रहण करते रहेंगे; किन्तु यह अनादि स्रोत, आज भी उसी निर्बाध-गतिसे, अविच्छिन्न रूपसे, बहता जा रहा है।"[1]

तत्प्रतिभासाय च परप्रबन्धेष्ववदधीत ।

इसलिए उस दुष्प्राप्य और अस्पृष्ट-वस्तुकी प्रतीतिके लिए प्राचीन और नवीन कवियोंका भली-भाँति अध्ययन करना चाहिए। उससे प्रतिभाको उन्मेष प्राप्त होता है।

---

१. देखिए-वाक्पतिराज : गौडवहो, ८७ श्लोक; तथा आचार्य आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, ४-१०.

"तदवगाहने हि तदेकयोनयोऽर्थाः पृथक्पृथक् प्रथन्ते" इत्येके ।

कुछ लोगोंका कथन है कि 'दूसरे कवियोंकी रचनाओंका आलोचनात्मक अध्ययन करनेसे एक ही प्रकारके भावोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे अभिव्यक्ति होती है ।'

"तत्रत्यानामर्थानां छायया परिवृत्तिः फलम्" इत्यपरे ।

दूसरे कुछ विद्वान् कहते हैं, 'दूसरोंकी रचनाओंके सावधान-अवलोकनसे उनके भावोंको छाया पर, स्वयं काव्य-निर्माण करनेमें सहायता प्राप्त हो सकती है ।'

"महात्मनां हि संवादिन्यो बुद्धय एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति, तत्परित्यागाय तानाद्रियेत" इति च केचित् ।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'सूक्ष्मदर्शी महात्माओंकी बुद्धि, समान प्रकारकी होती है । अतः उसे समान रूपसे ही अर्थ-विशेषकी प्रतीति होती है ।[१] इसलिए एक ही प्रकारके भाव-विशेषोंके परित्याग करने एवं नवीन भावोंकी प्राप्तिके लिए दूसरोंकी रचनाओंका अवलोकन करना चाहिए ।'

"न" इति यायावरीयः । सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति ।

यायावरीय कहते हैं कि 'उपर्युक्त सभी विचार-धाराएँ उचित नहीं प्रतीत होतीं । यह एक निश्चित बात है कि ज्ञानमय-चक्षु, वाणी और मनसे अगोचर समाधिके द्वारा स्वयं-अपने आप-निश्चय कर लेता है कि यह विषय स्पृष्ट है या अस्पृष्ट । अर्थात् किसीने इस विषयपर कुछ कहा भी है या नहीं ? इसका निर्णय कविको स्वयं ज्ञानमय-चक्षुसे हो जाता है । जैसा कि कहा है—

तदाहुः—सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षुः । अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः । न तत् त्र्यक्षः सहस्राक्षो वा यच्चर्मचक्षुषोऽपि कवयः पश्यन्ति । मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति । कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मनामहंपूर्विकयैव शब्दार्थाः पुरो धावन्ति । यत्सिद्धप्रणिधाना योगिनः पश्यन्ति, तत्र वाचा विचरन्ति कवय इत्यनन्ता महाकविषु सूक्तयः ।

सरस्वती, महाकविको सुषुप्ति-अवस्थामें भी काव्यानुकूल शब्द और अर्थका ज्ञान करा देती है । किन्तु जो कवित्व-शक्तिसे हीन हैं, वे जागृत-अवस्थामें भी, आँखोंके रहते हुए भी, अन्धे ही रहते हैं । उन्हें ढूँढनेपर भी काव्यानुकूल प्रकाश नहीं मिलता । दूसरे कवियोंसे दृष्ट या उच्छिष्ट विषयके संबन्धमें महाकवि अन्धे

---

१. संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् । स्थितमित्येतत् । संवादिन्यो मेधाविनां बुद्धयः ।—ध्वन्यालोक, ४–११.

होते हैं और दूसरोंसे अदृष्ट (अछूते) सर्वथा नवीन विषयोंमें उनकी दिव्य-दृष्टि होती है। वे अपनी प्रतिभा-प्रसूत दिव्य-दृष्टिसे जिन नवीन तत्त्वोंको देखते हैं, उन्हें तीन आँखोंवाले शंकर और सहस्र आँखोंवाले देवराज-इन्द्र भी नहीं देख पाते। कहा है—"जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।" महाकवियोंके बुद्धि-दर्पणमें समूचा विश्व, प्रतिबिम्बित होता है। उन महान् आत्माओंके सामने, शब्द और अर्थ, पहिले पहुँचनेकी होड़ लगाकर दौड़ते रहते हैं। जिस वस्तुको समाधि-सिद्ध योगी-जन दिव्य-दृष्टिसे देखते हैं; उनमें कविगण वाणी द्वारा विचरण करते हैं।' विद्वत्-समाजमें महाकवियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी अनन्त सूक्तियाँ (कहावतें) प्रचलित हैं।

"समस्तमस्ति" इति यायावरीयः। किन्तु त्रिपथमर्थमध्यगीष्महि यदुतान्ययोनिर्निह्नुतयोनिरयोनिश्च।

यायावरीयका कथन है कि महाकवियोंमें उपर्युक्त सभी अलौकिकताएँ रहती हैं। तथापि हमने अर्थों और भावोंको तीन प्रकारसे पढ़ा है। पहला अन्ययोनि, जिसे उत्पन्न करनेवाला दूसरा कवि होता है। दूसरा निह्नुत-योनि, जिसकी उत्पत्ति-का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि इसका उत्पादक कवि कौन है और तीसरा अयोनि, जिसका उन्मेष (आविर्भाव) कवि स्वयं करता है।[3]

तत्रान्ययोनिर्द्विधा प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रख्यश्च। निह्नुतयोनिरपि द्विधा तुल्यदेहितुल्यः परपुरप्रवेशसदृशश्च। अयोनिः पुनरेक एव। तत्र—

इनमें पहला अन्ययोनि-अर्थ दो प्रकार का है—१. प्रतिबिम्ब-कल्प और २. आलेख्य-प्रख्य[4]। दूसरा निह्नुत-योनि अर्थ भी दो प्रकारका होता है—१. तुल्यदेहि-तुल्य और २. परपुर-प्रवेश-सदृश। अयोनि अर्थ, एक ही प्रकारका होता है। इनमें प्रथम अर्थ—अन्ययोनिके दो भेदों-प्रतिबिम्ब-कल्प और आलेख्य-प्रख्य—में प्रथम-भेद—प्रतिबिम्ब-कल्पका लक्षण कहा जाता है।

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥

जिस रचनामें दूसरे कविके काव्यका समस्तभाव विद्यमान हो, केवल वाक्य-विन्यासमें विभिन्नता हो एवं तात्त्विक भेद कुछ भी न हो—उसे प्रतिबिम्ब-कल्प-काव्य कहा जाता है। उदाहरण—

---

३. वामनने इसे दो प्रकारका लिखा है—अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च। अयोनिः अकारणः, अवधानमात्रकारण इत्यर्थः। अन्यस्य काव्यस्यच्छाया तद्योनिः।—काव्यालङ्कार सूत्र, ३, २, ७

४. आनन्दवर्धनने इन दोनों भेदोंके नाम लिखे हैं—'संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्। आलेख्यप्रख्यवत् तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्।'—ध्वन्यालोक, ४-१२

यथा—"ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः ।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ॥

भगवान् पशुपति-शंकरके गलेमें चिपके हुए भ्रमरोंके समान वे काले सर्प, आप लोगोंकी रक्षा करें; जो नीले गलेसे निकले हुए एवं चन्द्रमाकी अमृतमय किरणोंसे सींचे हुए कालकूट (विष)के अंकुरोंके समान शोभा धारण करते हैं।

यथा च—"जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥"

दूसरा उदाहरण—

भगवान् पशुपतिके विशाल जटाजूटमें लटकते हुए उन श्याम-वर्ण सर्पोंकी जय हो; जो गंगाजलके निरन्तर टपकनेके कारण उगनेवाले कालकूट (विष) के अंकुरोंके समान शोभित होते हैं।

पहले श्लोकका पूरा भाव, दूसरे श्लोकमें आ गया है, केवल वाक्य-रचनामें भेद है। अतः दूसरा श्लोक प्रथमश्लोकके प्रतिविम्ब-कल्प अर्थात् समान है।

क्रियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति ।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

आलेख्य-प्रख्यका लक्षण—

प्राचीन भावमें कुछ स्वल्प संस्कार (परिवर्तन) आदि कर देनेसे यदि वह प्राचीनसे भिन्न प्रतीत होने लगे तो अर्थ-चतुर विद्वानोंने उसका नाम आलेख्य-प्रख्य कहा है। उदाहरण—

तत्रैवार्थे यथा—

"जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥"

ऊपरके श्लोकमें किंचित् परिवर्तन करके रचना की गई है—भगवान्‌के जटा-जूटमें विद्यमान श्वेतवर्णके सर्पोंकी जय हो; जो गंगाके निरन्तर प्रवाहसे सींचे जाते हुए चन्द्रमा रूपी श्वेत-कन्दके अँकुर-से प्रतीत होते हैं।

इसमें भाव तो वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि गलेमें लिपटे हुए काले साँपोंको 'विषाङ्कुर' न कहकर, जटाजूटके श्वेत सर्पोंको 'चन्द्रकन्दाङ्कुर'के रूपमें संस्कार किया गया है। अतः यह आलेख्य-प्रख्य है।

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

निह्नुत-योनिके प्रथम-भेद तुल्य-देहि-तुल्य काव्यका लक्षण—

जहाँ विषयका भेद होनेपर भी, अत्यन्त सादृश्य होनेके कारण अभेदकी प्रतीति होती हो, उसे तुल्यदेहि-तुल्य काव्य कहा जाता है। ऐसे काव्योंकी रचना विद्वज्जन भी करते हैं। उदाहरण—

यथा—"अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधिः
पशुर्धन्यस्तावत्प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।
अमीषां निर्माणं किमपि तदभूद्गघकरिणां
वनं वा क्षोणीभृद्भुवनमथवा येन शरणम्॥"

जो घोड़ा, भेड़ों-बकरियों आदिको भी स्थान देते हुए सुखपूर्वक जीता है, वह धन्य है। अर्थात् जो भी परोपकार करते हुए जीता है, वही धन्य है। और इन दुष्ट-हाथियोंका जन्म तो केवल भार भूत ही है; क्योंकि इनका निवास या निर्जन वनमें या राजाओंके भवनमें ही हो सकता है। ये सर्वसाधारणके योग्य नहीं हैं।

अत्रार्थे—"प्रतिगृहमुपलानामेक एव प्रकारो
मुहुरुपकरणत्वादर्घिताः पूजिताश्च।
स्फुरति हतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे वा निवासः॥"

दूसरा उदाहरण—

घर-घरमें पत्थरोंकी एक-सी ही स्थिति है। ये पत्थर, सर्वसाधारणके अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण सभी स्थानोंपर पाये जाते हैं और पूजे भी जाते हैं। परन्तु इन अभागे रत्नोंकी चमक-दमक व्यर्थ है, जिनका निवास खानोंमें या केवल राजाओंके घरोंमें है।

पहले श्लोकमें घोड़े और हाथीका वर्णन है तथा दूसरेमें पत्थरों और मणियोंका। इस प्रकार दोनोंके विषय भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु दोनोंमें साधारण तथा असाधारण योग्यताका वर्णन एक-सा है। अतः दोनोंमें अत्यन्त सादृश्य होनेके कारण इसे तुल्य-देहि-तुल्य कहा गया है।[५]

मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्॥

---

५. तुल्य-देहितुल्य-काव्यके उदाहरणोंके प्रथम पद्यमें घोड़े और हाथीका वर्णन तथा द्वितीय पद्यमें साधारण पत्थर और मणियोंका वर्णन भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु घोड़े और पत्थरोंकी सर्वसाधारणके लिए उपयोगिता और हाथी एवं मणियोंके लिए केवल राजाओंके लिए उपयोगिता और सर्वसाधारणके लिए अनुपयोगिता समान रूपसे वर्णित की गई है। अतः दोनोंमें अत्यन्त सादृश्य प्रतीत होता है। यही तुल्यदेहितुल्यता है।

दूसरे भेद 'पर पुर-प्रवेश-सदृश' का लक्षण—

जहाँ मूल वस्तु तो एक-सी हो, परन्तु रचनामें सर्वथा भेद हो, उसे 'पर-पुर-प्रवेश-सदृश' काव्य कहते हैं। इसे उत्कृष्ट कोटिके कवि भी अपनाते हैं। उदाहरण-

यथा—"यस्यारातिनितम्बिनीभिरभितो वीक्ष्याम्बरं प्रावृषि
स्फूर्जद्दुर्गर्जितनिर्जिताम्बुधिरवस्फाराभ्रवृन्दाकुलम्।
उत्सृष्टप्रसभाभिषेणनभयस्पष्टप्रमोदाश्रुभिः
किञ्चित्कुञ्चितलोचनाभिरसकृद् घ्राताः कदम्बानिलाः॥"

जिस राजाके शत्रुओंकी स्त्रियोंने, वर्षाकालमें, चारों ओर अपनी गर्जनासे समुद्रकी गंभीर गर्जनाको जीतनेवाले मेघोंकी घन-घटासे भरे हुए आकाशको देखकर, अतएव पतियोंके युद्धमें जानेके भयसे मुक्त होकर, आनन्द-अश्रुओंको बहाया और आँखोंको कुछ सिकोड़ते हुए कदम्ब-पुष्पोंकी सुगन्धसे सुरभित वायुको बार-बार सूँघा।

अत्रार्थे—"आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवं
यात्राभङ्गविधायिनो जलमुचां कालस्य चिह्नं महत्।
हृष्यद्भिः परिचुम्बितं नयनयोर्न्यस्तं हृदि स्थापितं
सीमन्ते निहितं कथञ्चन ततः कर्णावतंसीकृतम्"॥

इसी अर्थका दूसरा उदाहरण—

जिस राजाकी शत्र—रमणियोंने, यात्राको रोकनेवाले वर्षाकालके महान् चिह्न स्वरूप कदम्ब-कुसुमोंको, अपने प्रिय-पतियोंसे तुड़वाया और प्रसन्न होकर उन्हें चूम लिया, आँखोंसे लगाया, हृदय पर रखा, अन्तमें उन्हें किसी प्रकार कर्ण-भूषण बनाया।

यहाँ पहिले श्लोकके समान ही दूसरे श्लोकमें भी वर्षाकाल, शत्रुभयका परित्याग, कदम्ब-कुसुम आदिका वर्णन समान होनेसे दोनोंमें मूलतः ऐक्य है; किन्तु दोनोंका उपक्रम या रचना-प्रकार भिन्न है। अतः दूसरा उदाहरण पर-पुर-प्रवेश-सदृश है।

तदेतच्चतुष्टयनिबन्धनाश्च कवीनां द्वात्रिंशद्धरणोपायाः। अमीषां चार्थानामन्वर्था अयस्कान्तवच्चत्वारः कवयः, पञ्चमश्चादृष्टचरार्थदर्शी। तदाहुः—

इस प्रकार प्रतिबिम्बकल्प आदि चारों अर्थोंके आधारपर कवियोंके लिए अर्थ-हरणके बत्तीस उपाय बताए गए हैं। इन चारों अर्थोंके नाम और गुणके अनुरूप भ्रामक, चुम्बक आदि चार प्रकारके कवि भी होते हैं और पाँचवाँ अयोनि अर्थात् मौलिक कल्पना करनेवाला 'चिन्तामणि' नामक कवि होता है। कहा भी है—

"भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च सः ।
स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः ॥

लौकिक कवि चार प्रकारके होते हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक[१]। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ अलौकिक कवि है, जो चिन्तामणि कहा जाता है। क्रमशः उनके लक्षण—

तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः ।
योऽप्रसिद्धयादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद्भ्रामकः कविः ॥

जो कवि, प्राचीन-रचनाको अपनी बनाई हुई सिद्ध करता है एवं उसे नवीन रचना बताकर प्रचारित करता हुआ अप्रसिद्ध आदि कारणोंसे लोगोंको भ्रममें डाल देता है, वह 'भ्रामक' कवि है।

यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा ।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः ॥

जो कवि, दूसरेके भावको अपने मनोहर शब्दोंकी योजनासे कुछ नवीन शोभा प्रदान करते हुए अपना लेता है, वह 'चुम्बक' कवि कहा जाता है।

परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत् ।
समुल्लेखेन केनापि स स्मृतः कर्षकः कविः ॥

जो कवि, अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा दूसरेके भावको अपनाकर अपनी सुन्दर रचनाके सांचेमें ढाल देता है, वह 'कर्षक' कवि कहा जाता है।

अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत् ।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः ॥

जो कवि, अपनी सुन्दर रचनामें, दूसरे कविके मूल-भावोंको निकालकर इस प्रकार लीन कर देता है कि किसीको पता न चले, उसे 'द्रावक'-कवि कहते हैं।

चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः ।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥"

जिसके श्लोकका अर्थ, समझमें आते ही, सहृदयोंको रससे ओत-प्रोत कर देता है और जिसकी कवितामें विचित्र कल्पनाओंका वह अलौकिक स्फुरण (स्पन्दन) होता है; जो पुराने कवियोंकी दृष्टिसे भी बाहर है, उस अद्वितीय कविका नाम 'चिन्तामणि' है।

---

६. इसका तात्पर्य यह है कि 'प्रतिबिम्बकल्प'—काव्य रचना करनेवाला कवि भ्रामक, 'आलेख्यप्रख्य'—काव्य रचना करनेवाला चुम्बक, 'तुल्यदेहितुल्य'—रचना करनेवाला कर्षक और 'परपुरप्रवेश-सदृश-काव्य रचना करनेवाला द्रावक कवि कहा जाता है।

तस्य चायोनिरर्थः । स च त्रिधा लौकिकालौकिकभेदेन, तयोर्मिश्रत्वेन च । तत्र लौकिकः—

इस चिन्तामणि नामक कविका भाव (कल्पना), अयोनि अर्थात् मौलिक होता है । वह सर्वथा नवीन और स्वयं उद्भूत होता है । अयोनि अर्थ, तीन प्रकारका होता है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र । इनमें लौकिक अर्थका उदाहरण—

"मा कोशकारलतिके वह वर्णगर्वं
किं डम्बरेण चणिके तव कौसुमेन ।
पुण्ड्रेक्षुयष्टिरियमेकतरा चकास्तु
या स्यन्दते रसमृतेऽपि हि यन्त्रयोगात् ॥"

हे कोशकार-लते ![७] अपने चमकीले रंगपर अभिमान न करो, हे चनेके क्षुपो ! अपने फूलोंके आडम्बरपर न भूलो, तुमसे तो यह मोटे ईखकी लकड़ी ही अच्छी है; जो बिना यन्त्र (मशीन) के ही सर्वांगसे अमृत बहाती है ।

यहाँ कविने कोषकार एवं चणिकाकी अपेक्षा पुण्ड्रेक्षु (मोटा गन्ना) की उन्नति रूप लौकिक अर्थको स्वयं प्रादुर्भूत किया है अर्थात् मौलिक कल्पना है । अलौकिक अर्थका उदाहरण—

अलौकिकः—"देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद्भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयालिङ्गिते ।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानप्रवृत्तिस्तयो-
रन्योन्याङ्कनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः ॥"

इस उदाहरणका अर्थ पाँचवें अध्यायके ४३वें पृष्ठमें किया गया है । इसमें देवी और गण आदिके स्वर्गीय होनेके कारण यह अर्थ अलौकिक है और कविकी मौलिक सूझसे उत्पन्न है ।

मिश्रः—"स्थिते कुक्षेरन्तर्मुरजयिनि निःश्वासमरुतो
जनन्यास्तन्नाभीसरसिजपरागोत्करमुचः ।
निपीताः सानन्दं रचितफणचक्रेण हलिना
समन्तादस्यासुः प्रतिदिवसमेनांसि भवतः ॥"

मिश्रका उदाहरण—

भगवान् कृष्ण जब अपनी माताके गर्भमें थे, उस समय उनके नाभि-कमलके पराग-समूहसे सुगन्धित, माता देवकीके जिस निश्वास-वायुको, फणामंडल बनानेवाले बलदेवजीने, प्रेमपूर्वक सूँघा था; वे वायु, पापोंसे प्रतिदिन आपकी रक्षा करें ।

---

७. कोशकारलतिका—ईख या गन्नेका एक भेद ।

इसमें देवकी लौकिक अर्थ है और कृष्ण तथा बलदेव अलौकिक अर्थ हैं। दोनोंका सम्मिश्रण करनेसे यह मिश्र अर्थका वर्णन हुआ।[८]

तेषां च चतुर्णामर्थानाम्—चत्वार एते कथिता मयैव
येऽर्थाः कवीनां हरणोपदेशे।
प्रत्येकमष्टत्ववशाद्भवन्ति
द्वात्रिंशता तेऽनुगताः प्रभेदैः॥

हमने, अध्यायके प्रारम्भमें अन्ययोनिके दो भेद, (प्रतिबिम्ब-कल्प और आलेख्य-प्रख्य) और निन्हुत योनिके दो भेद (तुल्य-देहि-तुल्य और पर-पुर-प्रवेश-सदृश) इस प्रकार चार भेद बताए हैं। उनमें प्रत्येकके आठ-आठ भेद होनेसे कुल मिलाकर बत्तीस भेद होते हैं।[९]

तत्र प्रतिबिम्बकल्पविकल्पाः।

उनमें प्रतिबिम्ब-कल्पके आठ भेद ये हैं—१. व्यस्तक, २. खण्ड ३. तैल-बिन्दु, ४. नट-नेपथ्य, ५. छन्दो-विनिमय, ६. हेतु-व्यत्यय ७. संक्रान्तक और ८. सम्पुट।

स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः।

इन आठोंके क्रमशः उदाहरण दिये जायँगे। प्रथम भेद व्यस्तक है। व्यस्तकका लक्षण यह है—जिस रचनामें पूर्व अर्थको पर और पर अर्थको पूर्व कर दिया जाय। उदाहरण—

यथा—"दृष्ट्वान्येभं छेदमुत्पाद्य रज्ज्वा
यन्तुर्वाचं मन्यमानस्तृणाय।

---

८. देवकीके गर्भमें विष्णुके निवास करनेके कारण उनके नाभिकमलकी सुगन्धका देवकीके निश्वासमें आना स्वाभाविक था। बलदेवजी शेषनागका अवतार थे। वे विष्णुके नाभिकमलकी पराग-सुगन्धसे परिचित थे, एवं यह भी जानते थे कि भगवान् देवकीके उदरमें निवास कर रहे हैं और उनके नाभिकमलकी सुगन्ध माताके श्वासों द्वारा बाहर आरही है, अतः वे फणोंको फैलाकर उन निश्वासोंको सूँघते थे। यह कविकी अनोखी मौलिक-सूझ है। इसमें दिव्य और मर्त्य दोनों प्रकारके पात्रोंका वर्णन है। अतः यह मिश्र (लौकिक-अलौकिक) अर्थका वर्णन है।

९. राजशेखरने इस पद्यमें कहा है कि काव्यार्थहरणके ये चारों भेद मैंने ही आविष्कृत किये है। किन्तु इनमेंसे तीन भेद आचार्य आनन्दवर्धनने भी कहे हैं; जो राजशेखरसे प्राचीन हैं और राजशेखरने 'आचार्याः' के नामसे उनका मत अनेक स्थलोंमें उद्धृत भी किया है। सम्भव है उनका तात्पर्य इन भेदोंके उन ३२ उपभेदोंसे हो जिनकी चर्चा काव्य-मीमांसासे अतिरिक्त अन्यत्र नहीं देखी जाती।

गच्छन्दध्रे नागराजः करिण्या
प्रेम्णा तुल्यं बन्धनं नास्ति जन्तोः ॥"

अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीको देखते ही रस्सीके बन्धनको तोड़कर और महावतकी बातोंको तृणके समान समझता हुआ गजराज, जब उसपर आक्रमण करने के लिए दौड़ पड़ा, तब हथिनीने उसे रोक लिया। सच है कि प्रेमके समान प्राणीके लिए दूसरा बन्धन नहीं है।

अत्रार्थे—"निर्विवेकमनसोऽपि हि जन्तोः
प्रेमबन्धनमशृङ्खलदाम ।
यत्प्रति प्रतिगजं गजराजः
प्रस्थितश्चिरमधारि करिण्या ॥"

दूसरा उदाहरण—

यह सच है कि अविवेकी प्राणी (पशु) के लिए भी प्रेमका बन्धन, बिना शृङ्खलाका बन्धन है; क्योंकि बराबरीके दूसरे गजराजपर आक्रमण करते हुए गजको हथिनीने प्रेमपाशमें बाँधकर चिरकालतक रोक रखा।

दूसरी रचनामें प्रथम रचनाके ही भावको आगे-पीछे करके रख दिया है। अतः दूसरी रचना, 'व्यस्तक' प्रतिबिम्ब-कल्प है। निर्विवेक पशुका भी प्रेमको इतना महत्त्व देनेका वर्णन पहली रचनासे कुछ वैचित्र्य भी प्रकट करता है।

बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयनं खण्डम् ।

किसी काव्य-रचनाके विशाल अर्थको खण्ड करके निर्माण करना 'खण्ड' कहा जाता है। उदाहरण—

यथा—"पुरा पाण्डुप्रायं तदनु कपिशिम्ना कृतपदं
ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्गितवपुः ।
शनैः शोषारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति ॥"

बेरका फल जब पकने लगता है, तब पहले प्रायः पीला होता है, उसके बाद पीलेपनके साथ कुछ भूरे रंगका होने लगता है, उसके अनन्तर जब पक जाता है; तब कुछ लाल हो जाता है, जब धीरे-धीरे सूखने लगता है; सिकुड़कर ऊँचा-नीचा हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः गन्ध-शून्य एवं नीरस होकर बनमें ही सूखकर गिर जाता है।

अत्रार्थे—"पाकक्रियापरिचयप्रगुणीकृतेन
संवर्गितारुणगुणं वपुषा निजेन ।

आपादितस्थपुटसंस्थितिशोषपोषा-
देतद्वने विरसतां बदरं बिभर्ति ॥"

दूसरा उदाहरण—

बेरका फल जब पककर सूखने लगता है; तब फूल जाता है। कुछ काला तथा कुछ लाल-सा हो जाता है। इस प्रकार जब सूखकर नीरस हो जाता है, तब झड़कर बनमें ही गिर जाता है।

पहली रचनामें बेरका पूर्ण वर्णन किया गया है; परन्तु दूसरी रचनामें उसका आधा भाग ही वर्णित किया गया है। अतः यह काव्य, 'खंड' प्रति-विम्ब-कल्प है।

संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः।

दूसरी काव्य-रचनामें जिस विषयका वर्णन संक्षेपमें किया गया हो, उसे अपनी रचनामें विस्तारपूर्वक वर्णन करना 'तैल-बिन्दु' है। उदाहरण—

यथा—"यस्य तन्त्रभराक्रान्त्या पातालतलगामिनी।
महावराहदंष्ट्राया भूयः सस्मार मेदिनी॥"

जिस राजाकी सेनाके भारसे दबकर पातालमें धँसती हुई पृथ्वीने महावराहके दाँतोंका फिरसे स्मरण किया।

अत्रार्थे—"यत्तन्त्राक्रान्तिमज्जत्पृथुलमणिशिलाशल्यवेल्लत्फणान्ते
क्रान्ते पत्यावहीनां चलदचलमहास्तम्भसम्भारसीमा।
सस्मार स्फारचन्द्रद्युति पुनरवनिस्तद्धिरण्याक्षवक्षः-
स्थूलास्थिश्रेणिशाणानिकषणसितमप्याशु दंष्ट्राग्रमुग्रम्॥"

दूसरा उदाहरण—

राजाकी सेनाके भारसे दबती हुई मणियोंके अग्रभागरूपी कीलोंके चुभनेसे, फणोंके अग्रभागमें पीड़ाका अनुभव करते हुए शेषनाग, अत्यन्त दुःखी हुए और उधर महास्तम्भोंके समान पर्वतोंके धारणकी मर्यादा भङ्ग होनेके भयसे पृथ्वी भी भगवान् महावराहके उन दंष्ट्राग्रों', (दाढ़ों) का पुनः स्मरण करने लगी; जो हिरण्याक्षके वक्षःस्थलकी सुदृढ़ अस्थिरूपी शानपर घिसनेके कारण ,अत्यन्त स्वच्छ, तीखे और चन्द्रमाके समान चमक रहे थे।

पहले श्लोकका दूसरे श्लोकमें विस्तृत वर्णन होनेके कारण यह 'तैल-बिन्दु' नामक प्रतिविम्ब कल्प काव्य है। पहले पद्यमें, केवल पृथ्वीका बराहकी दाढ़ोंका पुनः स्मरण करना वर्णित है। दूसरी रचनामें, उन दाढ़ोंका हिरण्याक्षकी छातीपर शान लगकर नुकीला और चमकीला होना तथा शेषनागकी मस्तकमणियोंका भारसे दबकर

उसके फणोंमें चुभना—इत्यादि अधिक वर्णन करके कविने पूर्व अर्थको अधिक चमत्कारी बना दिया।

अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्यत इति नटनेपथ्यम्।

अन्य भाषामें निबद्ध कविके भावको दूसरी भाषामें परिवर्तित करना 'नट-नेपथ्य' है। उदाहरण—

यथा—"नेच्छइ पासासंकी काओ दिण्णं पि पहिअघरिणीए।
ओहत्तकरयलोग्गलियवलयमज्झट्ठिअं पिण्डं॥"

पथिककी वधू कौएको ग्रास देती है। ग्रास देनेके समय, हाथ नीचा करनेसे ग्रासके साथ, उसके हाथका कंकण भी गिर जाता है; जो कौएकी दृष्टिमें उसे फँसानेके लिए जाल जैसा मालूम होता है। अतः बार-बार ग्रास देने और बुलानेपर भी कौआ उसे छूता नहीं है।[10]

तात्पर्य यह कि गृहिणी, विरह-व्यथासे इतनो दुर्बल और बेसुध हो गई है कि उसका कङ्कण गिर पड़ता है और उसे उसका ध्यान भी नहीं है। कौआ, गोलाकार कङ्कणको अपने फाँसनेका यन्त्र या जाल समझकर ग्रास-ग्रहण करनेका साहस नहीं करता।

अत्रार्थे—"दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं
द्वारोपान्ते कथमपि तया सङ्गमाशानुबन्धात्।
वक्रग्रीवश्चलनतशिराः पार्श्वसञ्चारिचक्षुः
पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः॥"

दूसरा उदाहरण—

पतिके आगमनकी आशासे घरके द्वारपर आँसुओंसे मुँह धोती हुई विरहिणी-अंगना, कौएको किसी प्रकार ग्रास प्रदान करती है। कौआ, गलेको टेढ़ा करता हुआ, गर्दनको नीची करता हुआ एवं आँखें इधर-उधर चलाता हुआ आस-पास, घूमता है; परन्तु ग्रासके चारों ओर हाथसे निकलकर पड़े हुए गोलाकार कंकणको जाल समझकर उसके पास नहीं आता।

पहला श्लोक प्राकृत-भाषामें है, उसीके भावको लेकर संस्कृत-भाषाके कविने दूसरी रचनाकी है। अतः दूसरा श्लोक 'नट-नेपथ्य' है। इसमें कौएकी स्वाभाविक चेष्टाओंका वर्णन, पूर्व रचनासे अधिक चमत्कारकारी है।

छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः।

अर्थ या भाव वही हो, केवल छन्द परिवर्तनकर दिया जाय तो उस प्रतिबिम्ब-कल्पका नाम 'छन्दो-विनिमय' है। उदाहरण—

---

१०. देखिए—सातवाहन : गाथा सप्तशती, ३-५।

यथा—"कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्
तद्वासः श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमपि स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥"

हे सखि! पतिके बिस्तरपर आते ही, मेरा नीवी-बन्धन, स्वयं खुल गया और ढीली-ढाली करधनोमें उसका कुछ भाग फँसा रह गया। यहाँ तक तो मैं जानती हूँ, अर्थात् स्मरण है। उसके अनन्तर उनके अंगका संग होनेपर तो वह कौन हैं? मैं कौन हूँ? रति क्या है? और क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ भी स्मरण नहीं।[११]

अत्रार्थे—"धन्यास्तु याः कथयथ प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहितश्च करः प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥"

दूसरा उदाहरण—

हे सखियो, तुम धन्य हो; जो प्रियतमका संग होनेपर भी विविध प्रकारकी प्रिय-उक्तियोंको कहती-सुनती हो; किन्तु मैं तो शपथपूर्वक कहती हूँ कि जहाँ मेरे प्रियतमने, नीवी-बंधन खोलनेके लिए हाथ बढ़ाया कि फिर मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।[१२]

यहाँ पहले और दूसरे श्लोकका विषय एक ही है, केवल पहले कविने उसे शार्दूल-विक्रीडित छन्दमें कहा है और दूसरेने वसन्त-तिलका छन्दमें। अतः इस प्रतिबिम्ब-कल्पका नाम 'छन्दो-विनिमय' है। इस कविने 'शपथपूर्वक'—कहकर पूर्व श्लोकसे अर्थको और भी चमत्कारी बना दिया है।

कारणपरावृत्त्या हेतुव्यत्ययः ।

एक ही अर्थको किसी कविने जिस कारणसे ग्रहण किया हो, उसी अर्थको दूसरे कारण द्वारा ग्रहण करना 'हेतु-व्यत्यय' नामका प्रतिबिम्ब-कल्प है। उदाहरण—

यथा—"ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतरुचिः शशी ।
दध्रे कामपरीक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥"

प्रभातकालमें सूर्य-सारथी अरुणके पूर्व क्षितिजमें आ जानेपर, चन्द्रमाकी कान्ति मलिन पड़ गई। उस समय चन्द्रमा, काम-विरहके कारण दुर्बल कामिनीके कपोलोंके समान पीला पड़ गया।[१३]

---

११. देखिए—अमरुकवि : शृङ्गार शतक, १०१। शतकमें पाठभेद है।

१२. यह पद्य सूक्तिसंग्रहोमें विज्जकाके नामसे उद्धृत किया गया है।

१३. देखिए—वाल्मीकि : रामायण, सुन्दरकाण्ड।

अत्रार्थे—"समं कुसुमचापेन गर्भिणीगण्डपाण्डुना ।
उदयाद्रिशिरःसीम्नि निहितं पदमिन्दुना ॥"

दूसरा उदाहरण—

सायं कालके अनन्तर गर्भिणी स्त्रीके कपोलोंके समान कुछ मलिन कान्ति-वाले चन्द्रमाने कामदेवके साथ उदयाचलके शिखरपर पैर रखे । अर्थात् चन्द्र किरणें फैल गईं ।[14]

पहले श्लोकमें चन्द्रमाकी पांडुता, काम-कृश कामिनीके कपोल द्वारा उपमित हुई है और अस्तमनका कारण हुई । दूसरे श्लोकमें चन्द्रमाकी वही पांडुता, गर्भिणीके कपोलसे उपमित होकर उदयकालका कारण हुई । अतः दूसरा उदाहरण हेतु-व्यत्यय कहा जाता है ।

दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र संक्रमितिः संक्रान्तकम् ।

कहीं देखी गई वस्तुका कहीं संक्रमण करना 'संक्रान्तक' नामका प्रतिविम्ब-कल्प काव्य है । उदाहरण—

यथा—"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकबरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम् ।
अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङ्क्तिशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति ॥"

स्नान करनेके उपरान्त अत्यन्त आर्द्र एवं चोटियोंके बन्धन खुल जानेसे चंचल केश, कमरके नीचे तक लटक रहे हैं और उन कमलाक्षी कामिनियोंके क्रीडा-हंस, केशोंसे टपकते हुए जल-बिन्दुओंको, गर्दन उठाकर, चंचु-पुटोंसे ऊपर-ही-ऊपर पान कर रहे हैं ।

अत्रार्थे—"सद्यःस्नातजपत्तपोधनजटाप्रान्तस्रुताः प्रोन्मुखैः
पीयन्तेऽम्बुकणाः कुरङ्गशिशुभिस्तृष्णाव्यथाविक्लवैः ।
एतां प्रेमभरालसां च सहसा शुष्यन्मुखीमाकुलः
श्लिष्यन् रक्षति पत्रसम्पुटकृतच्छायः शकुन्तः प्रियाम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

पिपासासे व्याकुल एवं ऊपरकी ओर मुँह उठाए हुए हरिण-शिशु, तत्काल स्नान करके जप करते हुए मुनियोंकी जटाओंके अग्रभागसे टपकते हुए जल-

---

१४. महाभारत, द्रोणपर्व ।

बिन्दुओंको पी रहे हैं और गर्मीसे व्याकुल पक्षी, प्रेमसे अलसाती हुई तथा पिपासाके कारण सूखे मुँहवाली प्रियतमाको देखकर उसे अपने पंखोंकी छायामें छिपाकर आलिंगन करता हुआ ग्रीष्मसे उसकी रक्षा कर रहा है।

यहाँ पहले श्लोकमें कहा गया है कि स्त्रियोंके स्नानार्द्र केशोंके अग्रभागसे टपकते हुए जल-कणोंको हंस पीते हैं। इसी वस्तुको दूसरे श्लोकमें, मृग-शावक तपस्वियोंकी स्नानार्द्र जटाके अग्रभागसे गिरते हुए जल-कणोंको पीते हैं—इस प्रकार उसे दूसरे रूपमें संक्रान्त कर दिया गया। अतः यह 'संक्रान्तक' नामक हरण है।

उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः।

दो भिन्न-भिन्न रचनाओंके भावोंको एक ही श्लोकमें ग्रहण करना 'सम्पुट' नामक प्रतिविम्ब-कल्प है। उदाहरण—

यथा—"विन्ध्यस्याद्रेः परिसरनदी नर्मदा सुभ्रु सैषा
यादोभर्त्तुः प्रथमगृहिणीं यां विदुः पश्चिमस्य।
यस्यामन्तः स्फुरितशफरत्रासहासाकुलाक्षी
स्वैरं स्वैरं कथमपि मया तीरमुत्तारितासि॥"

हे सुन्दर-भ्रू! विन्ध्य पर्वतकी तलहटीमें बहनेवाली यह वही नर्मदा नदी है, जिसे लोग पश्चिम समुद्रकी (अरब-सागरकी) पत्नीके रूपमें जानते हैं और जिस नदीमें, फुदकती हुई मछलियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भय और हँसीके कारण तुम्हारी आँखोंके बन्द हो जानेपर, मैंने तुम्हें किसी प्रकार धीरे-धीरे पार उतारा था।

यथा—"नाभीगुहाबिलविशच्चलवीचिजात-
मञ्जुध्वनिश्रुतिकणत्कलकुक्कुभानि।
रेवाजलान्यविरलं ग्रहिलीक्रियन्ते
लाटाङ्गनाभिरपराह्णनिमज्जनेषु॥"

दूसरी रचना—

लाट-देशकी ललनाएँ, अपराह्ण-कालीन स्नानके समय उनकी गम्भीर नाभि-कूपोंमें तरंगोंकी थपेड़ोंसे होनेवाली मधुर-ध्वनिको सुनकर शब्द करते हुए वन-मुर्गोंके शब्दोंसे मुखरित नर्मदा-जलको, अत्यन्त संक्षुब्ध (मटमैला या गँदला) कर डालती हैं।

अत्रार्थे—"यद्दुर्गाभिर्जगाहे गुरुशकुलकुलास्फालनत्रासहास-
व्यस्तोरुस्तम्भिकाभिर्दिशि दिशि सरितां दिग्जयप्रक्रमेषु।
अम्भो गम्भीरनाभीकुहरकवलनोन्मुक्तिपर्यायलोल-
त्कल्लोलाबद्धमुग्धध्वनिचकितरणत्कुक्कुभं कामिनीभिः॥"

तीसरा उदाहरण—

जिस राजाकी दिग्विजय यात्राके प्रसंगमें, सेनाकी रमणियोंने, भिन्न-भिन्न जलाशयोंमें जलक्रीड़ा की। उनकी जलक्रीड़ाके समय, बड़ी-बड़ी मछलियोंके उछलने-कूदने और शरीरसे संपर्क करनेके कारण, त्रास और हाससे उनकी जाँघें थक जाती थीं और उनके गहरे नाभि-कूपोंमें लगनेवाले तरंगोंकी थपेड़ोंसे होनेवाले मधुर-शब्दको सुनकर बन-मुग चकित होकर चिल्लाने लगते थे।

तीसरे उदाहरणमें पूर्वोक्त दोनों पद्योंके भावोंका संग्रह किया गया है। अतः यह 'सम्पुट' नामक प्रतिविम्बकल्प हरण है।

सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिविम्बकल्पः परिहरणीयः।

इस प्रकार यह पूर्व-कथित प्रतिविम्ब-कल्प-मार्ग, कविके लिए अकवित्व देनेवाला और कविका उपहास करानेवाला है। अतः इसका सर्वथा त्याग करना ही सुकवि के लिए उचित है।

यतः—"पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति वस्तु काव्यान्तरस्थितम्।
पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति स्ववपुः प्रतिविम्बितम्॥"

किसी काव्य-रचनासे ली गई वस्तु (अर्थ, भाव आदि) दूसरे काव्यमें पृथक् नहीं समझी जाती। अर्थात् वह वस्तु, मूल-कविकी ही समझी जाती है; हरणकर्ताकी नहीं। जैसे दर्पणमें प्रतिविम्बित अपना स्वरूप अपनेसे पृथक् नहीं समझा जाता।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे शब्दार्थहरणेषु कविप्रभेदाः प्रतिविम्बकल्पविकल्पस्य समीक्षा द्वादशोऽध्यायः॥

द्वादश अध्याय समाप्त



त्रयोदशोऽध्यायः अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदाः

त्रयोदश अध्याय : अर्थ-हरणके आलेख्य-प्रख्य आदि भेद

आलेख्यप्रख्यपरिसङ्ख्या ।

बारहवें अध्यायमें अर्थ-हरणके उपायोंमें अन्य योनि अर्थका एक भेद प्रतिविम्बकल्प तथा उसके आठ अवान्तर भेद बताए गये हैं। इस अध्यायमें उसके दूसरे भेद आलेख्य-प्रख्यके आठ अवान्तर भेद तथा निह्नुत-योनि अर्थके सम्पूर्ण (१६) भेद बताए जायँगे। आलेख्य-प्रख्यके आठ अवान्तर भेद ये हैं—१. समक्रम, २. विभूषण-मोष, ३. व्युत्क्रम, ४. विशेषोक्ति, ५. उत्तंस, ६. नट-नेपथ्य, ७. एक-परिकार्य और ८. प्रत्यापत्ति।[1]

सदृशसञ्चारणं समक्रमः ।

समक्रमका अर्थ है—समान अर्थका संक्रमण करना। जैसे—

यथा—"अस्ताद्रिवेश्मनि दिशो वरुणप्रियाया-
स्तिर्यक्कथञ्चिदपयन्त्रणमास्थितायाः ।
गण्डैकपार्श्वमिव कुङ्कुमपङ्कचुम्बि
बिम्बं रुचामधिपतेररुणं रराज ॥"

प्रातःकाल विरहखिन्न एवं किसी प्रकार तिरछी बैठी हुई पश्चिम दिशा नायिकाके केसर-लिप्त कपोलके एक भागके समान कुछ मलिन एवं अरुण चन्द्रमा अस्ताचल रूपी भवनमें चमक रहा था।

यथा च—"प्राग्दिशः प्रतिकलं विलसन्त्याः
कुङ्कुमारुणकपोलतलेन ।
साम्यमेति कलितोदयरागः
पश्य सुन्दरि तुषारमयूखः ॥"

इसी भावका दूसरा उदाहरण—

हे सुन्दरि! देखो, उदय-कालीन लालिमासे ललित यह चन्द्रमा, प्रतिक्षण क्रीड़ा करती हुई पूर्व-दिशा-सुन्दरीके केसर-राग-रंजित कपोलकी समानता प्राप्त कर रहा है।

---

१. आलेख्य-प्रख्यका प्रथम भेद 'समक्रम' प्रतिविम्बकल्पके सप्तम भेद 'सङ्क्रम' से मिलता है। तुलना करो।

पूर्व-रचनामें अस्तोन्मुख चन्द्रमाका जो वर्णन क्रम है; दूसरी रचनामें, वही क्रम उदयोन्मुख-चन्द्रमाके वर्णनमें लिया गया है। अतः यह आलेख्यप्रख्यका 'समक्रम' नामक प्रथम भेद है।

अलंकृतमनलंकृत्याभिधीयत इति विभूषणमोषः

विभूषण-मोष, अर्थात् अलंकृत अर्थको अलंकार-हीन करके वर्णन करना विभूषणका मोष अर्थात् अलंकारको चुरा लेना है। जैसे—

यथा—"कुवलयसिति मूले बालचन्द्राङ्कुराभं
तदनु खलु ततोऽग्रे पाकपीताम्रपीतम्।
अभिनवरविरोचिर् धूमधूम्रं शिखाया-
मिति विविधविकारं दिद्युते दैपमर्चिः॥"

प्रारम्भमें नील-कमलके समान नीले रंगकी, उसके आगे चन्द्रमाके नवोदित अंकुरके समान लाल, उसके ऊपर पकाए हुए आमके समान पीली, उसके अनन्तर बाल सूर्यके समान अरुण रंगवाली और सबसे ऊपर धुएँके समान धूमिल-वर्ण वाली, दीप-शिखा (दीपककी लौ), चमक रही है।

अत्रार्थे—"मनाङ् मूले नीलं तदनु कपिशोन्मेषमुदरे
ततः पाण्डु स्तोकं स्फुरदरुणलेखं च तदनु।
शिखायामाधूम्रं धृतविविधवर्णक्रममिति
क्षणादर्चिर्दैपं दलयति तमः पुञ्जितमपि॥"

इसी भावकी दूसरी रचना—

मूलमें कुछ काली, उसके बाद कुछ कपिश (भूरे) वर्णकी झलक देनेवाली, उसके बाद कुछ पीली, उसके अनन्तर लाल और सबसे ऊपर धूमिल—इस प्रकार विविध रंगोंके क्रमसे शोभित दीपककी लौ, एकत्रित अन्धकारके समूहको क्षणभरमें नष्ट कर देती है।

यहाँ दूसरी रचनामें पहिली रचनाका भाव लिया गया है; किन्तु पूर्व-रचनाके प्रत्येक वाक्यमें लुप्तोपमालङ्कार है और दूसरी रचनामें उसी भावका अलङ्कारहीन-वर्णन किया गया है। अर्थात् प्रथम रचनाके विभूषण (अलंकार) का मोष (हरण) किया गया है। यह आलेख्य-प्रख्य नामक हरणका दूसरा भेद है[२]।

क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः।

व्युत्क्रम, क्रमसे कहे गए अर्थको विपरीत क्रमसे कहना व्युत्क्रम है। जैसे—

२. 'विभूषण—मोष' की तुलना प्रतिबिम्बकल्पके प्रथमभेद—'खण्ड' से करो।

यथा तत्रैव—"श्यामं शिखाभुवि मनागरुणं ततोऽधः
स्तोकावपाण्डुरघनं च ततोऽप्यधस्तात् ।
आपिञ्जरं तदनु तस्य तले च नील-
मन्धं तमःपटलमर्दति दैपमर्चिः ॥"

सबसे ऊपरी भागमें कृष्ण, उसके नीचे कुछ लाल, उसके नीचे कुछ सघन-पीत, उसके अनन्तर कुछ श्वेत और सबसे अन्तमें श्याम, दीपकी ज्योति, घने अन्धकारके समूहको नष्ट करती है।

इस पद्यमें, पूर्व पद्योंमें नीचेसे ऊपरकी ओर वर्णित दीपशिखाका ऊपरसे नीचेकी ओर वर्णन किया गया है। अतः यह 'व्युत्क्रम' नामक तीसरा आलेख्य-प्रख्य-हरण है[3]।

सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः ।

विशेषोक्ति, सामान्य अर्थको विशेषरूपसे वर्णन करना विशेषोक्ति है। जैसे—

यथा—"इत्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
संलापसञ्चलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥"

इस प्रकार चन्द्रमाके उदय होनेपर, प्रियतमकी दूतीके साथ चलते हुए मधुर-प्रसंगमें आखों और मनके चंचल रहनेके कारण नायिकाएँ, ऐसी बेसुध हो गईं कि उन्हें आभूषण पहननेमें भ्रम हो गया। अर्थात् उन्होंने किसी अंगका आभूषण किसी अंगमें पहन लिया। इस कारण वे सखियोंके हास्यका पात्र बन गईं।

अत्रार्थे—"चकार काचित्सितचन्दनाङ्के
काञ्चीकलापं स्तनभारपृष्ठे ।
प्रियं प्रति प्रेषितचित्तवृत्ति-
र्नितम्बविम्बे च बबन्ध हारम् ॥"

इसी सामान्य अर्थका विशेष अर्थमें उदाहरण—

किसी नायिकाने, नायकसे मिलनेकी व्याकुलतामें शृङ्गार करनेके समय, श्वेत-चन्दन-लिप्त स्तनों पर कांची (करधनी) बाँध ली और नितम्बोंपर मोतियोंका हार बाँध लिया।

---

३. 'व्युत्क्रम' और प्रतिविम्बकल्पके भेद—'व्यत्यस्तक' की तुलना करो।

यहाँ प्रथम पद्यमें, नायिकाओंके सामान्य मति-विभ्रमके कारण होनेवाले विपरीत-वेश-विन्यासका, दूसरे पद्यमें, एक विशेष-नायिकाके लिए विशेष रूपसे वर्णन किया गया है। अतः यह 'विशेषोक्ति' नामका चौथा आलेख्य-प्रख्य अपहरण है।[४]

उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः।

उत्तंस, गौण अर्थको मुख्य अर्थका रूप देना उत्तंस है। जैसे—

यथा—"दीपयन्नथ नभः किरणौघैः
कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधे-
रुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः॥"

सूर्यास्त होनेपर किरणोंके समूहसे आकाशको प्रकाशित करता हुआ, कुंकुम-रंजित स्तनके समान गौर-कान्ति, चन्द्रमा, पूर्व समुद्रसे सोनेके घड़ेके समान धीरे-धीरे बाहर निकला[५]।

अत्रार्थे—"ततस्तमः श्यामलपट्टकञ्चुकं
विपाटयत्किञ्चिददृश्यतान्तरा।
निशातरुण्याः स्थितशेषकुङ्कुम-
स्तनाभिरामं सकलं कलावतः॥"

इसी अर्थका दूसरा उदाहरण—

रात्रिके आगमन पर निशा-रमणीके अंधकार रूपी काले कपड़ेकी चोलीको मानों करों (किरणों) से खोलता हुआ चन्द्रमाका टुकड़ा, आकाशमें निशा नायिकाके कुछ कुंकुमावशेष स्तनके समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था।

यहाँ पहली रचनामें, चन्द्रमा प्रधान (मुख्य) था और पयोधर विशेषण या गौण था। परन्तु दूसरी रचनामें स्तनाभिरामता प्रधान हो गई है और चन्द्र-खण्ड गौण। अतः गौणका मुख्यरूपमें उत्तंस (उन्नति) हुआ है। यह पाँचवाँ आलेख्य-प्रख्य है।

तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम्।

नट-नेपथ्य, किसी रचनामें वर्णित एक ही अर्थको उक्तिवश विपरीत कर देना नट-नेपथ्य नामका छठा आलेख्य-प्रख्य है। जैसे—

---

४. 'विशेषोक्ति' और प्रतिबिम्बकल्पके भेद—'तैलबिन्दु' में अधिक अन्तर नहीं है।
५. देखिए—भारवि : किरातार्जुनीय, ९–२३।

यथा—"आननेन्दुशशलक्ष्म कपोले
सादरं विरचितं तिलकं यत् ।
तत्प्रिये विरचितावधिभङ्गे
धौतमीक्षणजलैस्तरलाक्ष्याः ॥"

प्रियतमने, नायिकाके मुखचन्द्र पर शशलक्ष्म (काले चिह्न) के समान कपोलमें जो काला तिलक लगा दिया था, उसे चंचलाक्षीने, प्रियतमके निश्चित समयपर न आनेके कारण आँखोंके जलसे धो डाला । अर्थात् नायकके निश्चित समयपर न आनेके कारण विप्रलब्ध नायिकाने रो-रोकर गालोंके काले टीकेको आँसुओंसे धो दिया ।

अथार्थे—"शोकाश्रुभिर्वासरखण्डितानां[६]
सिक्ताः कपोलेषु विलासिनीनाम् ।
कान्तेषु कालात्ययमाचरत्सु
स्वल्पायुषः पत्रलता बभूवुः ॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

विप्रलब्ध नायिकाके कपोलोंपर चित्रित पत्र-लताएँ, प्रियतमोंके निश्चित समयपर न आ सकनेके कारण, शोकके आँसुओंसे सींची जाकर स्वल्प जीवन वाली हो गईं अर्थात् धुल गईं ।

यहाँ दोनों कविताओंका भाव एक ही है । किन्तु प्रथम पद्यमें आँखोंके जलसे तिलकका धोना कहा गया है और दूसरेमें पत्र-रचनाएँ शोकाश्रुओंसे सींची जाकर स्वल्प-जीवन हो गयीं । यह एक ही बात कथन-भेदसे भिन्न-सी प्रतीत होती है । यह नट-नेपथ्य है[७] ।

परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः ।

एकपरिकार्य, अलंकारके एक रहनेपर भी अलंकार्यका भेद होना एकपरिकार्य नामक सातवाँ आलेख्य-प्रख्य है । जैसे—

"अव्याद् गजेन्द्रवदनः स इमां त्रिलोकीं
यस्योद्गतेन गगने महता करेण ।

---

६. 'वासर—खण्डिता' शब्दसे इसे खण्डिता नायिका न समझना चाहिए । यह 'विप्रलब्धा' या 'वञ्चिता' नायिका है । कुछ लोगोंने इसे खण्डिता कहा है ।

७. यहाँ कविने तिलकका वेष बदलकर उसे पत्र-रचनाके रूपमें उपस्थित किया है, अतः यह नटका नेपथ्य (वेष) है ।

मूलावलग्नसितदन्तविसाङ्कुरेण
नालायितं तपनविम्बसरोरुहस्य ॥"

वे गणपति इस त्रिलोकी की रक्षा करें; जिनकी आकाशमें उठी हुई लम्बी सूँड़, सूर्यरूपी आकाश-कमलकी नालके समान प्रतीत होती है और सूँड़के मूलमें लगे हुए दो श्वेत दन्त, विस (कमलकी जड़) के समान प्रतीत होते हैं।

अत्रार्थे—सरलकरदण्डनालं गजवपुषः पुष्करं विभोर्जयति ।
मूलविसकाण्डभूमौ यत्राभूदेकदंष्ट्रेव ॥

इसीका दूसरा उदाहरण—

भगवान् गजाननके उस सुंडाग्र रूपी कमलकी जय हो, ऊपर उठे हुए सूँड़का दण्ड, जिस कमलकी नाल है और जिसकी जड़में चमकता हुआ एक दाँत, नव उत्पन्न विसकी शोभा धारण करता है।

प्रथम श्लोकमें, सूर्य-विम्बमें कमलका आरोप किया गया था, दूसरेमें, उसका आरोप शुंडके अग्रभागमें किया गया है। यहाँ रूपक अलङ्कार दोनोंमें समान है; किन्तु सूर्यविम्ब और शुण्डाग्र—ये दो अलङ्कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः ।

प्रत्यापत्ति, विकृत अर्थको प्रकृत अर्थात् नैसर्गिक स्थितिमें पहुँचा देना प्रत्यापत्ति नामक आठवाँ आलेख्य-प्रख्य है। जैसे—

यथा—"रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषाराविलमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥"

सूर्यमें संक्रमित सौभाग्य (प्रकाश) वाला एवं कोहरेसे आच्छादित चन्द्रमा, श्वाससे अन्धे[७]—दर्पणके समान मलिन (प्रकाशहीन) हो रहा है[८]।

अत्रार्थे—"तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादा-
त्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमे प्रपन्नः
प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥"

इसके विपरीत उदाहरण—

शत्रुओंके आक्रमणके कारण होनेवाले विषादसे मुक्त, इन्दुमतीका मुख, इस

---

८. 'अन्ध' शब्द दृष्टिहीनका वाचक है; किन्तु यहाँ उसका प्रयोग प्रकाशहीन या मलिन अर्थमें किया गया है। यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है। वाल्मीकि रामायणका यह पद्य ध्वन्यालोकमें भी उद्धृत किया गया है।

प्रकार चमकने लगा, जैसे श्वाससे उत्पन्न वाष्पके हट जानेपर, दर्पण, अपने स्वाभाविक रूपमें चमकने लगता है।[१]

प्रथम रचनामें, दर्पणका श्वास-वाष्पसे अन्धा हो जाना विकृति है और दूसरीमें उसके प्रसादका वर्णन प्रकृति है। अतः इसका नाम 'प्रत्यापत्ति' है।

ता इमा आलेख्यप्रख्यस्य भिदाः। सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः।

इस प्रकार आलेख्य-प्रख्यके ये आठ भेद हैं; जो कवियोंके लिए स्वीकार्य मार्ग है। अर्थात् अलेख्य-प्रख्यके रूपमें अपहरण करना अपहरण नहीं कहा जाता। जैसा कि प्राचीन आचार्योंने कहा भी है—

आहुश्च—"सोऽयं भणितिवैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः।
नटवद्वर्णिकायोगादन्यथात्वमिवाच्छति ॥"

जैसे, एक ही नट, विविध प्रकारके वेश-विन्याससे अनेक पात्रोंकी भूमिकामें अवतीर्ण होकर भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, उसी प्रकार काव्यमें एक ही अर्थ, उक्तिकी विचित्रतासे विविधरूप धारण करके सहृदय-हृदयोंमें आल्हाद और चमत्कार उत्पन्न करता है।

अथ तुल्यदेहितुल्यस्य भिदाः।

अब तुल्य-देहि-तुल्य अर्थ-हरणके भेद कहे जाते हैं। इसके आठ भेद होते हैं—१. विषय-परिवर्त, २. द्वन्द्व-विच्छित्ति, ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. विधानापहार, ७. माणिक्य-पुंज और ८. कन्द। यह अपहरण भी कवियोंके लिए ग्राह्य है।

तस्यैव वस्तुनो विषयान्तरयोजनादन्यरूपापत्तिर्विषयपरिवर्त्तः।

विषय-परिवर्त, एक ही वस्तुको दूसरे विषयसे योजना करनेपर दूसरे रूपकी प्राप्ति होना विषय-परिवर्त है। जैसे—

यथा—"ये सीमन्तितगात्रभस्मरजसो ये कुम्भकद्वेषिणो
ये लीढाः श्रवणाश्रयेण फणिना ये चन्द्रशैत्यद्रुहः।
ते कुप्यद्गिरिजाविभक्तवपुषश्चित्तव्यथासाक्षिणः
स्थाणोर्दक्षिणनासिकापुटभुवः श्वासानिलाः पान्तु वः ॥"

प्रणय-कुपित पार्वतीसे विभक्त अर्ध-शरीर वाले अर्ध-नारीश्वर शंकरकी दाहिनी नासिकासे निकलनेवाले वे निश्वास, आपकी रक्षा करें; जो वेगसे निकलनेके कारण अंगमें पुती हुई भस्मकी धाराएँ बनाते हैं, जो कुम्भक नामक प्राणायामके

---

१. देखिए—कालिदास : रघुवंश ७ सर्ग।

विरोधी हैं, जो कानोंमें लटकते हुए सर्पों द्वारा पान किए जा रहे हैं, जो चन्द्रमाकी शीतलताके विरोधी हैं और जो हृदयकी विरहव्यथाके साक्षी हैं।[१०] तात्पर्य यह है कि शिवजीके वामांगसे प्रणय-कुपिता पार्वती रूठकर पृथक् हो गई हैं और दक्षिणाङ्ग शिवजी, उनकी विरह-व्यथामें उष्ण निश्वास छोड़ रहे हैं।[११]

अत्रार्थे—"ये कीर्णक्वथितोदराब्जमधवो ये म्लापितोरःस्रजो
ये तापात्तरलेन तल्पफणिना पीतप्रतीपोज्झिताः।
ते राधास्मृतिसाक्षिणः कमलया साभ्यसूयमाकर्णिता
गाढान्तर्दवथोः प्रतप्तसरलाः श्वासा हरेः पान्तु वः॥"

इसी अर्थका परिवर्तित दूसरा उदाहरण—

राधाके विरह-जन्य प्रगाढ़ शोकको हृदयमें दबाए हुए भगवान् कृष्णके वे उष्ण और दीर्घ निश्वास, आपकी रक्षा करें; जो हाथमें लिए हुए कमलोंके भीतर प्रविष्ट होकर उनके मकरन्दको उछालकर इधर-उधर बिखेर रहे हैं, जो गलेमें पड़ी हुई पुष्प-मालाको म्लान कर रहे हैं, शेषनाग जिन्हें पान करनेके अनन्तर उष्णताके कारण पुनः बाहर फेंक रहा है, जो राधाकी स्मृतिकी साक्षी बन रहे हैं और जिनके ऊँचे शब्दको लक्ष्मी ईर्ष्याके साथ सुन रही है। कारण यह कि उनकी सपत्नी राधाके लिए भगवान् विरह-व्यथित हो रहे हैं।

पूर्व रचनामें वर्णित शिव-पार्वतीके विरह संबन्धित विषयको दूसरी रचनामें राधा-कृष्णके विरहमें परिवर्तित कर दिया गया है। अतः यह 'विषय-परिवर्त' नामका तुल्य-देहि-तुल्य हरण है।

द्विरूपस्य वस्तुनोऽन्यतमरूपोपादानं द्वन्द्वविच्छित्तिः।

द्वन्द्व-विच्छित्ति, दो रूपोंमें वर्णित किसी विषयको एक निश्चित रूप दे देना द्वन्द्वविच्छित्ति है। जैसे—

यथा—"उत्क्लेशं केशबन्धः कुसुमशररिपोः कल्मषं वः स मुष्या-
द्यत्रेन्दुं वीक्ष्य गङ्गाजलभरलुलितं बालभावादभूताम्।
क्रौञ्चारातिश्च फाण्टस्फुरितशफरिकामोहलोलेक्षणश्रीः
सद्यः प्रोद्यन्मृणालीग्रहणरसलसत्पुष्करश्च द्विपास्यः॥"

---

१०. कुम्भक प्राणायामकी क्रिया श्वासको रोकना है। यहाँ पार्वतीके कुपित होनेके कारण शिवजीके श्वास-प्रश्वास व्याकुलताके कारण शीघ्र चल रहे हैं। अतः उन्हें कुम्भकका विरोधी कहा गया है। सर्प, वायुभक्षी होते हैं, इसलिए शिवजीके उन प्रचुर मात्रामें निकलने-वाले निःश्वास—वातोंका पान कर रहे हैं। श्वासोंके उष्ण और ऊर्ध्वगामी होनेके कारण मस्तक-स्थित चन्द्रमा भी उष्ण हो रहा है।

११, देखिए—राजशेखर : बाल-भारत नाटक, १-२।

कामारि शिवका वह जटा-जूट, आपके पापोंका हरण करे, जिसमें बहते हुए गंगाजलके प्रवाहसे हिलती हुई चन्द्रकलाको, कार्तिकेय, अनायास फुदकती हुई मछली समझकर बाल-सुलभ स्वभावसे दृष्टि गड़ाए हुए हैं और गजानन, उसे अभिनव-विकसित मृणालका अंकुर समझकर भक्षण करनेकी धुनमें सूँड़को हिला रहे हैं।

अत्रार्थे—"दिश्याद्धूर्जटिजूटकोटिसरिति ज्योत्स्नालवोद्भासिनी
शाशाङ्की कलिका जलभ्रमिवशाद् द्रागदृष्टनष्टासुखम् ।
यां चञ्चत्सफरीभ्रमेण मुकुलीकुर्वन्फणालीं मुहु-
र्मुह्यल्लक्ष्यमहिर्जिघृक्षतितमामाकुञ्चनप्राञ्चनैः ॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

शिव-जटा-जूटमें घूमती हुई गंगाके जलमें चाँदनीके कारण चमकती हुई और जल-लहरियोंमें कभी छिपती और कभी प्रकट होती हुई चन्द्रमाकी वह कला, आपको सुखी करे; जिसे शिवजीका सर्प, फुदकती हुई मछली समझकर अपने फनोंको फैलाता और सिकोड़ता हुआ लक्ष्य (शिकार) बनानेकी धुनमें मग्न है।

यहाँ पूर्व श्लोकमें शिव-जटा-जूट-स्थित चन्द्रकलाको शफरी और मृणाली—इन दो रूपोंमें चित्रित किया गया था और उत्तर श्लोकमें, उसे शफरीका निश्चित रूप दे दिया गया। इसलिए यह 'द्वन्द्व-विच्छित्ति' है। द्वन्द्व = सन्देह, विच्छित्ति = विनाश अर्थात् निश्चय।

पूर्वार्थानामर्थान्तरैरन्तरणं रत्नमाला ।

रत्नमाला, पहले किसी कविके द्वारा वर्णित अर्थको दूसरे अर्थोंसे व्यवहित कर देना रत्नमाला है। जैसे—

यथा—"कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करेणुः कलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥"

प्रभा (चाँदनी) से उन्मत्त चन्द्रमा, सारे जगत्‌को भ्रान्त बना रहा है—यह अत्यन्त आश्चर्यकी बात है। क्योंकि बिल्ली, श्वेत कपालमें पड़ी हुई चाँदनीको दूध समझकर चाट रही है। हथिनी, वृक्षोंके पत्तोंसे छनकर नीचे आती हुई दण्डायमान उन चन्द्र-किरणोंको मृणाल समझकर सूँड़से पकड़ रही है, और रतिके उपरान्त सुन्दरी, पलंगपर पड़ती हुई उस चाँदनीको चादर समझकर समेटना चाहती है।[१२]

---

१२. शार्ङ्गधर-पद्धति और सुभाषितावलीमें यह पद्य भासके नामसे उद्धृत है, किन्तु उनके किसी उपलब्ध प्रबन्धमें नहीं मिलता।

अत्रार्थे—"ज्योत्स्नार्चिर्दुग्धबुद्ध्या कवलितमसकृद्भाजने राजहंसैः
स्वांसे कर्पूरपांसुच्छुरणरभसतः सम्भृतं सुन्दरीभिः।
पुम्भिर्व्यस्तं स्तनान्तात्सिचयमिति रहःसम्भ्रमे वल्लभानां
लीढं द्राक्सिन्धुवारेष्वभिनवसुमनोलम्पटैः षट्पदैश्च ॥"

इसी अर्थका दूसरा उदाहरण—

राजहंस, चन्द्रमाकी किरणोंको पात्रमें रखा हुआ दूध समझकर बार-बार पीनेके लिए चोंच चला रहा है। सुन्दरियाँ, अपने कन्धोंपर पड़ती हुई चाँदनी को कर्पूर समझकर हाथोंसे शरीरपर उसका लेपन कर रही हैं; प्रियतमाओंके एकान्त संयोगके अवसरपर पुरुष, उनके खुले कुचोंपर पड़ी हुई चांदनीको वस्त्र समझकर हटा रहे हैं और अभिनव-कुसुम-लोलुप भौंरे, सिन्धुवार वृक्षोंको नव-विकसित-पुष्पोंके भ्रमसे चाट रहे हैं।

यहाँ प्रथम पद्यके अर्थोंको दूसरे पद्यमें नवीन अर्थों द्वारा व्यवहित कर दिया गया है। अतः यह 'रत्नमाला' नामक तीसरा तुल्यदेहितुल्य अपहरण है।

सङ्ख्यावैषम्येणार्थप्रणयनं सङ्ख्योल्लेखः।

संख्योल्लेख, एक रचनामें जो संख्या कही गई है, उसकी अपेक्षा विपरीत संख्याओंका वर्णन करना संख्योल्लेख है। जैसे—

यथा—"नमन्नारायणच्छायाच्छुरिताः पादयोर्नखाः।
त्वच्चन्द्रमिव सेवन्ते रुद्र रुद्रेन्दवो दश ॥"

हे रुद्र! पैरोंपर झुककर प्रणाम करते हुए नारायणकी छायासे अंकित, तुम्हारे दशों नख, ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानों तुम्हारे मस्तक-स्थित चन्द्रको सेवाके लिए, अन्य दश रुद्रोंके मस्तक-चन्द्र एकत्रित हुए हों।

अत्रार्थे—"उमैकपादाम्बुरुहे स्फुरन्नखे
कृतागसो यस्य शिरःसमागमे।
षडात्मतामाश्रयतीव चन्द्रमाः
स नीलकण्ठः प्रियमातनोतु वः ॥

दूसरा उदाहरण—

चमकते हुए नखोंवाले उमाके चरण-कमलपर, जिस अपराधी शिवके मस्तकका समागम होनेसे, मस्तकस्थित चन्द्रमा, छः रूपोंमें विभक्त हो जाता है; वे शिव आपको सम्पत्ति प्रदान करें।

यहाँ पूर्व पद्यमें वर्णित, शिव-मस्तक-स्थित चन्द्रमाके साथ, दस चन्द्रोंके वर्णनका विपरीत उल्लेख किया गया है, अर्थात् वह पार्वतीके पाँच नखोंमें प्रतिविम्बित होकर स्वयं छः प्रकार का हो गया।[१३]

सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका। द्विधा च सा संवादिनी विसंवादिनी च।

चूलिका, तुल्य अर्थको कहकर पुनः उसकी अपेक्षा विशेष अर्थका उल्लेख करना चूलिका है। वह दो प्रकारकी होती है–संवादिनी और विसंवादिनी। अर्थात् समान और असमान।

तयोः प्रथमा यथा––"अङ्गणे शशिमरीचिलेपने
सुप्तमिन्दुकरपुञ्जसन्निभम्।
राजहंसमसमीक्ष्य कातरा
रौति हंसवनिताश्रुगद्गदम्॥"

संवादिनी चूलिकाका उदाहरण—

चन्द्र-किरणोंसे लिपे-पुते शुभ्र-आँगनमें, चन्द्र-किरणोंके समूहके समान सिमटकर सोए हुए राज-हंसको न देखकर, हँसिनी आँसुओंको बहाती हुई गद्-गद् रुदन करती है।[१४]

अत्रार्थे––"चन्द्रप्रभाप्रसरहासिनि सौधपृष्ठे
दुर्लक्ष्यपक्षतिपुटां न विवेद जायाम्।
मूढश्रुतिर्मुखरनूपुरनिःस्वनेन
व्याहारिणीमपि पुरो गृहराजहंसः॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

चन्द्रिका-धवलित प्रासाद-पृष्ठ पर, गृह-सुन्दरियोंकी नूपुर-ध्वनिसे बहरे राजहंसने, चाँदनी-सी श्वेत-पंखोंवाली और सामनेसे पुकारती हुई हंसिनी को नहीं पहचाना।

दूसरे पद्यमें, प्रथम पद्यके अर्थको समान रूपसे कहते हुए भी, कविने, नूपुर-ध्वनिके कारण शब्दको भी न सुननेका विशेष उल्लेख किया है। यह संवादिनी चूलिका है।

---

१३. तात्पर्य यह कि नारायणने शिवके चरणोंमें प्रणाम किया तो उनका मुखचन्द्र उनके दस नखोंमें चमककर दस रूपमें दीख रहा था। उससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानों दस रुद्रोंके चन्द्र, शिवके मस्तक-स्थित एक प्रधान चन्द्रमाकी सेवाके लिए शिवके दस नखोंके रूपमें एकत्रित हो गये हैं। किन्तु जब शिव, प्रणयकुपिता पार्वतीके चरणोंमें प्रणाम कर रहे थे तब वही शिवमस्तक-स्थित चन्द्रमा, स्वयं पार्वतीके चरणनखोंमें पाँच रूपोंमें प्रकाशित हो रहा था। जिस चन्द्रकी सेवा दस चन्द्र कर रहे थे, वह स्वयं छः रूपमें विभक्त हो गया है। यह अर्धनारीके रूपका वर्णन है।

१४. देखिए—कुमारदास : जानकीहरण, ८-८५.

विसंवादिनी चूलिकाका उदाहरण—

द्वितीया तत्रैवार्थे यथा—"ज्योत्स्नाजलस्नायिनि सौधपृष्ठे
विविक्तमुक्ताफलपुञ्जगौरम् ।
विदेह हंसी दयितं कथञ्चि-
च्चलत्तुलाकोटिकलैर्निनादैः ॥"

हंसिनीने, चाँदनी रूपी जलसे धुले भवनकी छतपर बैठे हुए, विशुभ्र मोतियोंके पुंजके समान श्वेत प्रिय-हंसको, नूपुरोंकी ध्वनिके समान उसके मधुर शब्दोंसे, किसी प्रकार पहचाना ।

इसका अर्थ पूर्व-पद्योंसे विपरीत है । अतः यह 'विसंवादिनी चूलिका' है ।

निषेधस्य विधिना निबन्धो विधानापहारः ।

विधानापहार, निषेधका विधानरूपसे उल्लेख करना विधानापहार है । जैसे—

यथा—"कुरबक कुचाघातक्रीडारसेन वियुज्यसे
बकुलविटपिन् स्मर्तव्यं ते मुखासवसेचनम् ।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक सशोकता-
मिति निजपुरत्यागे यस्य द्विषां जगदुः स्त्रियः ॥"

जिस राजाकी शत्रु-रमणियाँ, नगर-परित्यागकर भागनेके समय, अपने उद्यानके प्रिय-वृक्षोंको संबोधित करके इस प्रकार कहती थीं कि हे कुरवक ! अब तुम हमारे कुचोंके आघातका आनन्द न पा सकोगे, हे वकुल-वृक्ष ! तुम्हें हमारे मुखोंसे आसवका सिंचन अब स्मरणीय होगा और हे अशोक ! हमारे चरण-संयोगसे विरहित होकर तुम सशोक हो जाओगे । [१५]

तात्पर्य यह है कि कुरवक, बकुल और अशोक, क्रमशः युवती-रमणियोंके आलिंगन, मुखासव-सिंचन और पादाघातसे शीघ्र विकसित होते हैं । अब उनके पलायन कर जाने पर ये दोहद उन्हें प्राप्त न हो सकेंगे । यह निषेध रूपमें दोहदरूप अर्थका वर्णन है ।

अत्रार्थे—"मुखमदिरया पादन्यासैर्विलासविलोकितै-
र्बकुलविटपी रक्ताशोकस्तथा तिलकद्रुमः ।
जलनिधितटीकान्ताराणां क्रमात्ककुभां जये
झगिति गमिता यद्वर्गाभिर्विकासमहोत्सवम् ॥"

---

१५. सुभाषितावलीमें यह श्लोक रत्नाकरके नामसे उद्धृत है । देखिए—सुभाषितावली, श्लोक—२५६४.

दूसरा विधानरूप उदाहरण—

समुद्र-तट-स्थित वन-प्रदेशके राजाओंका क्रमशः विजय करनेपर, जिस राजाकी सेनामें स्थित युवतियोंने, मुख-मदिरासे, पादाघातोंसे और स-कटाक्ष-निरीक्षणोंसे वकुल, रक्ताशोक तथा तिलक-वृक्षोंका विकास-महोत्सव संपादित किया।

पूर्व पद्यमें, जो विषय निषेध रूपसे चित्रित किया गया था, वह दूसरे पद्यमें विधिरूपसे अंकित किया गया है। अर्थात् प्रथम पद्यमें, विजित रमणियों द्वारा जिन वृक्षोंको दोहद न मिलनेका वर्णन किया गया है; दूसरे पद्यमें, विजेताकी रमणियों द्वारा उन्हीं वृक्षोंके दोहदका विधान किया गया। अतः यह 'विधानापहार' है।

बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्जः।

माणिक्य पुंज, बहुतसे अर्थोंका एक स्थानपर उपसंहार करना माणिक्य-पुंज है। जैसे—

यथा—"शैलच्छलेन स्वं दीर्घं भुजमुत्तम्य भूवधूः।
निशासख्याः करोतीव शशाङ्कतिलकं मुखे॥"

पृथ्वी रूपी वधू, ऊँचे पर्वतोंके व्याजसे, मानों हाथोंको ऊपर उठाकर, निशा-सखीके मस्तक पर चन्द्रमा-रूपी तिलक लगा रही है।

यथा च—"फुल्लातिमुक्तकुसुमस्तबकाभिराम-
दूरोल्लसत्किरणकेसरमिन्दुसिंहम्।
दृष्ट्वोदयाद्रिशिखरस्थितमन्धकार-
दुर्वारवारणघटा व्यघटन्त सद्यः॥"

दूसरा, विकसित वासन्ती-लताके पुष्प-गुच्छके समान सुन्दर एवं दूरसे चमकते हुए किरण रूपी सटावाले चन्द्र रूपी सिंहको, उदयाचलके शिखरपर चढ़े हुए देखकर, अन्धकार रूपी हाथियोंका झुण्ड, शीघ्र ही विघटित हो गया।

यथा च—"संविधातुमभिषेकमुदासे
मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः
सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥"

तीसरा, चन्द्रमा, कामदेवके अभिषेक करनेके लिए चमकते हुए किरण-जलसे भरे हुए और यामिनी-रमणी द्वारा स्वस्तिक-चिह्न किए हुए रजत-कलशके समान, शोभित हो रहा है।

यथा च—"उदयति पश्य कृशोदरि दलितत्वचीरकरणिभिः किरणैः।
उदयाचलचूडामणिरेष पुरो रोहिणीरमणः॥"

चौथा, हे कृशोदरि। देखो, तुरन्त निकाले हुए वृक्ष-त्वचाके दूधके समान शुभ्र किरणोंसे शोभित, रोहिणी-रमण चन्द्रमा, उदयाचलकी चूड़ामणिके समान दीख रहा है।

यथा च—"उदयति नवनीतपिण्डपाण्डुः कुमुदवनान्यवघट्टयन्कराग्रैः।
उदयगिरितटस्फुटाट्टहासो रजनिवधूमुखदर्पणः शशाङ्कः॥"

पाँचवाँ, नवनीत पिंडके समान गौर, किरणोंसे कुमुद वनोंको विकसित करता हुआ, उदय गिरिके तटपर विकसित होते हुए अट्टहासके समान और रजनी-वधूके शुभ्र दर्पणके सदृश चमकता हुआ, चन्द्रमा, उदय हो रहा है।

यथा च—"प्रोषितैकेन्दुहंसेऽस्मिन्सस्नाविव तमोऽम्बुभिः।
नभस्तडागे मदनस्ताराकुमुदहासिनि॥"

अथवा, कामदेव, एकमात्र चन्द्र—हंससे रहित और नक्षत्र रूपी विकसित कुमुदोंसे शोभित, आकाश—सरोवरमें, अन्धकार रूपी जलसे स्नान कर रहा है।

अत्रार्थे—"रजनिपुरन्ध्रिरोध्रतिलकस्तिमिरद्विपयूथकेसरी
रजतमयोऽभिषेककलशः कुसुमायुधमेदिनीपतेः।
अयमुदयाचलैकचूडामणिरभिनवदर्पणो दिशा-
मुदयति गगनसरसि हंसस्य हसन्निव विभ्रमं शशी॥"

प्रायः इन छहों रूपकालंकारवाले अर्थोंका एक उदाहरण—

रजनी-रमणीके मस्तकका लोध्र-तिलक, तिमिर रूपी हाथियोंके लिए सिंह, काम-नरपतिका रजतमय अभिषेक-कलश, उदयाचलकी चूड़ामणि, दिग्वधुओंका अभिनव दर्पण और गगन-सरोवरका हंस, यह चन्द्रमा हँसता हुआ उदय हो रहा है।

अन्तिम रचनामें, पूर्वोक्त सभी रचनाओंके अर्थोंका एक साथ उपसंहार कर दिया गया है। अतः यह माणिक्योंके समूहके समान सभी कल्पनाओंको एकत्र कर देनेके कारण 'माणिक्य-पुंज' नामक सातवाँ तुल्य-देहि-तुल्य अपहरण है।

कन्दभूतोऽर्थः कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्दः।

कन्द, कन्दभूत एक अर्थको उसके अंकुर रूप विशेष प्रकारोंसे चित्रित करना 'कन्द' है! जैसे—

यथा—"विशिखामुखेषु विसरति पुञ्जीभवतीव सौधशिखरेषु।
कुमुदाकरेषु विकसति शशिकलशपरिस्नुता ज्योत्स्ना॥"

चन्द्ररूपी कलशसे निकलती हुई चाँदनी, गलियोंके मुहानोंपर मानों फैल रही है, मानों प्रासाद-शिखरोंपर एकत्र हो रही है और कुमुदोंसे भरे सरोवरोंपर मानों विकसित हो रही है।

अत्रार्थे—"वियति विसर्पतीव कुमुदेषु बहुभवतीव योषितां
प्रतिफलतीव जरठशरकाण्डपाण्डुषु गण्डभित्तिषु ।
अम्भसि विकसतीव लसतीव सुधाधवलेषु धामसु
ध्वजपटपल्लवेषु ललतीव समीरचलेषु चन्द्रिका ॥

इसी कन्दभूत अर्थका विशेष प्रकारसे विस्तार, जैसे—

चन्द्रिका, आकाशमें फैल-सी रही है, कुमुदोंमें घनी-सी हो रही है, सूखे कासोंके समान शुभ्र ललनाओंके कपोलोंपर दूनी-सी हो रही है, जलमें विकसित-सी हो रही है, चूनेसे पुते हुए भवनोंमें चमक रही है और वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके श्वेत-पटोंमें खेलती-सी प्रतीत हो रही है ।

दूसरा उदाहरण—

स्फटिकमणिघट इवेन्दुस्तस्यामपिधानमाननमिवाङ्कः ।
चरति चिरं तेन यथा ज्योत्स्ना घनसारधूलिरिव ॥

शरत् पूर्णिमाके दिन, स्वच्छ आकाशमें चमकता हुआ चन्द्रमा, स्फटिक मणिके कलशके समान प्रतीत होता है, उसका श्याम-कलंक, कलशके खुले हुए मुख-सा प्रतीत हो रहा है और उसके मध्यसे कर्पूर-चूर्णके समान शुभ्र चांदनी गिर रही है ।

और भी—

सितमणिकलशादिन्दोर्हरिणहरित्तृणपिधानतो गलितैः ।
रजनिभुजिष्या सिंचति नभोऽङ्गणं चन्द्रिकाम्भोभिः ॥

रजनी-दासी, स्फटिक-मणिके कलशके समान चन्द्रमाके हरिण रूपी हरे घासकी पत्तियोंसे ढँके मुखसे निकलते हुए चन्द्रिका-जलको, गगन-आँगनमें छिड़क रही है ।

संविधातुमभिषेकमुदासे
मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः
सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥"

इसी प्रकारके 'संविधातुमिव' इस श्लोकका अर्थ पृ० १८० माणिक्य—पुञ्जके उदाहरणमें दिया गया है ।

इन उपर्युक्त रचनाओंमें, प्रथम पद्यके अर्थको विविध प्रकारसे विस्तृत करके विशेष रूपेण चित्रित किया गया है । अतः यह 'कन्द' है और उसके अङ्कुरके समान अनेक अर्थोंका चित्रण किया गया है ।

ता इमास्तुल्यदेहितुल्यस्य परिसंख्याः । "सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः" इति सुरानन्दः ।

इस प्रकार तुल्य-देहि-तुल्य नामक अपहरणके आठ अवान्तर भेद कहे गए हैं। सुरानन्दका मत है कि यह प्रतिभा-प्रसूत 'तुल्य-देहि-तुल्य' काव्य-मार्ग, कवियोंके लिए स्वीकार्य है। जैसा कि कहा है—

तदाह—"सरस्वती सा जयति प्रकामं
देवी श्रुतिस्वस्त्ययनं कवीनाम्।
अनर्घतामानयति स्वभङ्गया
योल्लिख्य यत्किञ्चिदिहार्थरत्नम्॥"

उस देवमयी एवं कवियों तथा कवयित्रियोंके लिए अत्यन्त मंगलदायिनी सरस्वती देवीकी जय हो; जो किसी साधारण पदार्थरूपी-रत्नको अपनी प्रतिभासे समुद्भावित करके अमूल्य और उज्वल बना देती है। अर्थात् यह प्रतिभाका ही प्रसाद है कि सर्वजन-साधारण शब्द और अर्थ उसके प्रभावसे अलौकिक एवं अवर्णनीय आनन्द प्रदान करते हैं।[१६]

अथ परपुरप्रवेशसदृशस्य भिदाः।

अब 'पर-पुर-प्रवेश-सदृश' अपहरणके भेद बताए जाते हैं। इसके भी आठ अवान्तर भेद हैं—१. हुडुयुद्ध, २. प्रतिकंचुक, ३. वस्तु-संचार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जीवं-जीवक, ७. भावमुद्रा और ८. तद्विरोधी।

उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडुयुद्धम्।

हुडुयुद्ध, किसी प्राचीन कविकी अर्थ-रचनाका युक्तिपूर्वक विनिमय करना—'हुडु-युद्ध' कहा जाता है। जैसे—

यथा—"कथमसौ न भजत्यशरीरतां
हतविवेकपदो हतमन्मथः।
प्रहरतः कदलीदलकोमले
भवति यस्य दया न वधूजने॥"

वह अविवेकी दुष्ट कामदेव, अनंग या अशरीर क्यों न हो; जिसे केलेके कोमल पत्तोंके समान मृदुल वधू-जनोंपर प्रहार करते हुए तनिक भी दया नहीं आती।

---

१६. सुरानन्दके इस पद्यकी आचार्य आनन्दके इस पद्यसे तुलना कीजिए—"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्। अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्"—ध्वन्यालोक, १-६.

अत्रार्थे—"कथमसौ मदनो न नमस्यतां
स्थितविवेकपदो मकरध्वजः ।
मृगदृशां कदलीललितं वपु-
र्यदभिहन्ति शरैः कुसुमोद्भवैः ॥"

इसी रचनाके युक्तिपूर्ण विनिमयका उदाहरण—

परम-विवेकी कामदेवको नमस्कार क्यों न किया जाय; जो कदली-दलके समान कोमल मृग-नयनियोंपर कुसुम-बाणोंसे प्रहार करता है ।

पूर्व पद्यमें, जिस कार्यके लिए हिंसक कहकर कामदेवकी निन्दा की गई थी; दूसरे पद्यमें, उसके उसी कार्यको युक्तिसे उपयुक्त बताकर उसकी प्रशंसा की गई है।

प्रकारान्तरेण विसदृशं यद्वस्तु तस्य निबन्धः प्रतिकञ्चुकम् ।

प्रतिकंचुक, किसी कविकी रचनामें, एक प्रकारसे वर्णित वस्तुको, अन्य प्रकारसे वर्णन करना 'प्रतिकंचुक' है । जैसे—

यथा—"माद्यच्चकोरेक्षणतुल्यधाम्नो
धारां दधाना मधुनः पतन्तीम् ।
चञ्च्वग्रदष्टोत्पलनालहृद्या
हंसीव रेजे शशिरत्नपारी ॥"

मद्यपान-गोष्ठीमें, उन्मत्त चकोरकी आँखोंकी भाँति रक्त-वर्ण मद्य-धाराको धारण करती हुई, चन्द्रकान्त-मणि-निर्मित झारी, ऐसी प्रतीत होती है, जैसे; हंसीकी चोंचमें लटकती हुई लम्बी कमल-नाल । तात्पर्य यह है कि झारी, चन्द्रकान्त-मणि-निर्मित होनेके कारण, हंसीके समान, उसकी नलिका (टोंटी), चोंचके समान तथा उससे निकलती हुई मधुधारा चोंचमें पकड़े हुए मृणालके समान प्रतीत हो रही है ।

अत्रार्थे—"मसारपारेण बभौ ददाना
काचित्सुरां विद्रुमनालकेन ।
वल्लूरवल्लीं दधतेव चञ्च्वा
केलीशुकेनाञ्जलिना धृतेन ॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

कोई रमणी, विद्रुम-मणिकी नाल (टोंटी) वाली इन्द्रनील-मणि-निर्मित झारीसे, पानपात्रमें मद्यधाराको गिराती हुई, ऐसी शोभित हो रही है; मानों भुने मांसके टुकड़ेको चोंचमें लटकाए हुए सुग्गेको अंजलिमें बैठाए हुए है । अर्थात् झारीका रंग,

हरे सुग्गेके समान, उसकी विद्रुम-नाल (टोंटी), चोंचके समान और मद्यधारा, मुखमें लटकते हुए माँसकी शुष्क कलीके समान, प्रतीत होती थी।

यहाँ दोनों पद्योंमें, मुख्यतः वर्णनीय वस्तु, मद्य ढालनेकी झारी या करवा है। प्रथम पद्यमें वह चन्द्रकान्त-मणि-निर्मित होनेके कारण, हंसोंके समान कही गई है और दूसरेमें, इन्द्रनील-निर्मित होनेके कारण, शुकके समान कही गई है—यही भेद है। इसका नाम प्रतिकञ्चुक अर्थात् दूसरे रंगकी चोली पहना देना है।

उपमानस्योपमानान्तरपरिवृत्तिर्वस्तुसंचारः।

वस्तु-संचार, किसी कवि द्वारा उपमान रूपमें वर्णित वस्तुको दूसरे उपमानोंसे परिवर्तित कर देना—वस्तु-संचार कहा जाता है। जैसे—

यथा—"अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण बद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतमेघेनेव सान्द्रेण सिक्तः॥"

नायककी मित्रके प्रति उक्ति—मेरे प्रति उस नायिकाके दृष्टिपात करनेपर, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं कमलोंकी रस्सीसे जकड़कर बाँध दिया गया हूँ, या निरन्तर बहते हुए दूधके झरनेसे नहला दिया गया हूँ, या उसके विस्फारित नेत्रोंका ग्रास बन गया हूँ, अथवा घने अमृत-मेघकी वर्षासे सींच दिया गया हूँ।[१७]

अत्रार्थे—"मुक्तानामिव रज्जवो हिमरुचेर्मालाः कलानामिव
क्षीराब्धेरिव वीचयः क्लमभुषः पीयूषधारा इव।
दीर्घापाङ्गनदीं विलङ्घ्य सहसा लीलानुभावाञ्चिताः
सद्यः प्रेमभरोल्लसा मृगदृशो मामभ्यषिञ्चन्दृशः॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

मुक्तालताकी रस्सियोंके समान, क्षीर-समुद्रकी लहरियोंके समान एवं श्रम-हरण करनेवाली अमृत-धाराके समान, उस मृग-लोचनीकी प्रेमसे उल्लसित दृष्टियाँ (चितवनें), लम्बी कटाक्ष-नदीको पार कर, मुझे आनन्द-सिंचित करने लगीं।

दोनों उदाहरणोंमें, उपमेय आँखें हैं; किन्तु प्रथम पद्यमें, उसके उपमान कमल आदि हैं और दूसरेमें, मुक्ता आदि हैं। अतः यह उपमानरूप वस्तुका संचार है।

शब्दालङ्कारस्यार्थालङ्कारेणान्यथात्वं धातुवादः।

धातुवाद, शब्दालंकारको अर्थालंकारके रूपमें बदल देना 'धातुवाद' है। जैसे—

यथा—"जयन्ति बाणासुरमौलिलालिताः
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः।

---

१७. देखिए—भवभूति : मालती-माधव, ३ अङ्क।

सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥"

बाणासुरके मस्तकसे लालित, रावणके मस्तकोंमें चमकते हुए मणि-मंडलको चूमनेवाली, सुराधीशों और असुराधीशोंके मस्तकोंपर सदा छाई रहनेवाली एवं भवतापका हरण करनेवाली, शंकरकी चरण-रेणुओंकी जय हो।[१८]

अत्रार्थे—"सन्मार्गालोकनप्रौढिनिरजीकृतजन्तवः।
जयन्त्यपूर्वव्यापाराः पुरारेः पादपांसवः ॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

सन्मार्ग-प्रदर्शन करनेकी प्रौढताके कारण प्राणियोंको रजोगुणसे रहित करती हुई, अतएव अपूर्व व्यापारमें समर्थ, शिवजीकी चरण-रेणुओंकी जय हो।

पूर्व श्लोकमें, लकार, चकार और सकारका वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालंकार है और दूसरे उदाहरणमें, काव्यलिंग नामक अर्थालंकार है। वर्णनीय शिवकी चरण-रेणु दोनोंमें एक समान है। अतः इस रचना का नाम 'धातुवाद' है।

तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कारः।

सत्कार, किसीके द्वारा वर्णित सामान्य वस्तुको विशेष रचना द्वारा वर्णन करना 'सत्कार' है। जैसे—

यथा—"स्नानार्द्रार्द्रैर्विधुतकबरीबन्धलोलैरिदानीं
श्रोणीभारः कृतपरिचयः पल्लवैः कुन्तलानाम्।
अप्येतेभ्यो नभसि पततः पङ्क्तिशो वारिबिन्दून्
स्थित्वोद्ग्रीवं कुवलयदृशां केलिहंसाः पिबन्ति ॥"

"स्नानार्द्रार्द्रैः" इसका अनुवाद पृ० १६५ में ही किया गया है।

अत्रार्थे—"लक्ष्म्याः क्षीरनिधेरुदक्तवपुषो वेणीलताग्रच्युता
ये मुक्ताग्रथनामसूत्रसुभगाः प्राप्ताः पयोबिन्दवः।
ते वः पान्तु विशेषसस्पृहदृशा दृष्टाश्चिरं शार्ङ्गिणा
हेलोद्ग्रीवजलेशहंसवनितालीढाः सुधास्वादवः ॥"

दूसरा उदाहरण—

क्षीर-समुद्रसे सद्यः आविर्भूत अतएव आर्द्र-शरीर-लक्ष्मी देवीके केशपाशसे टपकते हुए, बिना गुथी मोतियोंकी मालाके समान प्रतीत होते हुए, भगवान् विष्णु

---

१८. देखिए—बाणभट्ट : कादम्बरी, २ श्लो०

द्वारा प्रेमाभिलाषके साथ देखे गए और समुद्र-तटकी हंस-वनिताओं द्वारा ग्रीवाको उठाकर चंचुओंसे पान किए गए, सुधा-स्वादु जल-बिन्दु. आपकी रक्षा करें।

प्रथम पद्यमें, सद्यःस्नाता रमणियोंके केशोंसे टपकते हुए जलबिन्दुओंका हंसों द्वारा पान करना सामान्यरूपसे अंकित किया गया है; किन्तु दूसरी रचनामें, लक्ष्मी और नारायणके संबन्धसे उसे और भी अधिक उत्कृष्ट रूप देकर, उस अर्थका सत्कार किया गया है। अतः यह 'सत्कार' नामक हरण है।

पूर्वं सदृशः पश्चाद्भिन्नो जीवञ्जीवकः।

जीवंजीवक, आरम्भमें समान और उपसंहारमें भिन्न रूपसे किसी अर्थका वर्णन करना 'जीवञ्जीवक' कहा जाता है। जैसे—

यथा—"नयनोदरयोः कपोलभागे
रुचिमद्रत्नगणेषु भूषणेषु।
सकलप्रतिबिम्बितेन्दुबिम्बा
शतचन्द्राभरणैव काचिदासीत्॥"

नेत्रोंमें, वक्षःस्थलमें, लटकते हुए हारकी मध्यमणिमें, विमल कपोलस्थलमें तथा रत्नोंसे जटित समस्त आभूषणोंमें, प्रतिबिम्बित चन्द्र-बिम्बके कारण वह रमणी सैकड़ों चन्द्रोंसे आभूषित-सी लगती थी।

अत्रार्थे—"भास्वत्कपोलतलकुण्डलपारिहार्य-
सन्मेखलामणिगणप्रतिबिम्बितेन।
चन्द्रेण भाति रमणी रमणीयवक्त्र-
शोभाभिभूतवपुषेव निषेव्यमाणा॥"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण —

चमकते हुए कपोलस्थलमें, कुंडलोंमें, कंकणोंमें और मेंखलामें जड़े हुए समस्त रत्नोंमें, प्रतिबिम्बित चन्द्रमा, मानों रमणीकी मुख-शोभासे पराजित होकर, उसके शरीरकी सर्वात्मना सेवा कर रहा था।

उक्त दोनों पद्योंमें, प्रारम्भका वर्णन समान ही है; किन्तु दूसरे कविने, अन्तमें 'चन्द्रबिम्बका नायिकाकी मुखशोभासे निर्जित होनेके कारण उसकी सेवा करना' —इस नवीन अर्थकी उत्प्रेक्षा करते हुए उसमें नवीन जीवनकी सृष्टि कर दी है। अतः यह 'जीवंजीवक' है।

प्राक्तनवाक्याभिप्रायनिबन्धो भावमुद्रा।

भावमुद्रा, जिस रचनामें, प्राचीन कवियोंके वाक्य या अभिप्रायको चित्रित किया जाय, वह 'भावमुद्रा' नामक हरण है। जैसे—

यथा—"ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगा-
स्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं
प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ।।"

हे इन्दुमति ! तुम दक्षिणदेशके राजासे विवाह कर, पानकी लताओंसे वेष्टित पूग (सुपारी) वृक्षोंसे शोभित, एला-लताओंमेंसे आलिंगित—चन्दन-वृक्षोंसे सुरभित और तमाल-पत्रोंके अस्तरणवाली, मलयाचलकी सुरम्य-स्थलियोमें, विहार करनेके लिए प्रसन्न हो जाओ। अर्थात् इस राजाका वरण करो ।[१९]

अत्रार्थे—"निश्चेतनानामपि युक्तयोगदो
ननं स एनं मदनोऽधितिष्ठति ।
एला यदाश्लिष्टवतीह चन्दनं
पूगद्रुमं नागलताधिरोहति ।।"

इसी अर्थमें दूसरा उदाहरण—

एला-लताकी चन्दन-वृक्षोंसे और ताम्बूल-लताकी पूग (सुपारी) वृक्षोंके साथ आलिंगन-क्रियाको देखते हुए, यह निश्चय होता है कि वसन्त ऋतुमें, जड़ पदार्थों के भीतर भी प्रेमकी प्रेरणा करनेवाले कामदेवका निवास होता है ।

यहाँ दूसरे पद्यमें, महाकवि कालिदासके प्रथम-पद्यगत भावका सुन्दर और उपपत्ति-युक्त चित्रण हुआ है । अतः यह 'भावमुद्रा' नामक हरण है ।

पूर्वार्थपरिपन्थिनी वस्तुरचना तद्विरोधी ।

तद्विरोधी, इसी प्रकार पूर्व कविके भावके विरुद्ध रचना करना उसका (भाव-मुद्राका) विरोधी है । जैसे—

यथा—"हारो वक्षसि दन्तपत्रविशदं कर्णे दलं कौमुदं
माला मूर्ध्नि दुकूलिनी तनुलता कर्पूरशुक्लौ स्तनौ ।
वक्त्रे चन्दनबिन्दुरिन्दुधवलं बालं मृणालं करे
वेषः किं सित एष सुन्दरि शरच्चन्द्रात्त्वया शिक्षितः ।।"

शुक्लाभिसारिकाका वर्णन—हे सुन्दरी! वक्षःस्थलपर शुभ्र मोतियोंका हार, कानोंमें हाथी-दाँतके समान श्वेत-कुमुद, मस्तकपर श्वेत-पुष्पोंका हार, शरीरपर शुभ्र चादर, कपूर-धूलिसे धवलित स्तन, ललाट पर श्वेत-चन्दनका तिलक और कलाइयोंमें चन्द्र-धवल कोमल-मृणाल—यह वेष-विन्यास तुमने शरद्-ऋतुके चन्द्रसे सीखा है क्या ?

---

१९. देखिए—कालिदास : रघुवंश, ६—६४.

अत्रार्थे—"मूर्तिर्नीलदुकूलिनी मृगमदैः प्रत्यङ्गपत्रक्रिया
बाहू मेचकरत्नकङ्कणभृतौ कण्ठे मसारावली ।
व्यालम्बालकवल्लरीकमलिकं कान्ताभिसारोत्सवे
यत्सत्यं तमसा मृगाक्षि विहितं वेषे तवाचार्यकम् ॥"

इसी अर्थमें विरोधी उदाहरण—

कृष्णाभिसारिकाका वर्णन—हे मृग-लोचने ! नीले रंगकी साड़ी और चादर, प्रत्येक अंगमें कस्तूरीकी तिलक-रचना, हाथोंमें नील-रत्न-जड़ित कंकण, गलेमें इन्द्र-नील मणिकी माला और मस्तकपर झूलते हुए लम्बे काले केश—तुम्हारे इस वेष-विन्यासमें, सचमुच अन्धकारने आचार्यता की है ।

प्रथम पद्यमें, शुक्लाभिसारिकाका वर्णन है और दूसरेमें कृष्णाभिसारिकाका । अतः यह 'भावमुद्रा'का विरोधी है ।

इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः ।
हानोपादानविज्ञाने कवित्व तत्र मां प्रति ॥

इस प्रकार अर्थ-हरणके बत्तीस भेद या उपाय बताए गए हैं । मेरे मतसे इनमेंसे त्याज्य और स्वीकार्य अर्थोंको जो जानता है, वह सिद्ध कवि है । अर्थात् उसका काव्य-सिद्ध होता है ।

किं चैते हरणोपाया ज्ञेयाः सप्रतियोगिनः ।
अर्थस्य वैपरीत्येन विज्ञेया प्रतियोगिता ॥

अर्थ-हरणके ये सभी उपाय, स-विरोधी हैं । अर्थात् अर्थको विपरीत कर देनेसे इनका विरोध हो जाता है ।

किञ्च—शब्दार्थशासनविदः कति नो कवन्ते
यद्वाङ्मयं श्रुतिधनस्य चकास्ति चक्षुः ।
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति-
सन्दर्भिणां स धुरि तस्य गिरः पवित्राः ॥

शब्द और अर्थको जाननेवाले अर्थात् वैयाकरण, मीमांसक और नैयायिक आदि भी कविता करते हैं; क्योंकि सभी शास्त्र-ज्ञान रखनेवालोंके वाङ्मय-चक्षु खुल जाते हैं । किन्तु जिसके वचनमें नवीन वस्तु और नवीन उक्तिकी अलौकिक छटा होती है, वही कवि, कवियोंमें अग्रणी कहा जाता है, और उसीके वचन पूजित (सम्मानित) होते हैं ।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे अर्थहरणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदास्त्रयोदशोऽध्यायः ॥

त्रयोदश अध्याय समाप्त

चतुर्दशोऽध्यायः जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना

चतुर्दश अध्याय

जाति, द्रव्य, क्रिया और समय की स्थापना

इस अध्यायमें तथा अगले पन्द्रहवें और सोलहवें अध्यायमें कवि-समयका वर्णन किया जायगा। कवि-समयका अर्थ है—कवियोंका आचार या सिद्धान्त। यह एक कवियोंका पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य है—कवियोंकी प्रचलित-परम्परा। जैसे मकर आदि जलचर नदियोंमें भी होते हैं; किन्तु कवि-परम्परामें उनका वर्णन प्रायः समुद्रमें ही किया जाता है। कोयल ग्रीष्म ऋतुमें भी बोलती है; किन्तु कवियोंकी परम्परामें केवल वसन्तमें ही उसके कूजनका वर्णन किया जाता है।

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।

अ-शास्त्रीय (शास्त्रसे बहिर्भूत), अ-लौकिक (लोक-व्यवहारसे बहिर्भूत), केवल परंपरा-प्रचलित, जिस अर्थका कविजन उल्लेख करते हैं—वह कविसमय है[1]।

"नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः?" इति आचार्याः। "कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः?" इति यायावरीयः। "निमित्तं तर्हि वाच्यम्" इति आचार्याः॥ "इदमभिधीयते" इति यायावरीयः।

आचार्य कहते हैं—कि 'शास्त्र और लोक-दोनोंसे रहित मनमानी बातोंका उल्लेख करना तो दोष है। ऐसी दोषयुक्त वस्तुका उल्लेख उचित नहीं है।' यायावरीय राजशेखर कहते हैं कि 'इसके द्वारा कवियोंका उपकार होता है। या यह काव्य मार्गका प्रदर्शक है। अतः यह दोष कैसे हो सकता है? आचार्य कहते हैं कि 'यदि ऐसा है तो इसका कारण बताइए।'

---

१. कविसमयकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। महाकवि कालिदासने अपनी रचनाओंमें इसका अधिक उपयोग किया है। भामह, उद्भट एवं दण्डी आदि आलङ्कारिक आचार्योंने इस विषयपर विवेचन नहीं किया है; प्रत्युत लोक और शास्त्रविरुद्ध विषयोंके वर्णनको काव्यदोष माना है। राजशेखरने, इस विषयपर सर्वप्रथम और विस्तृत विमर्श किया है तथा इसे एक व्यवस्थित रूप दे दिया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ लोगोंने कविसमयके नामपर मनमानी प्रारम्भ कर दी थी। अतः उसकी विवेचना भी आवश्यक हो गई थी। राजशेखरने ऐसी मनमानी करनेवाले कवियोंको 'धूर्त' कहा है। वामनने कविशिक्षा नामक प्रकरणमें इस विषयकी चर्चा की है।

पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च।

यायावरीय कहते हैं कि सुनिए, प्राचीन विद्वानोंने, सहस्रों शाखावाले वेदोंका अंगों सहित अध्ययन करके, शास्त्रोंका तत्वज्ञान करके, देशान्तर और द्वीपान्तरोंका भ्रमण करके, जिन वस्तुओंको देख-सुन और समझकर उल्लिखित किया है, उन वस्तुओं और पदार्थोंका देश, काल और कारण भेद होनेपर या विपरोत हो जाने पर भी उसी प्राक्तन-अविकृत-रूपमें वर्णन करना कविसमय है। इस कविसमय शब्दका प्रयोग उसके मूलतत्त्वको न जाननेवाले कुछ लोगोंने, केवल प्रयोगको देखकर ही प्रचलित कर दिया और वह रूढ हो गया है—अर्थात् निश्चित अर्थमें प्रसिद्ध हो गया है।

तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्त्तैः प्रवर्त्तितः।

इनमें कुछ बातें ऐसी हैं जो प्रारम्भसे वस्तुतः कविसमयके नामसे प्रसिद्ध हैं और कुछ बातें धूर्तोंने परस्पर प्रतिस्पर्धा या स्वार्थ-साधनके लिए प्रसिद्ध करदी हैं।

स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च। स्वर्गपातालीययोर्भौमः प्रधानः। स हि महाविषयः। स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च।

कविसमय तीन प्रकारका है—१. स्वर्ग्य, २. भौम और ३. पातालीय। स्वर्ग्य और पातालीय दोनोंकी अपेक्षा भौम-कविसमय प्रधान है; क्योंकि उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भौम-कविसमय चार प्रकारका है—१. जातिरूप, २. द्रव्यरूप, ३. गुणरूप और ४. क्रियारूप। शब्दार्थके चार प्रकार होनेके कारण कविसमय भी चार प्रकारका होता है। इन चारों प्रकारके अर्थोंमें प्रत्येकके तीन-तीन भेद होते हैं—१. असत्का उल्लेख, २. सत्का अनुल्लेख और ३. नियम

जो पदार्थ, शास्त्र या लोकमें देखा या सुना न गया हो, काव्य-रचनामें उसका उल्लेख करना, असत्का निबन्धन है। दूसरा, शास्त्र और लोक दोनोंमें वर्णित पदार्थका उल्लेख न करना, सत्का अनिबन्धन है तथा शास्त्र और लोकके नियमोंसे नियंत्रित एवं बहुधा व्यवहृत पदार्थका उल्लेख करना नियम है।

तत्र सामान्यस्याऽसतो निबन्धनं यथा। नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च।

जातिगत अर्थमें असत्‌का निबन्धन। जैसे—नदियोंमें कमल, कुमुद आदिका वर्णन, सभी जलाशयोंमें हंस, सारस आदि पक्षियोंका वर्णन, सभी पर्वतोंमें सुवर्ण, रत्न आदिकी खानोंका वर्णन। नदियोंमें कमल आदि असत् हैं; किन्तु कविसमयके अनुसार उनका वर्णन किया जाता है।

सभी जलाशयोंमें हंस आदि पक्षी नहीं होते और न सभी पर्वतोंमें सुवर्ण और रत्नोंकी खानें ही होती हैं; किन्तु कवि-समयानुसार उनमें उनका वर्णन आवश्यक होता है।

नदीपद्मानि यथा—"दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥"

नदीमें पद्म आदिके वर्णनका उदाहरण—

जिस उज्जयिनी नगरीमें, उषाकालके समय, मन्द, मनोहर और श्रवण-मधुर शब्द करते हुए हंसोंकी ध्वनिको बढ़ाती हुई, खिले हुए कमलोंके परागसे मिलनेके कारण कसैली एवं शरीरको सुख देनेवाली, शिप्रा नदीकी वायु, अनुनय-चतुर नायककी भाँति रमणियोंके सुरत-जनित-श्रमका अपहरण करती है[२]।

यहाँ शिप्रा नदीमें, असत हंस और कमल आदिका वर्णन, केवल कविसमय-सिद्धान्तके अनुसार किया गया है। प्रवाहयुक्त नदियोंमें हंस, कमल, आदिका होना सम्भव नहीं है।

नदीनीलोत्पलानि—"गगनगमनलीलालम्भितान्स्वेदबिन्दून्
मृदुभिरनिलवारैः खेचराणां हरन्तीम्।
कुवलयवनकान्त्या जाह्नवीं सोऽभ्यपश्यत्
दिनपतिसुतयेव व्यक्तदन्ताङ्कपालीम्॥"

नदीमें नील-कमल आदिका वर्णन—

उस राजाने, शीतल मधुर वायुके झकोरोंसे, आकाशमें भ्रमण करनेवालोंके सूर्यताप-जन्य स्वेद-विन्दुओंका हरण करती हुई और नीले कमल-वनोंके व्याजसे मानों यमुनाके द्वारा गोदमें खिलाई जाती हुई गंगाको देखा।

यहाँ गंगाके प्रवाहमें असत् कुमुद—वनका वर्णन भी असत्‌का निबन्धन है।

एवं नदीकुमुदाद्यपि—

इसी प्रकार नदियोंमें कुमुद आदिका वर्णन भी होता है।

सलिलमात्रे हंसा यथा—

जलाशयमात्रमें हंसोंका वर्णन—

---

२. देखिए—कालिदास : मेघदूत, १—३०

"आसीदस्ति भविष्यतीह स जनो धन्यो धनी धार्मिकः
यः श्रीकेशववत्करिष्यति पुनः श्रीमत्कुडुङ्गेश्वरम् ।
हेलान्दोलितहंससारसकुलक्रेङ्कारसम्मूर्च्छितै-
रित्याघोषयतीव तन्नवनदी यच्चेष्टितं वारिभिः ॥"

लहरियोंमें हिलते हुए हंसों और सारसोंकी सामूहिक ध्वनिसे शब्दायमान यह नवीन नदी, इस प्रकार घोषणा करती है कि वह पुरुष धनी, धन्य और धार्मिक है और रहेगा भी, जो कुडंग[1] देशके श्रीमान् अधीश्वरको श्रीकृष्णके समान बना देगा।

यहाँ एक साधारण-सी वर्षा-नदीमें हंस, सारस आदिका वर्णन किया गया है ।

पर्वतमात्रे सुवर्णं यथा—"नागावासश्चित्रपोताभिरामः
स्वर्णस्फोतिव्याप्तदिक्चक्रवालः ।
साम्यात्सख्यं जग्मिवानम्बुराशे-
रेष ख्यातस्तेन जीमूतभर्ता ॥"

पर्वतमात्रमें सुवर्णका वर्णन—

यह सामने दीखता हुआ जीमूतभर्ता नामक पर्वत, समानताके कारण समुद्रकी मित्रता या समानता प्राप्त करता है। समुद्र, जीमूतों-मेघों-को जल-दान करनेके कारण उनका भर्ता है और यह पर्वत, उनको अपने शिखरों पर धारण करनेके कारण उनका भर्ता है। समुद्र, नागों या जलगजोंका आवासस्थान है और यह पर्वत, नागों एवं हाथियोंका वासस्थान है। समुद्र, विविध प्रकारके जलयानोंसे सुन्दर है और पर्वत, नाना प्रकारके पशुपोतों (बच्चों) से सुन्दर है। समुद्र, विशाल जल-राशिके विस्तारसे चारों दिशाओंमें व्याप्त है और यह पर्वत, स्वर्णके विस्तारसे समस्त दिशाओंमें प्रसिद्ध है। इसी कारण इस पर्वतका जीमूत-भर्ता यह नाम सार्थक है।

रत्नानि यथा—"नीलाश्मरश्मिपटलानि महेभमुक्त-
सूत्कारसीकरविसृञ्जि तटान्तरेषु ।
आलोकयन्ति सरलीकृतकण्ठनालाः
सानन्दमम्बुदधियाऽत्र मयूरनार्यः ॥"

पर्वतोंमें रत्नोंका वर्णन—

इस इन्द्रनील पर्वतके तटोंपर, मयूर-रमणियाँ, लम्बी ग्रीवाओंको ऊपर उठाकर, हाथियोंके सूँड़ोंसे सूत्कारके साथ आकाशमें फेंके हुए जल-विन्दुओंसे विस्तृत होते हुए नील-मणियोंके किरण-जालको, मेघ समझकर आनन्दके साथ देख रही हैं।

---

१. यह कुडुङ्गेश्वर उज्जयिनीका राजा या धनिक था। प्रबन्ध-चिन्तामणिके सिद्धसेन प्रबन्धमें इसकी चर्चा है।

उक्त दोनों उदाहरणोंमें, सामान्य पर्वत पर स्वर्ण और रत्नोंकी उत्पत्तिका असत् उल्लेख किया गया है। सभी पर्वतोंमें ये उत्पन्न नहीं होते।

एवमन्यदपि—

इसी प्रकार जातिगत असत् निबन्धनके अन्यान्य उदाहरण भी काव्योंमें देखे जा सकते हैं।

सतोऽप्यनिबन्धनं। तद्यथा न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु।

अब जातिगत सत्के अ-निबन्धनके उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे—वसन्तमें मालतीके होनेपर भी उसका वर्णन न करना, चन्दनके वृक्षोंमें पुष्प और फलका वणन न करना तथा अशोकके फलोंका वर्णन न करना—आदि आदि।

तत्र प्रथमः—"मालतीविमुखश्चैत्रो विकासी पुष्पसम्पदाम्।
आश्चर्यं जातिहीनस्य कथं सुमनसः प्रियाः॥"

मालतीका वसन्तमें अ-वर्णन—

समस्त पुष्पोंकी सम्पत्तिका विकास करनेवाला वसन्त, मालतीसे विमुख रहता है। अर्थात् वसन्तमें मालती विकसित नहीं होती। आश्चर्य है कि इस जाति (मालती)-विहीन (म्लेच्छ) वसन्तको सुमनस् अर्थात् पुष्प और देवता कैसे प्रिय लगते हैं। तात्पर्य यह है कि जाति-विहीन (म्लेच्छ) देवताओंसे कैसे प्रेम करता है? और जाति (मालती)-विहीन वसन्त मालतीको छोड़कर अन्य पुष्पोंसे कैसे प्रेम करता है?—यह आश्चर्यका कारण है[४]।

द्वितीयः—"यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलकुसुमवर्जितो विहितः।
निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपहरति॥"

दूसरा उदाहरण—

यद्यपि दैवने, चन्दन-वृक्षको फल-फूलोंसे रहित बनाया, तो भी वह अपने शरीरसे ही दूसरोंका सन्ताप हरण करता है।

तृतीयः—"दैवायत्ते हि फले किं क्रियतामेतदत्र तु वदामः।
नाशोकस्य किसलयैर्वृक्षान्तरपल्लवास्तुल्याः॥"

तीसरा उदाहरण—

फल दैवाधीन है—अतः इस विषयमें क्या किया जा सकता है; किन्तु यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अशोकके समान दूसरे वृक्षोंके पल्लव नहीं होते।

---

४. यहाँ 'जाति' और 'सुमनस्' शब्दोंके दो-दो अर्थ हैं। जातिनाम मालतीका और ब्राह्मण आदि जातिका भी है। 'सुमनस्' नाम देवताका और पुष्पोंका भी है।

ये जातिगत सत्के अ-निबन्धनके उदाहरण हुए।

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमस्तद्यथा। समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि।

जातिगत नियमका अर्थ है, अनेक स्थानोंमें प्रचलित व्यवहारोंका एक स्थानमें व्यवहार करना। जैसे—मकर आदिका समुद्रमें ही वर्णन करना, ताम्रपर्णी नदीमें ही मोतियोंका वर्णन आदि।

तयोः प्रथमः—"गोत्राग्रहारं नयतो गृहत्वं
स्वनाममुद्राङ्कितमम्बुराशिम्।
दायादवर्गेषु परिस्फुरत्सु
दंष्ट्रावलेपो मकरस्य वन्द्यः॥"

समुद्रमें मकर-वर्णन—

इस विशाल पृथ्वीको घेरे हुए और अपने नाम-मकरालयसे ही प्रसिद्ध होनेवाले समुद्रको अपना घर बनानेवाला मकर, अपने बन्धु-वर्गमें यदि अपने दाँतोंपर गर्व प्रकट करता है तो यह प्रशंसनीय ही है। कारण यह कि इतना विशाल समुद्र, केवल उसी मकरके आलयके नामसे विख्यात है। अतः उसका गर्व करना, अनन्त जीवों और रत्नोंका आलय होनेपर भी, उचित ही है।

द्वितीयः—"कामं भवन्तु सरितो भुवि सप्रतिष्ठाः
स्वादूनि सन्तु सलिलानि च शुक्तयश्च।
एतां विहाय वरवर्णिनी ताम्रपर्णी
नान्यत्र सम्भवति मौक्तिककामधेनुः॥"

ताम्रपर्णीमें मौक्तिकका वर्णन—

हे सुन्दरि! संसारमें बड़ी-बड़ी नदियाँ भले ही हों और उनमें मधुरसे मधुर जल एवं प्रचुर शुक्तियाँ (सीपें) भी भले ही हों; किन्तु इस ताम्रपर्णीको छोड़कर दूसरी नदी मोतियोंके लिए कामधेनु नहीं है। अर्थात् मोती इसीमें उत्पन्न होते हैं।

असतोऽपि द्रव्यस्य निबन्धनं तद्यथा। मुष्टिग्राह्यत्वं सूचीभेद्यत्वं च तमसः, कुम्भापवाह्यत्वं च ज्योत्स्नायाः।

जातिगत नियमके उदाहरण प्रदर्शित करनेके उपरान्त अब द्रव्यगतके तीन भेद कहे जाते हैं। उनमें असत् द्रव्यका उल्लेख। जैसे—अँधेरेका मुष्टिसे ग्रहण करने योग्य या सूचीसे भेदन करने योग्य वर्णन करना तथा चाँदनीका घड़ोंमें भरा जाना आदि।

तत्र प्रथमम्—"तनुलग्ना इव ककुभः भूवलयं चरणचारमात्रमिव ।
दिवमिव चालिकदघ्नीं मुष्टिग्राह्यं तमः कुरुते ॥"

तम (अन्धेरे) के मुष्टिमेय होनेका उदाहरण—

मुट्ठीमें पकड़नेके योग्य प्रगाढ अन्धकारने, दिशाओंको शरीरसे सटी हुई-सी बना दिया, विशाल पृथ्वीको पैरोंसे चलनेके योग्य बना दिया और आकाशको मस्तकसे छूता हुआ-सा बना दिया। अर्थात् सबको समेटकर अति संकुचित कर दिया।[५]

यथा च—"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

कारागारके चारों ओरसे बन्द रहनेपर भी, अन्धेरेके सूचिभेद्य होनेपर भी और मेरी आँखोंके मुकुलित रहनेपर भी, प्रियतमाका मुख स्पष्ट दीख रहा है।

द्वितीयम्—"यन्त्रद्रावितकेतकोदरदलस्रोतःश्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकदामगुम्फनविधेर्योग्यच्छविः प्रागभूत् ।
उत्सेच्या कलशीभिरञ्जलिपुटैर्ग्राह्या मृणालाङ्कुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा वर्त्तते चन्द्रिका ॥"

चन्द्रिकाका घड़ोंमें भरा जाना—

जो चन्द्रिका, पहिले यन्त्रसे निचोड़े हुए केवड़ेके मध्यभागके रसके समान और मोतियोंकी मालाके गुँथनेके योग्य प्रतीत होती थी; वह आज चन्द्रमाके पूर्ण होनेपर घड़ोंसे भरने योग्य, अँजलियोंमें ग्रहण करने योग्य एवं मृणालकी डंडियोंसे पीनेके योग्य हो गई।[६]

द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनं तद्यथा। कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षे त्वन्धकारस्य।

कृष्ण-पक्षमें चाँदनीके होनेपर भी उसका वर्णन न करना और उसी प्रकार शुक्ल-पक्षमें अन्धकारके होनेपर भी उसका वर्णन न करना—सत् द्रव्यका अनिबन्धन कहा जाता है। जैसे—

---

५. देखिए—राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका नाटिका, ३–६,

६. देखिए—राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका ३–१४। यहाँ 'यन्त्रद्रावित' शब्दके अनेक पाठभेद मिलते हैं। कहीं 'तन्त्रद्रावित' कहीं 'शंखद्रावित' और कहीं 'सद्यो द्रावित' पाठ है। विद्धशालभञ्जिकाके टीकाकार नारायणने यन्त्र शब्दका अर्थ 'कोल्हू' किया है।

तयोः प्रथमम्—"ददृशाते जनैस्तत्र यात्रायां सकुतूहलैः ।
बलभद्र-प्रलम्बघ्नौ पक्षाविव सितासितौ ॥"

उस मथुराकी यात्रामें, कुतूहलसे भरी जनताने, बलभद्र और कृष्णको शुक्ल एवं कृष्णपक्षकी भाँति देखा।

द्वितीयम्—"मासि मासि समा ज्योत्स्ना पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ।
तत्रैकः शुक्लतां यातो यशः पुण्यैरवाप्यते ॥"

दूसरा उदाहरण—

प्रत्येक मासके शुक्ल और कृष्ण पक्षमें चाँदनी तो समान ही रहती है; परन्तु उनमें एक ही पक्ष, शुक्लपक्ष कहा जाता है। ठीक है, यश, बड़े ही पुण्योंसे मिलता है।

द्रव्यनियमस्तद्यथा। मलय एव चन्दनस्थानं, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम्।

मलयाचलमें ही चन्दनकी उत्पत्ति और हिमालयमें ही भूर्जपत्रोंका होना, द्रव्यगत नियम है। जैसे—

तत्र प्रथमः—"तापापहारचतुरो नागावासः सुरप्रियः ।
नाऽन्यत्र मलयादद्रेर्दृश्यते चन्दनद्रुमः ॥"

सन्ताप-हरण करनेमें प्रवीण, नागोंका आवासस्थान और देवताओंका प्रिय चन्दन वृक्ष, मलयाचलके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं दीखता।

द्वितीयः—"न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा-
मनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

जिस हिमालयमें, हाथीके शरीरपर लगे हुए कुछ लाल विन्दुओंके समान रंगवाले भूर्जपत्र, विद्याधर-सुन्दरियोंके प्रेम-पत्र लेखनमें उपयुक्त होते हैं अर्थात् उन भूर्जपत्रोंपर सुन्दरियाँ, गेरू एवं मैनशिल आदि धातुओंसे प्रेमपत्र लिखा करती हैं।

उक्त उदाहरणोंमें मलयाचलमें चन्दन और हिमाचलमें भूर्जपत्रोंका वर्णन लोक-प्रसिद्ध व्यवहारके अनुकूल किया गया है।[७] यद्यपि ये दोनों अन्य पर्वतोंमें भी होते हैं।

---

७. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, १—६

प्रकीर्णकद्रव्यकविसमयस्तु तद्यथा। क्षीरक्षारसमुद्रयोरैक्यं, सागर-महासमुद्रयोश्च।

कुछ प्रकीर्णक (फुटकर) द्रव्योंमें भी कवि-समयके सिद्धान्त लागू होते हैं। जैसे, क्षीर और क्षारसमुद्र एवं सागर और महासागरकी एकता।

तयोः प्रथमः—"शेतां हरिर्भवतु रत्नमनन्तमन्त-
लक्ष्मीप्रसूतिरिति नो विविदामहे हे।
हा दूरदूरसपर्यास्तृषितस्य जन्तोः
किं त्वत्र कूपपयसः स मरोर्जघन्यः॥"

क्षीर और क्षार समुद्रकी एकता—

समुद्रतलमें भगवान् विष्णु भले ही शयन करें और वह भले ही अनन्त रत्नों तथा लक्ष्मीका प्रसव करनेवाला ही हो—इसमें हमें तनिक भी विवाद नहीं; किन्तु प्याससे व्याकुल प्राणियोंके लिए अत्यन्त दूषित जलवाला यह समुद्र, मरुभूमिके कूपसे भी निकृष्टतम है।

यद्यपि भगवान्का शयन एवं लक्ष्मीकी उत्पत्ति क्षीर-समुद्रमें प्रसिद्ध है, क्षार-समुद्रमें नहीं; तथापि कविसमयके अनुसार यहाँ दोनोंकी एकताका उल्लेख किया गया है।

द्वितीयः—"रङ्गत्तरङ्गभ्रूभङ्गैस्तर्जयन्तीमिवापगाः।
स ददर्श पुरो गङ्गां सप्तसागरवल्लभाम्॥"

सागर और महासागरकी एकता—

यात्रा करते हुए राजाने चंचल तरङ्गरूपी भ्रू-भंगसे दूसरी नदियोंका तिरस्कार-सा करती हुई सप्तसागरोंकी प्रियतमा गंगा नदीको सामने देखा।

गंगाका संगम, एक सागरसे हुआ है; परन्तु यहाँ कविने सात समुद्रोंकी एकताका वर्णन, कवि-परम्पराके अनुसार किया है।

असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनं यथा। चक्रवाकमिथुनस्य निशि भिन्नतटाश्रयणं चकोराणां चन्द्रिकापानं च।

अब असत्-क्रियागत निबन्धनका अर्थ बताया जाता है। जैसे—रात्रिमें चकवा-चकवीका जलाशयके भिन्न-भिन्न तटोंपर पृथक् रहना और चकोरोंका चन्द्रिकापान करना आदि।

---

८. 'दूरदूरसपयाः' का अर्थ है:—दूरम् = अत्यन्तम्, दूरसम् = नीरसम्, पयः = जलम्, यस्य सः।

तत्र प्रथमः—"सङ्क्षिपता यामवतीस्तटिनीनां तनयता पयःपूरान् ।
रथचरणाह्वयवयसां किं नोपकृतं निदाघेन ॥"

प्रथमका उदाहरण—

रात्रियोंको संकुचित करते हुए एवं नदियोंके जल-प्रवाहको सुखाकर छोटा करते हुए ग्रीष्मकालने, चक्रवाक पक्षियोंका कौन-सा उपकार नहीं किया ?

द्वितीयः—"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि रोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः ।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चु विचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥"

द्वितीयका उदाहरण—

हे मृग-लोचनी, ये मलयाचलकी उपत्यकामें बहनेवाली नदियोंके वे तटस्थल हैं; जो कामदेवके धनुर्विद्या—अभ्यास करनेके प्रिय स्थान हैं। जिन तटस्थलियोंमें चकोरांगनाएँ, चंचुओंको ऊपर उठाकर एवं गलोंको फैलाकर चन्द्रिका पान करती हैं।

उक्त उदाहरणोंमें, रात्रिमें चक्रवाक-मिथुनकी वियोग-क्रिया और चकोरियोंकी चन्द्रिकापान-क्रिया असत् है। किन्तु कवि-समयके सिद्धान्तानुसार इस प्रकार वर्णन अनिवार्य है।

सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनं तद्यथा। दिवा नीलोत्पलानामविकासो, निशानिमित्तश्च शेफालिकाकुसुमानामविस्रंसः।

क्रियारूप अर्थमें सत्का अनिबन्धन। जैसे—

दिनमें कमलोंका विकास न होना और रात्रिमें शेफालिकाके कुसुमोंका डाल से गिरना। अर्थात्, दिनमें नील-कमलका विकास होता है और शेफालिकाके कुसुमोंका भ्रंश भी होता है; किन्तु कवि-समयके सिद्धान्तानुसार ऐसा उल्लेख नहीं किया जाता।

तत्र प्रथमः—"आलिख्य पत्रमसितागुरुणाभिरामं
रामामुखे क्षणसभाजितचन्द्रबिम्बे ।
जातः पुनर्विकसनावसरोऽयमस्ये-
त्युक्त्वा सखी कुवलयं श्रवणे चकार ॥"

प्रथमका उदाहरण—

सायंकाल, नायिकाकी सखीने, उसका शृंगार करते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर मुख पर काले अगरकी पत्र-रचना करके, कानोंमें नीले कुमुदको सजाते हुए कहा कि 'अब इसके विकासका समय आ गया है'। अर्थात् रात्रिमें इसके मुखचन्द्रसे कुमुदका विकास होगा।

द्वितीयः—"त्वद्विप्रयोगे किरणैस्तथोग्रै-
दग्धाऽस्मि कृत्स्नं दिवसं सवित्रा।
इतीव दुःखं शशिने गदन्ती
शेफालिका रोदिति पुष्पबाष्पैः ॥"

द्वितीयका उदाहरण—

तुम्हारे वियोगमें, सूर्यने अपनी उग्र किरणोंसे मुझे सारे दिन तपाया है; इस प्रकार अपने प्रिय चन्द्रमाको दुखड़ा सुनाती हुई शेफालिका, पुष्परूपी आँखोंसे मानों रो रही हैं।

नियमस्तु तद्यथा। ग्रीष्मादौ सम्भवतोऽपि कोकिलानां विरुतस्य वसन्त एव, मयूराणां वर्षास्वेव विरुतस्य नृत्तस्य च निबन्धः।

ग्रीष्म और वर्षामें भी होनेवाले कोकिल-शब्दका केवल वसन्तमें ही वर्णन और प्रायः सभी ऋतुओंमें होनेवाले मयूर-नृत्य एवं मयूरके शब्दका केवल वर्षामें ही वर्णन करना नियम है।

तयोः प्रथमः—"वसन्ते शीतभीतेन कोकिलेन वने रुतम्।
अन्तर्जलगताः पद्माः श्रोतुकामा इवोत्थिताः ॥"

वसन्तमें कोकिलकी गान-क्रियाका उदाहरण—

वसन्तमें शीतसे भीत कोकिलने, वनोंमें जब कूकना प्रारंभ किया तब जलके मध्यमें छिपे हुए कमल, उसे सुननेके लिए मानों सिर बाहर निकालने लगे।

द्वितीयः—"मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥"

वर्षामें मयूरोंकी नृत्य-क्रियाका उदाहरण—

वर्षाकालमें, मयूर, लम्बे पंखोंको मण्डलाकार बनाकर मधुर-कंठोंसे बोलते हुए नाचते हैं।[१]

कवीनां समयः सोऽयं जातिद्रव्यक्रियागतः।
गुणस्थैष ततः स्वर्ग्यः पातालीयश्च कथ्यते ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें जातिगत, द्रव्यगत और क्रिया-गत कविसमयका वर्णन किया गया है। अब अगले अध्यायोंमें गुणगत कविसमय एवं स्वर्ग्य और पातालीय कवि-समयका वर्णन किया जायगा।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
जातिद्रव्यक्रियासमयस्थापना चतुर्दशोऽध्यायः ॥
चतुर्दश अध्याय समाप्त

---

१. यह पद्य दण्डीके काव्यादर्शका है। देखिए—काव्यादर्श, १-७०

पञ्चदशोऽध्यायः गुणसमयस्थापना

पंचदश अध्याय : गुणगत कविसमयकी स्थापना

असतो गुणस्य निबन्धनं यथा। यशोहासप्रभृतेः शौक्ल्यम्, अयशसः पापप्रभृतेश्च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम्।

असत् [लोकमें अविद्यमान] गुणों-शुक्ल, नील, पीत आदि—का निबन्धन, कविसमयके अनुसार है। जैसे यश और हास्यका संसारमें कोई भी रूप नहीं है; परन्तु कवि-समयके अनुसार उनका श्वेत रूपमें वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार अयश और पाप आदिका कृष्ण रूप है। क्रोध और अनुराग आदिका वर्ण रक्त है।

तत्र यशःशौक्ल्यम्—

"स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैव वृत्ति-
र्मध्येक्षीराब्धि मग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः।
इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः
स्तोकावस्थानदुःस्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः॥"

यशकी शुक्लता—

इस श्लोकका अर्थ ६१ पृष्ठ में किया गया है। भावार्थ यह है कि हे राजन्! तुम्हारे यशकी धवलतासे तीनों लोकोंकी सुन्दरियाँ आश्चर्ययुक्त हो रही हैं।

हासशौक्ल्यम्—"अट्टहासच्छलेनास्याद्यस्य फेनौघपाण्डुराः।
जगत्क्षय इवापीताः क्षरन्ति क्षीरसागराः॥"

हासकी शुक्लता—

प्रलयकालमें पान किए हुए क्षीर-सागर, फेनकी प्रचुरतासे अधिक श्वेत होकर शिवजीके अट्टहासके व्याजसे, मानों मुखसे बाहर निकल रहे हैं।

अयशःकृष्णत्वम्—

"प्रसरन्ति कीर्त्तयस्ते तव च रिपूणामकीर्त्तयो युगपत्।
कुवलयदलसंवलिताः प्रतिदिनमिव मालतीमालाः॥"

अयशकी कृष्णता—

हे राजन्! नील-कुमुदोंके साथ गुथी गई मालती-कुसुमोंकी मालाके समान तुम्हारा यश और शत्रुओंका अयश—दोनों एकसाथ गुँथे हुए, संसारमें प्रतिदिन फैलते हैं।

यहाँ यश, मालतीके समान श्वेत और अयश, नील कुमुदके समान कृष्ण रूपमें वर्णित किया गया है।

पापकार्ष्ण्यम्—"उत्खातनिर्मलमयूखकृपाणलेखा-
श्यामायिता तनुरभूद्धयकन्धरस्य।
सद्यःप्रकोपकृतकेशववंशनाश-
सङ्कल्पसंजनितपापमलीमसेव ॥"

पापकी कृष्णता—

क्रोधसे निकाली हुई एवं चमचमाती हुई खड्ग-धाराकी छायाके समान श्याम-वर्ण, हयग्रीव दैत्यका शरीर, मानों कृष्ण-वंशके नाश करनेके संकल्प रूप पापसे, काला प्रतीत होता था[1]।

उक्त उदाहरणमें, कवि-समयके अनुसार खड्ग-धाराकी कृष्णता और पाप की कृष्णताका वर्णन किया गया है।

क्रोधरक्तता—"आस्थानकुट्टिमतलप्रतिबिम्बितेन
कोपप्रभाप्रसरपाटलविग्रहेण।
भौमेन[2] मूर्च्छितरसानलकुक्षिभाजा
भूमिश्चचाल चलतोदरवर्त्तिनेव ॥"

क्रोधकी रक्तता—

रसातल—की अग्निके गर्भमें रहनेवाला, क्रोधकी मात्रा बढ़ जानेसे रक्त—शरीरवाला एवं सभामंडपकी रत्न-जड़ित भूमिमें प्रतिबिम्बित भौमासुर, जब युद्धके लिए उठकर चलने लगा, तब सारी पृथ्वी काँप उठी।

अनुरागरक्तता यथा—"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम् ॥"

अनुरागकी रक्तताका उदाहरण—यह श्लोक १०१ पृष्ठमें अनूदित है। यहाँ दिग्वधुओंके मुखपर अनुरागके कारण आधे लाल तिलकका वर्णन किया गया है।

सतोऽपि गुणस्यानिबन्धनम्। कुन्दकुड्मलानां कामिदन्तानां च रक्तत्वं, कमलमुकुलप्रभृतेश्च हरितत्वं, प्रियंगुपुष्पाणां च पीतत्वम्।

अब लोकमें विद्यमान गुणोंका, कविसमयके अनुसार वर्णन न करनेके उदाहरण दिए जाते हैं। जैसे—कुन्दकी कलियों एवं कामियोंके दाँतोंका रक्तवर्ण,

---

१. यह पद्य मेण्ठराजके हयग्रीववधका प्रतीत होता है।

२. भौम या नरकासुर कामरूपका पुराण-प्रसिद्ध राजा था।

कमल-कलिकाओंका हरित-वर्ण और प्रियंगु-पुष्पोंका पीत-वर्ण लोक प्रसिद्ध है। परन्तु काव्योंमें कविसमयके अनुसार उनका श्वेत एवं श्यामरंगमें वर्णन किया गया है—

कुन्दकुड्मलाद्यरक्तता—

"द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥"

कुन्द आदिकी अ-रक्तता—

कुन्द-कलिकाके समान श्वेत दाँतोंवाले भगवान् कृष्णके, सभा-मंडपको प्रकाशित करनेवाले स्मितयुक्त मुखसे निकलती हुई शुद्ध-वर्णवाली सरस्वती, मानों स्नान करती थी। शुद्ध वर्णका अर्थ, श्वेत-रंग और शुद्ध अक्षर दोनों होता है[३]।

पद्ममुकुलाहरितत्वम्—

"उद्दण्डोदरपुण्डरीकमुकुलभ्रान्तिस्पृशा दंष्ट्रया
मग्नां लावणसैन्धवेऽम्भसि महीमुद्यच्छतो हेलया ।
तत्कालाकुलदेवदानवकुलैरुत्तालकोलाहलं
शौरेरादिवराहलीलमवतादभ्रंलिहाग्रं वपुः ॥"

कमल-कलिकाकी श्वेत-वर्णता—

लवण-समुद्रमें डूबी हुई वसुन्धराको, विशाल कमल-कलिकाकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली दंष्ट्रा (दाढ़) से उठाकर, देव और दानवोंके प्रचण्ड कोलाहलके साथ ऊपरकी ओर आते हुए भगवान् आदि-वराहका गगनचुंबी शरीर, हमारी रक्षा करे।

यहाँ श्वेत-दंष्ट्राके उपमानमें उल्लिखित कमल-कलिकाका श्वेत-वर्णमें निबन्धन किया गया है, हरित वर्णमें नहीं।

प्रियंगुपुष्पापीतत्वम्—"प्रियंगुश्याममम्भोधिरन्ध्रीणां स्तनमण्डलम् ।
अलङ्कर्तुमिव स्वच्छाः सूते मौक्तिकसम्पदः ॥"

प्रियंगु-पुष्पोंकी श्यामलता—

दक्षिण-समुद्र, आन्ध्र-रमणियोंके प्रियंगु-पुष्पके समान श्याम-वर्ण स्तन-मंडलको अलंकृत करनेके लिए, स्वच्छ मोतियोंको उत्पन्न करता है। यद्यपि प्रियंगु-पुष्प, पीला होता है; किन्तु यहाँ उसे श्याम-वर्ण कहा गया है।

गुणनियमस्तु तद्यथा। सामान्योपादाने माणिक्यानां शोणता, पुष्पाणां शुक्लता, मेघानां कृष्णता च।

---

३. देखिए—माघ : शिशुपालवध, २–७,

अब गुणोंका नियम कहा जाता है। जैसे—साधारणतः काव्य-रचनामें, माणिक्यका वर्ण लाल, पुष्पोंका श्वेत तथा मेघोंका कृष्ण वर्णन किया जाता है।

तत्र प्रथमः—"सांयात्रिकैरविरतोपहृतानि कूटैः
श्यामासु तीरवनराजिषु सम्भृतानि।
रत्नानि ते दधति कच्चिदिहायताक्षि
मेघोदरोदितदिनाधिपबिम्बशङ्काम्॥"

माणिक्यकी रक्तता—

हे विशाल-नयने! जहाजी व्यापारियों द्वारा समूहरूपमें लाये हुए और समुद्र तटकी काली वनपंक्तिमें एकत्र किये हुए ये रत्न (माणिक्य), क्या तुम्हें मेघोंके मध्यसे उदित हुई सूर्य-बिम्बकी शंका उत्पन्न करते हैं?

पुष्पशुक्लता— "पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्या-
न्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या-
स्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥"

पुष्पोंकी शुक्लता—

पुष्प, यदि नव-पल्लवके ऊपर स्थित हों, और मोती, यदि मूँगोंकी लताओंमें फलते हों, तो लाल होठोंपर फैलते हुए पार्वतीके स्वच्छ एवं शुभ्र स्मितकी उपमा दी जा सके[४]।

यहाँ स्मितके उपमान स्वरूप पुष्पोंको श्वेतरूपमें वर्णित किया गया है, यद्यपि वे अनेक रंगोंके होते हैं।

मेघकार्ष्ण्यम्—"मेघश्यामेन रामेण पूतवेदिर्विमानराट्।
मध्ये महेन्द्रनीलेन रत्नराशिरिवाबभौ॥"

मेघोंकी कृष्ण-वर्णता—

स्वच्छ-सिंहासन-युक्त पुष्पक-विमान, मेघ-श्याम रामके मध्यमें बैठनेसे, ऐसा दीखता था, जैसे उज्ज्वल रत्न-राशिके मध्य, इन्द्रनील-मणिका विशाल खंड रखा हो।

कृष्णनीलयोः, कृष्णहरितयोः, कृष्णश्यामयोः, पीतरक्तयोः, शुक्लगौरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः।

कृष्ण और नीलका, कृष्ण और हरितका, कृष्ण और श्यामका, पीत और रक्तका एवं शुक्ल और गौरका समानरूपसे वर्णन करना भी कविसमय है।

---

४. देखिए—कालिदास : कुमारसम्भव, १-४४,

कृष्णनीलयोरैक्यम्—

"नदीं तूर्णं कर्णोऽप्यनुसृतपुलिनां दाक्षिणात्याङ्गनाभिः
समुत्तीर्णो वर्णामुभयतटबलाबद्धवानीरहाराम् ।
तटे सह्यस्योच्चैः स्वसलिलनिवहो भाति नीलः स यस्याः
प्रियस्यांशे पीने लुलित इव घनः केशपाशः सुकेश्याः ॥"

कृष्ण और नीलकी एकता—

कर्ण नामक राजाने, दाक्षिणात्य स्त्रियोंसे भरे हुए पुलिनवाली एवं तटके दोनों ओर उगे वेतोंका हार धारण करनेवाली उस वर्णा नाम नदीको पार कर लिया; जिस वर्णा नदीका सह्य-पर्वतकी अधित्यकासे गिरता हुआ नीला-जल, ऐसा प्रतीत होता था, जैसे प्रियतमके पीन कंधोंपर बिखरा हुआ प्रियतमाका काला और घना केश-पाश !

यहाँ नीले जलकी कामिनीके कृष्ण केशोंसे उपमा देकर दोनों वर्णोंकी एकता वर्णित की गई है ।

कृष्णहरितयोरैक्यम्—"मरकतसदृशं च यामुनं
स्फटिकशिलाविमलं च जाह्नवम् ।
तदुभयमुदकं पुनातु वो
हरिहरयोरिव सङ्गतं वपुः ॥"

कृष्ण और हरितकी एकता—

मरकत (हरी) मणिके समान यमुनाका जल और स्फटिक-शिलाके समान गंगाका शुभ्र-जल—ये दोनों मिले हुए हरि-हर-शरीरके समान आपको पवित्र करें ।

यहाँ मरकतके समान हरित-वर्ण यमुना-जलकी और कृष्ण-वर्ण हरिकी एकता वर्णित की गई है ।

कृष्णश्यामलयोरैक्यम्—

"एतत्सुन्दरि नन्दनं शशिमणिस्निग्धालवालद्रुमं
मन्दाकिन्यभिषिक्तमौक्तिकशिले मेरोस्तटे नन्दति ।
यत्र श्यामनिशासु मुञ्चति मिलन्मन्दप्रदोषानिला-
मुद्दामामरयोषितामभिरतं कल्पद्रुमश्चन्द्रिकाम् ॥"

कृष्ण और श्यामकी एकता—

हे सुन्दरि ! चन्द्रकान्त-मणियोंकी घनी क्यारियोंसे शोभित यह नन्दनवन, मन्दाकिनीसे धुली हुई मोतियोंकी शिलाओंसे युक्त सुमेरु पर्वतके तटपर विराजमान

है, जहाँ श्यामल रात्रियोंमें कल्पवृक्ष, देव-ललनाओंको उनकी रुचिके अनुकूल सायंकालीन वायुके साथ चन्द्रिका प्रदान करता है।

यद्यपि रात्रिका काला होना प्रत्यक्षसिद्ध है, तथापि यहाँ कविने, समयानुसार श्याम-निशाका प्रयोग, कर दोनोंकी एकता वर्णित की है।

पीतरक्तयोरैक्यम्—

"लेखया विमलविद्रुमभासा सन्ततं तिमिरमिन्दुरुदासे।
दंष्ट्रया कनकभङ्गपिशङ्गया मण्डलं भुव इवादिवराहः॥"

पीत और रक्तकी एकता—

चन्द्रमाने, विमल प्रवालके समान चमकती हुई कलासे, एकत्रित अन्धकारको इस प्रकार ऊपर फेंक दिया; जैसे भगवान् आदिवराहने, स्वर्णखंड-सी चमकती पीली दाढ़से, भूमंडलको जलसे ऊपर निकाल दिया था।

यहाँ तरुण-चद्रकलाके समान दंष्ट्राके रक्त होने पर भी दोनों वर्णोंकी एकताके कारण सुवर्णसे उपमा दी गई।

शुक्लगौरयोरैक्यम्—"कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः
कुम्भोदरं नाम निकुम्भपुत्रम्॥"

शुक्ल और गौरकी एकता—

राजा दिलीपके प्रति सिंहकी उक्ति—हे राजन्! जब भगवान् शंकर, कैलासके समान गौर वर्ण वृषभपर चढ़नेकी इच्छा करते हैं, तब पहले मेरी पीठपर पैर रखकर, उसे पवित्र करते हैं। वही मैं निकुम्भका पुत्र कुम्भोदर नामक शंकरका गण हूँ[६]।

शिवका वृषभ श्वेत है। यहाँ उसे गौर कहकर शुक्ल और गौरकी एकताका परिचय दिया गया है।

एवं वर्णान्तरेष्वपि। चक्षुरादेरनेकवर्णोपवर्णनम्।

इसी प्रकार मिश्रित आदि वर्णोंमें भी एकता समझनी चाहिए। आँखोंका भी कवियोंने अनेक रङ्गोंमें वर्णन किया है। वह सब कविसमय-सिद्धान्तके अनुसार समुचित और स्वीकार्य है। आँखोके वर्णनमें श्वेत, श्याम, कृष्ण और मिश्र वर्णोंका वर्णन मिलता है।

---

५. देखिए—भारवि : किरातार्जुनीय, ९-२२

६. देखिए—कालिदास : रघुवंश, २-३६, रघुवंशमें 'निकुम्भमित्रम्' पाठ है।

तत्र चक्षुषः शुक्लता--

"तिष्ठन्त्या जनसंकुलेऽपि सुदृशा सायं गृहप्राङ्गणे
तद्द्वारं मयि निःसहालसतनौ वीक्षामृदु प्रेङ्खति ।
ह्रीनम्राननयैव लोलसरलं निःश्वस्य तत्रान्तरे
प्रेमार्द्राः शशिखण्डपाण्डिममुषो मुक्ताः कटाक्षच्छटाः ॥"

नेत्रोंकी शुक्लताके वर्णनका उदाहरण—

सायंकालके समय, घरके लोगोंसे भरे हुए आँगनमें, वह खड़ी थी। थके और अलसाए अंगोंसे उसकी ओर संकेत करके अपने गृह (कमरे) में जाते हुए देखकर, उसने, संकोच और विवशतासे मुँहको नीचे किये हुए ही सीधी एवं लम्बी साँस लेते हुए, मुझपर प्रेमसे भरे तथा चन्द्र-खंडके समान श्वेत कटाक्षका पात किया।

यहाँ नेत्रोंके एक अवयवरूप—कटाक्षका श्वेतरूपमें वर्णन किया गया है। अतः उसके कारणभूत नेत्रोंका भी श्वेतवर्ण होना सिद्ध है। क्योंकि कार्यमें कारणके गुणोंका संक्रमण होता है।

श्यामता--"अथ पथि गमयित्वा रम्यक्लृप्तोपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।
पुनरविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥"

नेत्रोंकी श्यामताका वर्णन—

सीता-परिणयके अनन्तर, पुत्रों और पुत्र-बधुओंको साथ लेकर राजा दशरथने, मार्गमें कुछ रात्रियाँ व्यतीत करके[७] मैथिलीको देखनेके लिए उत्सुक पौर-रमणियोंके नेत्रोंसे, कुवलयके समान दीखते हुए झरोखोंवाली अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया।

यहाँ कुवलयोंसे नेत्रोंकी उपमा देते हुए महाकवि कालिदासने उनके श्याम वर्णका उल्लेख किया है।

कृष्णता--"पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥"

---

७. देखिए—कालिदास : रघुवंश, ९-९३, रघुवंशमें 'क्लृप्तरम्योपकार्ये' और 'पुनः' के स्थानपर 'पुरम्' पाठ है।

नेत्रोंकी कृष्णताका वर्णन—

हे मेघ! उज्जयिनीके महाकाल-मन्दिरके प्रांगणमें नृत्य करती हुई, चरण-संचालनसे कांचीको बजाती हुई और रत्न-जड़ित-मूठोंवाले चँवरोंके डुलानेसे श्रान्त हाथोंवाली वेश्याएँ, नखोंको शान्ति प्रदान करनेवाली वर्षाकी प्रथम बूँदोंसे प्रसन्न होकर, तुमपर भ्रमर-पंक्तिके समान काले और लम्बे कटाक्षोंका पात करेंगी।[८]

यहाँ भी भ्रमर-पंक्तिसे कटाक्षोंकी तुलना करते हुए महाकवि कालिदासने नेत्रों की कृष्ण-वर्णताका निबन्धन किया है। अतः यह भी कवि-समय-सिद्धान्तसे स्वीकार्य है।

मिश्रवर्णता—"तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणां।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥"

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे गुणसमयस्थापना पञ्चदशोऽध्यायः॥

नेत्रोंकी मिश्र-वर्णता—

हे मेघ! तुम दशपुरकी वधुओंके नेत्र-कौतूहलोंका पात्र बनते हुए आगेकी ओर चलना। उनके नेत्र, भ्रू-संचालनकी चतुरतासे परिचित हैं, पलकोंके ऊपर उठे रहनेसे उनकी काली पुतलियोंकी कान्ति (किरणें), ऊपर की ओर जा रही हैं और वे फेंके हुए कुन्द-कुसुमके पीछे दौड़ते हुए भ्रमरों की शोभाको चुरानेवाले हैं।[९]

यहाँ महाकवि कालिदासने, फेंके हुए कुन्द-कुसुमका अनुसरण करनेवाले भ्रमरोंके साथ नेत्रोंकी उपमा देते हुए उनके रंगमें मिश्रताका उल्लेख किया है। अतः महाकवि सम्प्रदाय-सिद्ध वस्तु होनेके कारण नेत्रोंका यह मिश्र-वर्ण भी कवियोंके लिए उपादेय है।

पंचदश अध्याय समाप्त

---

८. देखिए—कालिदास: मेघदूत, १–३६,
९. देखिए—कालिदास: मेघदूत, १–४७,

षोडशोऽध्यायः स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्यस्थापना

षोडश अध्याय : स्वर्ग्यपातालीय कवि-रहस्य-स्थापना

भौमवत्स्वर्ग्योऽपि कविसमयः। विशेषस्तु चन्द्रमसि शशहरिणयोरैक्यम्।

पिछले दो अध्यायोंमें, जैसे भौम अर्थात् पार्थिव कविसमय कहा गया है, उसी प्रकार स्वर्गीय कविसमय भी है। जैसे, चन्द्रमामें खरगोश और हरिणकी एकता।

यथा--"मा भैः शशाङ्क मम सीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्॥"

शश (खरगोश) और हरिणकी एकता—

मधुपान करती हुई नायिका, मधुपात्रमें चन्द्रबिम्बको देखकर कहती है—हे चन्द्र! डरो मत, मेरे मधुमें राहु नहीं है। हे कातर! डरता क्यों है? इसमें रोहिणी भी नहीं है, वह तो आकाशमें है। प्रायः देखा जाता है कि चतुर-ललनाओंके नव-संगममें पुरुषोंका मन विचलित (भयभीत) होता है, इसलिए तुम्हें भी भय होना आश्चर्यजनक नहीं है। अर्थात् स्वाभाविक ही है।[1]

मद्यपान करनेवाले प्रायः मद्यपात्रमें चन्द्रमाको प्रतिबिम्बित करते हैं—ऐसी प्रथा है। तदनुसार अपने पान-पात्रमें चन्द्रमाका चंचल प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हुई कोई प्रौढ़ा नायिका चन्द्रमासे कह रही है कि तुम निर्भय होकर मेरे इस पान-पात्रमें आ जाओ। यहाँ भयका कोई कारण नहीं है। तात्पर्य यह कि तुम्हारे भयका एक कारण तो राहु है, जो तुम्हें ग्रस लेता है और दूसरा भय, अपनी पत्नी रोहिणीसे हो सकता है कि वह तुम्हें परस्त्रीसे समागम करते देखकर रूठ न जाय। यहाँ वे दोनों भय नहीं हैं। तब भी तुम्हारे विचलित होनेका कारण यह मालूम होता है कि पुरुष, प्रौढ-रमणियोंसे नव-समागम करनेमें प्रायः हिचकिचाते हैं। अतः तुम्हारा विचलित या चंचल होना आश्चर्यजनक नहीं है।

इस रचनामें कविने, चन्द्रमाके कलंकका शशके रूपमें उल्लेख किया है।

यथा च—"अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुराक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥"

---

१. यह पद्य, वामनके अलङ्कार ग्रन्थमें भी उद्धृत है।

शिशुपाल-वध महाकाव्यमें चन्द्रमाके कलंकको हरिणके रूपमें चित्रित किया गया है। जैसे—

मृगको अपनी गोदमें बैठानेवाला चन्द्रमा, मृग-लांछन कहा जाता है और निष्ठुरताके साथ मृगोंके झुण्डोंका नाश करनेवाला सिंह, मृगराज कहलाता है।[२]

कामकेतने मकरमत्स्ययोरैक्यं यथा--

इसी प्रकार कामदेवके ध्वज-चिह्नको कहीं मकरके और कहीं मत्स्यके रूपमें वर्णित किया गया है। परन्तु कविको दोनोंका ऐक्य समझना चाहिए।

> "चापं पुष्पमयं गृहाण मकरः केतुः समुच्छ्रीयतां
> चेतोलक्ष्यभिदश्च पंच विशिखाः पाणौ पुनः सन्तु ते।
> दग्धा कापि तवाकृतेः प्रतिकृतिः कामोऽसि किं गूहसे.
> रूपं दर्शय नाऽत्र शंकरभयं सर्वे वयं वैष्णवाः॥"

मकर-चिह्नका उल्लेख—

हे कामदेव! अपने पुष्पमय धनुषको उठाओ, मकरकी पताकाको फहरा दो, चित्तरूपी लक्ष्यको भेदन करनेवाले पाँचों बाणोंको पुनः हाथमें ले लो। महादेवने तुम्हारे शरीरके समान किसी अन्य शरीरको भस्म किया होगा, तुम तो काम हो, क्यों छिप रहे हो, अपना रूप प्रकट करो, यहाँ शंकरका भय नहीं है। हम सब तो वैष्णव-जन हैं।

इस रचनामें कामदेवको मकर-केतन कहा गया है।

यथा च— "मीनध्वजस्त्वमसि नो न च पुष्पधन्वा
केलिप्रकाश तव मन्मथता तथापि।
इत्थं त्वया विरहितस्य मयोपलब्धाः
कान्ताजनस्य जननाथ चिरं विलापाः॥"

मीन-केतनका उदाहरण—

हे जननाथ! मैंने तुम्हारे विरहमें ललनाओंके इस प्रकारके विलाप सुने-'हे स्मर! तुम न तो मीन-ध्वज हो और न पुष्प-धन्वा हो, तथापि मन्मथ अवश्य हो'।

इस रचनामें कामको मत्स्य-ध्वज या मीन-ध्वज कहा गया है।

यथा वा— "आपातमारुतविलोडितसिन्धुनाथो
हात्कारभीतपरिवर्त्तितमत्स्यचिह्नाम्।
उल्लङ्घ्य यादवमहोदधिभीमवेलां
द्रोणाचलं पवनसूनुरिवोद्धरामि॥"

---

२. देखिए—माघ: शिशुपालवध, २-३३।

जैसे, पवनसुत हनुमान्, ओषधियोंकेलिए समुद्रको लांघकर द्रोणाचलको उठा लाये थे, उसी प्रकार मैं भी अपने उत्पतनसे सिन्धुनाथ (जयद्रथ) समुद्रको उत्तरंगित करता हुआ, हाहाकारसे डरकर मत्स्यके चिह्नको परिवर्तित करनेवाली यादव-महासमुद्रकी भीम (भयंकर) बेलाको पार कर, द्रोण-आचार्य रूपी पर्वतको उठा लाता हूँ।

यह श्लेष रचना है। सिन्धुनाथ, यादव, भीम, द्रोणाचल आदि पद, क्रमशः जयद्रथ, कृष्ण, भीमसेन और द्रोण का संकेत करते है। यहाँ भी मत्स्य-चिह्नका उल्लेख किया गया है।

अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्नचन्द्रयोरैक्यम्--

पुराणोंमें चन्द्रमाकी उत्पत्ति कहीं अत्रि ऋषिके नेत्रसे और कहीं समुद्रसे लिखी गई है। परन्तु वे दोनों एक ही हैं। अतः कविको वर्णन-प्रसंगमें उन्हें पृथक् न समझना चाहिए। अत्रि-नेत्रसे उत्पत्तिका उदाहरण—

"वन्द्या विश्वसृजो युगादिगुरवः स्वायम्भुवाः सप्त ये
तत्रात्रिर्दिवि सन्दधे नयनजं ज्योतिः स चन्द्रोऽभवत्।
एका यस्य शिखण्डमण्डनमणिर्देवस्य शम्भोः कला
शेषाभ्योऽमृतमाप्नुवन्ति च सदा स्वाहास्वधाजीविनः॥"

सृष्टिके आदिमें, ब्रह्माकी इच्छासे उत्पन्न होनेवाले और समस्त विश्वकी सृष्टि करनेवाले वे सप्तऋषि वन्दनीय हैं। उनमें एक अत्रि-ऋषिने, अपनी नेत्र-ज्योतिका आकाशमें सन्धान किया, जो चन्द्रमाके नामसे प्रसिद्ध है। इस चन्द्रमाकी एक कला, भगवान् शंभुके जटाका भूषण बन गई और शेष कलाओंसे देव और पितृगण अमृत प्राप्त करते हैं।

बहुकालजन्मनोरपि शिवचन्द्रमसोर्बालत्वम्—

इसी प्रकार अनन्तकालसे उत्पन्न शिवके मस्तकका चन्द्रमा, सदा बालकके रूपमें ही वर्णित किया जाता है। उदाहरण—

"मालायमानामरसिन्धुहंसः
कोटीरवल्लीकुसुमं भवस्य।
दाक्षायणीविभ्रमदर्पणश्रि
बालेन्दुखण्डं भवतः पुनीतात्॥"

शिवकी जटामें मालाके समान दीखती हुई मन्दाकिनीके तटपर विहार करने-वाला हंस, शिवजीकी जटा-वल्लीका श्वेत-कुसुम और पार्वतीके लिए दर्पणकी शोभा धारण करनेवाला बाल-चन्द्रका खण्ड, आपको पवित्र करे।

कामस्य मूर्त्तत्वं च यथा—

कवियोंने अनंग कामका मूर्तरूपसे वर्णन किया है—

"अयं स भुवनत्रयप्रथितसंयमः शंकरो
बिभर्त्ति वपुषाधुना विरहकातरः कामिनीम् ।
अनेन किल निर्जिता वयमिति प्रियायाः करं
करेण परिताडयन् जयति जातहासः स्मरः ॥"

'यह वह शंकर है, जिसका संयम तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। आज वही विरहके भयसे आधे शरीरमें कामिनीको लेकर बैठा है। इसने हमें जीत लिया ? अर्थात् ऐसा यह हमें क्या जीतेगा'—इस प्रकार कहते हुए और अपने हाथको अपनी प्रियतमा (रति)के हाथपर पटककर हँसते हुए कामदेवकी जय हो ।[3]

इसी प्रकार अमूर्त कामका वर्णन भी कवियोंने किया है। जैसे—

यथा च—"धनुर्माला मौर्वी क्वणदलिकुलं लक्ष्यमबला
मनोभेद्यं शब्दप्रभृति य इमे पञ्च विशिखाः ।
इयान् जेतुं यस्य त्रिभुवनमनङ्गस्य विभवः
स वः कामः कामान्दिशतु दयितापाङ्गवसतिः ॥"

पुष्पोंकी माला जिसका धनुष है, गुंजन करते हुए भौंरे जिसकी प्रत्यंचा हैं, अबलाएँ जिसका लक्ष्य हैं, मन जिसकी भेदनीय वस्तु (लक्ष्य) है, शब्द आदि पाँच विषय जिसके बाण है—तीनों लोकोंको जीतनेके लिए जिसके समीप इतना साधन है, ललनाओंके कटाक्षमें रहनेवाला वह अनङ्ग कामदेव, आप लोगोंकी कामनाओंको सफल करे ।[4]

द्वादशानामप्यादित्यानामैक्यम्—

पुराणोंमें बारह आदित्य या सूर्य कहे गये हैं; परन्तु कवि-रचनाओंमें उन्हें एक ही समझना चाहिए। जैसा कि मयूरके सूर्य-शतकमें कहा गया है—

"यस्याधोऽधस्तथोपर्युपरि निरवधि भ्राम्यतो विश्वमश्वै-
रावृत्तालातलीलां रचयति रयतो मण्डलं चण्डधाम्नः ।
सोऽव्यादुत्तप्तकार्त्तस्वरसरलशरस्पर्द्धिभिर्द्धामदण्डै-
रुद्दण्डैः प्रापयन्वः प्रचुरतमतमःस्तोममस्तं समस्तम् ॥"

---

३. यह पद्य 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (१–२४) में उद्धृत है ।

४. यह पद्य 'सुभाषितावली'में कुछ पाठभेदके साथ 'घण्टक' के नामसे उद्धृत है ।

इस असीम विश्वमें घोड़ोंके द्वारा नीचे और ऊपर वेगसे घूमता हुआ जो सूर्य-मंडल, आकाशमें जलती और वेगसे घूमती हुई चर्खीके समान मालूम होता है, वह सूर्य-मंडल, तपाए हुए सोनेके लम्बी छड़ोंके समान चमकते हुए किरणरूपी दंडोंसे सम्पूर्ण अन्धकारको नाश करता हुआ आप लोगोंकी रक्षा करे।"

इसमें समस्त विश्वमें एक ही सूर्यका वर्णन किया गया है।

नारायणमाधवयोश्च यथा—

इसी प्रकार नारायण और माधवकी एकता भी कविसमयानुसार है। जैसे—

"येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यो गङ्गां च दधेऽन्धकक्षयकरो यो बर्हिपत्रप्रियः।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवलयस्त्वां सर्वदोमाधवः॥"

इस श्लोकमें माधव-विष्णु तथा उमा-धव शिव, दोनोंका श्लेषसे वर्णन किया गया है। माधव-पक्षमें—जिस अजन्मा विष्णुने शकटासुरका नाश किया, जिसने बलिके विजय करनेवाले वामन शरीरको स्त्री (मोहिनी) रूपमें परिवर्तित किया, जिसने कृष्णरूपसे गोवर्धन पर्वत और कूर्मरूपसे पृथ्वीको धारण किया, जिसने अन्धक (यादव) वंशका क्षय कर दिया, जिसे मयूर-पंख प्रिय है, जिसने चन्द्रमाके शत्रु (राहु) का शिर काट दिया और जिसके नामको देवगण स्तुति करने योग्य कहते हैं, वह उद्दंड कालिय नागका दर्प-दलन करनेवाला माधव तुम्हारी सदा रक्षा करे।

शिव-पक्षमें—

कामदेवका नाश करनेवाले जिस शिवने, त्रिपुरासुर-वधके समय नारायणके शरीरको अस्त्र बनाया था, जो गंगाको धारण करता है, जो अंधकासुरका नाशक है, जो कार्तिकेयको प्रिय है, जिसका मस्तक चन्द्रमासे युक्त है, देवतागण जिसका प्रशंसनीय नाम 'हर' कहते हैं, वह प्रिय सर्पोंके हार और कंकणोंको धारण करनेवाला उमापति, तुम्हारी सर्वदा रक्षा करे।

इस पद्यमें कृष्ण, कूर्म, वामन, मोहिनी आदि अवतार धारण करनेवाले माधव और नारायणकी एकताका वर्णन किया गया है।

एवं दामोदरशेषकूर्मादेः कमलासम्पदोश्च। यथा—

इसी प्रकार दामोदर, शेष, कूर्म आदिमें भी एकता समझनी चाहिए।

कमला और सम्पत्तिकी एकता—

---

५. यह पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' और 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय'में राजशेखरके नामसे तथा 'सुभाषितावली'में चन्द्रकके नामसे उद्धृत है।

"दोर्मन्दीरितमन्दरेण जलधेरुत्थापिता या स्वयं
यां भूत्वा कमठः पुराणककुदन्यस्तामुदस्तम्भयत् ।
तां लक्ष्मीं पुरुषोत्तमः पुनरसौ लीलाञ्चितभ्रूलता-
निर्देशैः समवीविशत्प्रणयिनां गेहेषु दोष्णि क्षितिम् ।।"

भगवान् विष्णुने, अपने हाथोंसे मन्दराचलका मंथन करके स्वयं जिसे समुद्रसे निकाला और जिसे कूर्मके रूपमें अपनी पुरानी पीठपर धारण किया, उसी लक्ष्मी या पृथ्वीको लीला-संचालित भ्रूलताके इंगितसे ही अपने भक्तोंके गृहोंमें स्थापित कर दिया और पृथ्वीको अपनी बाहुओंपर धारण किया ।

यहाँ विष्णुका समुद्रसे स्वयं उद्धृत की गई लक्ष्मी या सम्पत्तिका भक्तोंके घरमें स्थापित करना वर्णित किया गया है, जो लक्ष्मी और सम्पत्तिकी एकताका द्योतक है ।

भौमस्वर्ग्यवत्पातालीयोऽपि कविसमयः

भौम और स्वर्ग्यके समान पातालीय-कविसमय भी है। जैसे-सर्पों और नागोंकी एकता। तात्पर्य यह कि पातालमें रहनेवाले नाग और सर्प दोनों भिन्न जातिके हैं, नागराज शेष और सर्पराज वासुकि हैं। किन्तु कविसमयके अनुरोधसे प्राचीन कविगण, दोनोंका एक ही रूपमें वर्णन करते आये हैं। जैसे—

तत्र नागसर्पयोरैक्यम्—"हे नागराज बहुमस्य नितम्बभागं
भोगेन गाढमभिवेष्टय मन्दराद्रेः ।
सोढा विषह्य वृषवाहनयोगलीलाः
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः ।।"

समुद्र-मंथनके समय मंदराचलको मंथन-दण्ड बनाकर वासुकिको रस्सी बनाया गया था। उस समयका वर्णन करते हुए कवि वासुकिसे कहता है, हे नागराज ! अपने शरीरसे, इस मन्दराचलको भलीभाँति कसकर जकड़ लो। शिवजीकी योग-साधनामें, पर्यंक नामक आसनके बन्धनमें सहायता करनेवाले तुम्हारे लिए, यह मन्दराचल कौन-सा भार है। अर्थात् उस समय तुम्हें त्रैलोक्यका भार उठाना पड़ता है ।

यहाँ सर्पराज वासुकिको नागराज कहा गया है ।

दैत्यदानवासुराणामैक्यं यथा। तत्र हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुप्रह्लादविरोचनबलिबाणादयो दैत्याः, विप्रचित्तिशम्बरनमुचिपुलोमप्रभृतयो दानवाः, बलवृत्रविक्षुरस्तवृषपर्वादयोऽसुराः ।

इसी प्रकार पातालमें रहनेवाले दैत्य, दानव और असुर तीनों भिन्न-भिन्न जातिके हैं। जैसे—हिरण्याक्ष, हिरण्य-कशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बली और बाण आदि दैत्य हैं। विप्रचित्ति, शंबर, नमुचि और पुलोम आदि दानव हैं और बल, वृत्र एवं वृषपर्वा आदि असुर हैं। महाकवि बाणभट्टने कादम्बरीके मंगलाचरणमें तीनोंका एक ही रूपमें वर्णन किया है।

तेषामैक्यं यथा—

"जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः॥"

बाणासुरके मस्तकसे लालित, रावणकी मुकुट-मणियोंके मंडलको चूमनेवाली एवं सुराधीश तथा असुराधीशोंके मस्तकोंपर स्थान प्राप्त करनेवाली भगवान शंकरकी भव-नाशक चरण-रजकी जय हो।[६]

यथा च—"तं शम्बरासुरशराशनिशल्यसारं
केयूररत्नकिरणारुणबाहुदण्डम्।
पीनांसलग्नदयिताकुचपत्रभङ्गं
मीनध्वजं जितजगत्त्रितयं जयेत्कः॥"

दूसरा उदाहरण—

शम्बरासुरके बाणवज्रके प्रहारसे चिह्नित, केयूर-जटित रत्न-प्रभासे रक्त भुज-दण्डवाले, प्रियतमा रतिके कुचपर की हुई पत्र-रचनासे अंकित—विशाल वक्षः-स्थलवाले और तीनों लोकोंका विजय करनेवाले कामदेवको कौन जीत सकता है?

यहाँ शंबरको जो वस्तुतः दानव है; असुर शब्द कहा गया है। इसी प्रकार भर्तृमेण्ठके हयग्रीव-वध महाकाव्यके प्रारम्भमें—

यथा च—"अस्ति दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥"

हयग्रीव नामका वह दैत्य है, जिसके मित्रोंके घरोंमें श्वेत छत्रकी शुभ्र शोभासे मानों स्मित करती हुई लक्ष्मी उसके बाहुबलका परिचय देती है।

यहाँ हयग्रीवको दैत्य कहा गया है। उसी काव्यमें आगे चलकर उसी हयग्रीवको दानव भी कहा गया है। जैसे—

६. देखिए—बाणभट्ट : कादम्बरी, २।

यथा च । हयग्रीवं प्रति—

"दानवाधिपते भूयो भुजोऽयं किं न नीयते ।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु ॥"

हे दानवराज ! तुम अपनी भुजाओंको संहार-कार्यके लिए पुनः कालका सहायक क्यों नहीं बनाते ? अर्थात् शत्रुओंका संहार क्यों नहीं करते ?

इसी प्रकार अन्य उदाहरण—

यथा च—"महासुरसमाजेऽस्मिन् न चैकोऽप्यस्ति सोऽसुरः ।
यस्य नाशनिनिष्पेषनीराजितमुरःस्थलम् ॥"

इस महासुरोंके समाजमें ऐसा एक भी असुर नहीं है; जिसकी छाती इन्द्र-वज्रके प्रहार-जन्य व्रणोंसे शोभित नहीं है ।

यहाँ सभी दैत्यों और दानवोंको असुर कहा गया है ?

एवमन्येऽपि भेदाः—

इसी प्रकार अन्य भेदोंकी कल्पना कवियोंको स्वयं कर लेनी चाहिए ।

सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथाबुद्धि विबोधितः ॥

इस प्रकार यह कवि-समय, जो काव्योंमें सो रहा था, अर्थात् विस्मृत हो गया था, उसे हमने अपनी बुद्धिके अनुसार पुनः जागृत कर दिया है ।

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे स्वर्ग्यपातालीयकविरहस्यस्थापना षोडशोऽध्यायः ॥



षोडश अध्याय समाप्त



सप्तदशोऽध्यायः देशविभागः

सप्तदश अध्याय : देश-विभाग

देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति ।

देश और कालका विभाग करनेवाला कवि, अर्थोंके दर्शनकी दिशामें दरिद्र नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि जिस कविको देश और कालका ज्ञान रहता है, उसे वर्णनीय पदार्थोंकी न्यूनता नहीं होती। दूसरे, यदि कविको देश और कालका ज्ञान न हो तो वह भिन्न-भिन्न देशोंकी प्राकृतिक स्थिति, उन-उन देशोंके सामान्य और विशेष लोक-व्यवहार, उन-उन ऋतुओं, महीनों आदिमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं तथा आचार-व्यवहार आदिका वर्णन करनेमें विमूढ रहता है, उसकी रचना हास्यास्पद और निकृष्ट होती है। अतः देश और कालज्ञानके लिए अन्तिम दो अध्यायोंमें मार्ग-प्रदर्शन किया गया है। इस सप्तदश अध्यायमें देश-विभाग कहा जायगा।

जगज्जगदेकदेशाश्च देशः। द्यावापृथिव्यात्मकमेकं जगदित्येके ।

जगत् अर्थात् लोकका नाम देश है और जगत्के एक देशका नाम भी देश है। कुछ लोगोंका मत है कि 'द्यावा-पृथ्वोरूप[1] एक ही जगत् या लोक है'। जैसे—

तदाहुः—"हलमगु वलस्यैकोऽनड्वान्हरस्य न लाङ्गलं
क्रमपरिमिता भूमिर्विष्णोर्नगौर्न च लाङ्गलम् ।
प्रवहति कृपिर्नाद्याप्येषां द्वितीयगवं विना
जगति सकले नेदृग्दृष्टं दरिद्रकुटुम्बकम् ॥"

हलधर बलभद्रजीके पास एक हल है, किन्तु गौसे रहित है, अर्थात् बैल नहीं है। शिवजीके पास एक बैल है, किन्तु हल नहीं है। विष्णुके पास भिक्षासे प्राप्त एक पैर नापी हुई भूमि है, किन्तु बैल और हल दोनों नही हैं। यदि ये तीनों मिल कर कृषि करना चाहें तो भी दूसरे बैलके बिना असम्भव है। अतः ऐसा दरिद्र-परिवार सारे जगत्में न देखा गया और न सुना गया।

इस रचनामें 'सकल जगत्में' ऐसा कहकर एक ही जगत्का निर्देश किया गया है।

"दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती" इत्यपरे ।

दूसरोंका मत है कि 'स्वर्ग और मर्त्य ये दो जगत् हैं'। वे अपने मतकी पुष्टि में उदाहरण देते हैं—

---

१. 'द्यावापृथिवी' का अर्थ भूमि और आकाश अथवा मर्त्य या स्वर्ग लोक है।

तदाहुः—"रुणद्धि रोदसी[२] वास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी ।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।।"

जबतक कविकी अविनाशिनी कीर्ति, स्वर्ग और मर्त्य-लोकमें व्याप्त रहती है, तबतक वह पुण्यशाली कवि, देवलोकमें निवास करता है ।

यहाँ स्वर्गलोक और मर्त्यलोक इस प्रकार दो जगतोंका वर्णन किया गया है ।

"स्वर्ग्यमर्त्यपातालभेदास्त्रीणि जगन्ति" इत्येके ।

तीसरा मत यह है कि 'स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—ये तीन लोक हैं' । जैसे—

यदाहुः—"त्वमेव देव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयायसे ।।"

हे राजन् ! तुम्हीं पाताल हो, तुम्हीं आशाओं (दिशाओं) के आधार हो, अर्थात् भू-लोक हो, क्योंकि दिशाओंका व्यवहार केवल भू-लोकमें ही होता है, और तुम्हीं देवताओं तथा मरुद्गणों (वायु-समूहों) की भूमि अर्थात् स्वर्गलोक हो । इस प्रकार तुम त्रिभुवन स्वरूप हो । यह अर्थ राजाको विष्णु-स्वरूप मानकर किया गया है[३] ।

राजाके पक्षमें इस पद्यका दूसरा अर्थ है कि तुम 'अलं पाता' = समर्थ रक्षक, याचकोंकी आशाओंके आधार और चँवरसे डुलाये जाने योग्य हो ।

यहाँ तीन लोकोंका पृथक्-पृथक् निर्देश है ।

"तान्येव भूर्भुवःस्वः" इत्यन्ये ।

कुछ लोगोंका मत है कि ये ही तीनों लोक, भूर्, भुवर् और स्वर्—त्रिभुवन कहे जाते हैं । उदाहरण—

तदाहुः—"नमस्त्रिभुवनाभोगभृतिखेदभरादिव ।
नागनाथाङ्गपर्यङ्कशायिने शार्ङ्गधन्वने ।।"

---

२. 'रोदसी' शब्दका अर्थ भी 'द्यावापृथिवी' के समान है । मर्त्य और स्वर्ग दोनोंका मिलाकर नाम है । यह पद्य भामहके 'काव्यालङ्कार' (१-७) में उद्धृत है ।

३. यहाँ 'पातालं' 'आशा' और 'चामरमरुद्भूमि'—ये तीनों शब्द श्लिष्ट हैं । पाता अलम्—इस प्रकार पदच्छेद करनेपर समर्थ रक्षक अर्थ होता है । 'आशा' नाम दिशाओंका भी है । 'चामरमरुद्भूमि'का अर्थ है—चँवरकी वायुसे सेवित । यदि 'च' को अलग कर दिया जाय तो 'अमरमरुद्भूमि' शब्द देवताओंके निवासस्थान स्वर्गका वाचक हो जाता है । यह पद्य 'सरस्वती' कण्ठाभरणमें वर्णश्लेषके उदाहरणमें आया है ।

विशाल त्रिभुवनके भारको धारण करनेकी श्रान्तिको मिटानेके लिए, नागनाथ शेषके शरीररूपी पलंग पर सोये हुए तथा शार्ङ्ग धनुषको धारण करनेवाले विष्णु-भगवान्‌को नमस्कार है।

"महर्जनस्तपः सत्यमित्येतैः सह सप्त" इत्यपरे।

कुछ लोगोंका कथन है कि 'इन तीनोंको लेकर महर्, जन, तपस् और सत्य— ये चार लोक और हैं। इस प्रकार सात लोक हैं। उदाहरण—

तदाहुः— "संस्तम्भिनी पृथुनितम्बतटैर्धरित्र्याः
संवाहिनी जलमुचां चलकेतुहस्तैः।
हर्षस्य सप्तभुवनप्रथितोरुकीर्त्तेः
प्रासादपङ्क्तिरियमुच्छिखरा विभाति॥"

विपुल-विशाल मध्यभागके भारसे पृथ्वीको धारण करनेवाली, हिलते हुए ध्वजारूपी हाथोंसे मेघोंका संचालन करनेवाली एवं ऊँचे उठे हुए शिखरोंवाली, सातों भुवनोंमें विख्यात-कीर्तिवाले राजा[४] हर्षकी यह प्रासाद-पंक्ति, सामने शोभित हो रही है।

"तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धैः सह चतुर्दश" इति केचित्।

दूसरा मत है कि ये सातों लोक, सात वायु[५]—स्कन्धोंको मिलाकर चौदह हो जाते हैं। उदाहरण—

तदाहुः— "निरवधि च निराश्रयं च यस्य
स्थितमनुवर्त्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथम इह भवान्स कूर्ममूर्त्ति-
र्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः॥"

जिसकी स्थिति निराधार और कालकी सीमासे रहित—निःसीम है और जो अद्भुत कौतूहलकी सृष्टि करनेवाले हैं, ऐसे चतुर्दश-भुवनरूपी कल्पलताके कन्द (मूल) रूप भगवान् आदिकूर्मकी जय हो।

"तानि सप्तभिः पातालैः सहैकविंशतिः" इति केचित्।

---

४. यहाँ 'हर्ष' का तात्पर्य बाणभट्टके आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्द्धनसे है।

५. सप्त वायुस्कन्धोंका वर्णन, किसी पुराण आदिमें नहीं मिलता; किन्तु भागवतमें प्रवह, निवह आदि वायुके स्थान अन्तरिक्षमें लिखे हैं—'ततोऽधस्ताद् यक्ष-रक्षःपिशाच-प्रेतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद् वायुः प्रवाति यावन् मेघा उपलभ्यन्ते' इति। कदाचित् राजशेखरका अभिप्राय इन्हीं सात वायुस्कन्धोंसे हो। स्कन्ध शब्दका अर्थ समूह है।

वे चौदह भुवन, सात[६] पातालोंको मिलानेसे इक्कीस हो जाते हैं—कुछ लोगोंका ऐसा मत है।

तदाहुः—"हरहासहरावासहरहारनिभप्रभाः।
कीर्त्तयस्तव लिम्पन्तु भुवनान्येकविंशतिम् ॥"

हे राजन्! हरके अट्टहास, हरके निवास (कैलास) और हरके हार (वासुकी) के समान शुभ्र, तुम्हारी कीर्तियाँ, इक्कीस भुवनोंको धवलित करती हैं।

"सर्वमुपपन्नम्" इति यायावरीयः। अविशेषविवक्षा यदेकयति, विशेषविवक्षात्वनेकयति। तेषु भूर्लोकः पृथिवी। तत्र सप्त महाद्वीपाः।

यायावरीयका सिद्धान्त है कि ऊपर कहे हुए सभी मत उचित हैं। एकसे इक्कीस तककी यह लोक-संख्या, अपनी इच्छाके अधीन है। कवि, सबका एक रूपमें या दो, तीन, सात, चौदह या इक्कीस किसी भी इच्छासे, अनेक रूपोंमें वर्णन करता है। इन लोकोंमें पृथ्वी भू-लोक हैं और उसमें सात महाद्वीप हैं। जैसे—

"जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च प्लक्षो नाम्ना शाल्मलोऽतः कुशोऽतः।
क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां बाह्या बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः ॥

सब द्वीपोंके मध्यमें जम्बू[७] द्वीप है, उसके अनन्तर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। द्वीपोंकी यह स्थिति बाहर-बाहर मंडली (गोलाई) के रूपमें है।

लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः।
स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः ॥"

लवण-जल, इक्षु-रस, सुरा, घृत, दधि, दूध और मधुर-जलके सात समुद्र—इन सातों महाद्वीपोंको घेरे हुए हैं।

"एक एवायं लावणः समुद्रः" इत्येके।

कुछ लोगोंका मत है कि लवण-जलमय एक ही समुद्र है। जैसे कि—

---

६. पुराणोंमें सात पातालोंके नाम ये हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

७. महाभारतके सभापर्वमें मेरुके दक्षिण जम्बूद्वीपका वर्णन है। इस द्वीपमें जम्बु (जामुन) का विशाल वृक्ष है। इसमें जम्बू नामक पर्वत और जम्बू नामकी नदी भी है। इन्हीं कारणोंसे इसका नाम जम्बूद्वीप है। यह लवण समुद्रसे घिरा है।

तदाहुः—"द्वीपाण्यष्टादशात्र क्षितिरपि नवभिर्विस्तृता स्वाङ्गखण्डै-
रेकोम्भोधिर्दिगन्तप्रविसृतसलिलः प्राज्यमेतत्सुराज्यम् ।
कस्मिन्नप्याजिकेलिव्यतिकरविजयोपार्जिते वीरवर्ये
चक्रे पुञ्जेन दातुं तदिदमिति धिया वेधसे यश्चुकोप ॥

इस भू-लोकमें अट्ठारह द्वीप हैं, पृथ्वी नौ खंडोंमें विस्तृत है, दिगन्तों तक फैला हुआ एक समुद्र है और यह समृद्धिशाली एक सुन्दर राज्य है—युद्धक्रीडासे प्राप्त, विजयसे उपार्जित यह सब; अप्रतिम साहसवाले किसी दानीको दान करनेके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए परशुरामको ब्रह्माके प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ। अर्थात् यह सब कुछ ब्राह्मणोंको दान करनेके लिए अत्यल्प हैं। ब्रह्माने इसे इतना छोटा क्यों बनाया ?—यह क्रोधका कारण है।

इस रचनामें एक लवण-समुद्रका वर्णन किया गया है।

"त्रयः" इत्यन्ये ।

कुछ लोगोंका मत है कि 'तीन समुद्र हैं'।

तदाहुः— "आकम्पितक्षितिभृता महता निकामं
हेलाभिभूतजलधित्रितयेन यस्य ।
वीर्येण संहतिभिदा विहतोन्नतेन
कल्पान्तकालविसृतः पवनोऽनुचक्रे ॥"

जैसा कि कहा है—

जिस राजाके शत्रुओंके संगठनको तोड़नेवाले उद्धृत वीर्य (पराक्रम) ने, प्रलयकालीन पवनका अनुकरण किया अर्थात् राजाओं और पर्वतोंको कँपा दिया तथा तीनों समुद्रोंको अनायास ही उथल-पुथलकर दिया।

यहाँ तीन समुद्रोंका वर्णन किया गया है।

यथा वा—"मातङ्गानामभावे मदमलिनमुखैः प्राप्तमाशाकरीन्द्रैः
जाते रत्नापहारे दिशि दिशि ततयो भान्ति चिन्तामणीनाम् ।
छिन्नेषूद्यानवापीतरुषु विरचिताः कल्पवृक्षा रिपूणां
यस्योदश्चत्त्रिवेलावलयफलभुजां मानसी सिद्धिरासीत् ॥"

दूसरा उदाहरण—

(क) जिस राजाके तीनों समुद्रतटोंका उपभोग करनेवाले शत्रुओंको मानसिक-सिद्धि प्राप्त हुई। युद्धमें मारे जानेपर उनके हाथी तो नष्ट हो गए; किन्तु स्वर्गमें जाकर उन्हें दिग्गज प्राप्त हुए। राजाके द्वारा उनके रत्नोंका अपहरण हो जानेपर स्वर्गमें उन्हें चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति हुई और राजाके आक्रमणोंसे उनके उद्यान-वृक्षोंके नष्ट कर दिए जानेपर उन्हें स्वर्गमें कल्पवृक्षोंकी प्राप्ति हुई।

(ख) इसका दूसरा अर्थ यह है कि भागकर और तीन समुद्रोंके तटोंपर फल खाकर रहनेवाले शत्रुओंको मानसिक संकल्पकी ही सिद्धि थी। हाथियोंका स्थान आशाके गजोंने लेलिया, मणियोंके अभावमें चिन्ताकी मणियोंसे काम लेते हैं और उद्यान-वृक्षोंके नष्ट हो जानेपर कल्पनाके वृक्षोंका आनन्द लेते हैं।

इस उदाहरणमें भी तीन समुद्रोंका उल्लेख किया गया है।

"चत्वारः" इत्यपरे।

कुछ लोगोंके मतसे 'चार समुद्र हैं'। जैसे—

तदाहुः—"चतुःसमुद्रवेलोर्मिरचितैकावलीलतम्।
मेरुमप्यद्रिमुल्लङ्घ्य यस्य क्वापि गतं यशः॥"

जिस राजाका यश, चारों समुद्रोंकी तट-लहरियोंकी एक माला बनाकर और सुमेरु पर्वतको भी लाँघकर न जाने कहाँ चला गया।

यहाँ चार समुद्रोंका उल्लेख किया गया है।

"भिन्नाभिप्रायतया सर्वमुपपन्नम्" इति यायावरीयः। सप्तसमुद्रीवादिनस्तु शास्त्रादनपेता एव।

यायावरीय राजशेखरका मत है कि कवियोंके भिन्न-भिन्न अभिप्राय या आशयके कारण सभी मत उचित ही हैं। सात समुद्रोंके माननेवाले भी अ-शास्त्रीय नहीं कहे जा सकते। उन्हें भी शास्त्रका आधार प्राप्त है। जैसा कि कहा है—

तदाहुः—"अगस्त्यचुलुकोच्छिष्टसप्तवारिधिवारिणि।
मुहूर्त्तं केशवेनाऽपि तदन्तः पूतरायितम्॥

अगस्त्यके आचमनसे उच्छिष्ट सात समुद्रोंके जलमें, केशव (विष्णु) भी घड़ी भरके लिए तैरते हुए तृणके समान प्रतीत होते थे।

इस उदाहरणमें सात समुद्रोंका वर्णन किया गया है।

मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां
मेरुर्नाम्ना काञ्चनः शैलराजः।
यो मूर्त्तानामौषधीनां निधानं
यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम्॥

जम्बूद्वीपके मध्यमें पर्वतोंका प्रथम राजा सुवर्णमय मेरु पर्वत है; जो मूर्तिमान् ओषधियोंका आकर और समस्त देवताओंका आवासस्थान है।

तमेनमवधीकृत्य देवेनाम्बुजजन्मना।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च विश्वस्य रचना कृता॥"

इसी सुमेरु पर्वतको अवधि मानकर ब्रह्माने उसके तिरछे, ऊपर और नीचे विश्व-रचना की है।

स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः। तस्य चतुर्दिशमिलावृतं वर्षम्। तस्योत्तरेण त्रयो वर्षगिरयः, नीलः श्वेतः शृङ्गवांश्च। रम्यकं, हिरण्मयम्, उत्तराः कुरव इति च क्रमेण त्रीणि तेषां वर्षाणि। दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च। हरिवर्षं, किंपुरुषं, भारतमिति च त्रीणि वर्षाणि। तत्रेदं भारतं वर्षमस्य च नव भेदाः। इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः।

इसलिए वह सुमेरु सबसे प्रथम और प्रधान वर्ष पर्वत हैं। उसके चारोंओर इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीपसे उत्तर क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान् नामके तीन वर्ष-पर्वत और रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर-कुरु देश हैं। उनके दक्षिण ओर निषध, हेमकूट और हिमवान् नामक तीन वर्ष-पर्वत और हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत—ये तीन वर्ष हैं। उनमें यह भारतवर्ष है। उसके नौ भेद हैं—

१. इन्द्रद्वीप, २. कसेरुमान्, ३. ताम्रपर्ण, ४. गभस्तिमान्, ५. नागद्वीप, ६. सौम्य, ७.गन्धर्व, ८. वरुण द्वीप और ९. कुमारी द्वीप[८]।

पञ्चशतानि जलं, पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात्समुद्रादद्रिराजं हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते।

इन नव द्वीपोंका पाँच सौ भाग जल है और पाँच भाग स्थल है। इस प्रकार प्रत्येक द्वीपकी सीमा एक सहस्र योजन है। वे दक्षिण-समुद्रसे हिमालय तक फैले हुए हैं और परस्पर अगम्य हैं।

तान्येतानि यो जयति स सम्राडित्युच्यते। कुमारीपुरात्प्रभृति बिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्त्तिक्षेत्रम्। तां विजयमानश्चक्रवर्त्ती भवति।

इन सभी द्वीपोंपर जो विजय प्राप्त करता है, वह सम्राट् कहा जाता है[९]। कुमारी द्वीपसे लेकर विन्दुसर तक एक सहस्र योजनका भाग चक्रवर्ति-क्षेत्र कहा

---

८. भारतवर्षके ये नौ भेद वायु और विष्णु पुराणोंके आधार पर लिखे गये हैं। देखिए—वायुपुराण, ४५ अ० ७८-८५।

९. 'कृत्स्नं जयति यो ह्येनं स सम्राडिति कथ्यते'—वायुपुराण, ४५ अ०। भारतवर्षके इन नौ द्वीपोंमें वर्तमान लङ्का, सिलोन, मलाया, जावा, सुमात्रा, वर्मा आदि सम्मिलित थे।

जाता है[१०]। इस समूचे क्षेत्रपर विजय करनेवाला राजा चक्रवर्ती कहा जाता है। यह वह विन्दुसर है; जहाँ भगीरथने गंगावतरणके लिए तप किया था[११]।

चक्रवर्त्तिचिह्नानि तु—"चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्त्तिनाम्[१२]॥"

चक्रवर्तीके चिह्न ये हैं—

चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज—ये चक्रवर्तियोंके सात चिह्न कहे जाते हैं।

अत्र च कुमारीद्वीपे—"विन्ध्यश्च पारियात्रश्च शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
महेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुलपर्वताः॥"

इस कुमारी द्वीपमें सात कुल पर्वत हैं—१. विन्ध्य, २. पारियात्र, ३. शुक्तिमान्, ४. ऋक्ष, ५. महेन्द्र, ६. सह्य और, ७. मलय[१३]।

तत्र विन्ध्यादयः प्रतीतस्वरूपा मलयविशेषास्तु चत्वारः।

इनमें विन्ध्य आदि छः पर्वतोंके स्वरूप तो प्रसिद्ध ही हैं। मलयपर्वतके चार भेद हैं। उनमें प्रथम मलयका स्वरूप यह है—

तेषु प्रथमः—— "आ मूलयष्टेः फणिवेष्टितानां
सचन्दनानां जननन्दनानाम्।
कक्कोलकैलामरिचैर्युतानां
जातीतरूणां च स जन्मभूमिः॥"

यह मलय पर्वत, जड़से शाखाओंतक सर्पोंसे लिपटे हुए एवं जनानन्ददायी चन्दन वृक्षों एवं कंकोल, इलायची, कालीमिर्च तथा जायफलके वृक्षोंकी जन्मभूमि है।

द्वितीयः— "यस्योत्तमां मौक्तिककामधेनु-
रुपत्यकामर्चति ताम्रपर्णी।
रत्नेश्वरो रत्नमहानिधानं
कुम्भोद्भवस्तं मलयं पुनाति॥

१०. कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें चक्रवर्ती क्षेत्रकी यही सीमा लिखी है—

"देशः पृथिवी, तस्यां हिमवत्-समुद्रान्तरितमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्त्तीक्षेत्रम्"

११. यह विन्दुसर, प्रसिद्ध गंगोत्री स्थानसे दो मील ऊपर है।

१२. देखिए—वायुपुराण, ४५, ८८ श्लोक और विष्णुपुराण, २-३।

१३. देखिए—मनुस्मृति, २ अ०, २२ श्लोक

तत्र द्रुमा विद्रुमनामधेया
वंशेषु मुक्ताफलजन्म तत्र।
मदोत्कटैः केसरिकण्ठनादैः
स्फुटन्ति तस्मिन्घनसारवृक्षाः॥"

दूसरे मलयका स्वरूप—

इस मलयपर्वतकी उपत्यकामें, मुक्ता-कामधेनु (मोतियोंको उत्पन्न करनेवाली) ताम्रपर्णी नदी प्रवाहित होती है, यह रत्नोंका महान् आकर है और इसे अगस्त्य ऋषि पवित्र करते हैं, अर्थात् यहाँ अगस्त्य मुनिका आश्रम है। ऐसे इस मलयमें विद्रुम नामके वृक्ष उत्पन्न होते हैं। यहाँ उत्पन्न होनेवाले बाँसोंमें मोती उत्पन्न होते हैं और जब सिंह मदोन्मत्त होकर गर्जना करते हैं तब यहाँके कर्पूर-वृक्ष फूट पड़ते हैं या विकसित होते हैं।

तृतीयः—"विलासभूमिः सकलामराणां
पदं नृणां गौर्मुनिपुङ्गवस्य।
सदाफलैः पुष्पलताप्रवालै-
राश्चर्यमूलं मलयः स तत्र॥"

तीसरे मलयका स्वरूप—

यह मलय, समस्त देवताओंकी विलास-भूमि है। यह मनुष्योंका पवित्र स्थान और अगस्त्यका निवासस्थान है। वृक्ष, इसमें सदा फल प्रसव करते हैं और लताएँ, पुष्पों एवं पल्लवोंसे भरी रहती हैं।

चतुर्थः—"सा तत्र चामीकररत्नचित्रैः
प्रासादमालावलभीविटङ्कैः।
द्वारार्गलाबद्धसुरेश्वराङ्का
लङ्केति या रावणराजधानी॥

चौथे मलयका स्वरूप—

इस मलयपर रत्न-जटित सुवर्णमय प्रासाद-पंक्तियोंसे चमकती हुई रावणकी लंका नामक राजधानी है; जिसके द्वारकी अर्गलामें देवराज इन्द्र बँधे रहते हैं।

-प्रवर्त्तते कोकिलनादहेतुः
पुष्पप्रसूः पञ्चमजन्मदायी।
तेभ्यश्चतुर्भ्योऽपि वसन्तमित्र-
मुदङ्मुखो दक्षिणमातरिश्वा।

इन चारों मलय पर्वतोंसे कोकिलको मधुर ध्वनि प्रदान करनेवाला, अभिनव कुसुमोंका प्रसव करनेवाला, पंचमध्वनिका जन्मदाता एवं वसन्तका मित्र दक्षिण-पवन (मलयानिल)—प्रवर्तित होता है।

पूर्वापरयोः समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्त्तः। तस्मिंश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च। तन्मूलश्च सदाचारः। तत्रत्यो व्यवहारः प्रायेण कवीनाम्।

पूर्व और पश्चिम समुद्रके तथा हिमालय और विन्ध्यके मध्यमें वर्तमान देशका नाम आर्यावर्त है। इसी आर्यावर्तमें चार वर्णों और चार आश्रमोंकी व्यवस्था प्रचलित है। इन्हीं वर्णों और आश्रमोंके आधारपर यहाँ सदाचारका प्रचार है। प्रायः कवियोंका व्यवहार आर्यावर्तकी प्रथाके अनुकूल होता है।

तत्र वाराणस्याः पुरतः पूर्वदेशः[१४]। यत्राङ्गकलिङ्गकोसलतोसलोत्कलमगधमुद्गरविदेहनेपालपुण्ड्रप्राग्ज्योतिषतामलिप्तकमलदमल्लवर्त्तकसुह्मब्रह्मोत्तरप्रभृतयो जनपदाः। बृहद्गृहलोहितगिरिचकोरदर्दुरनेपालकामरूपादयः पर्वताः। शोणलौहित्यौ नदौ। गङ्गाकरतोयाकपिशाद्याश्च नद्यः। लवलीग्रन्थिपर्णकागुरुद्राक्षाकस्तूरिकादीनामुत्पादः।

इस आर्यावर्तमें वाराणसीसे पूर्व दिशाकी ओर पूर्व देश है। जिसमें अंग, बंग, कलिंग, कोशल, तोषल, उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुंड्र, प्राग्ज्योतिष, तामलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म और ब्रह्मोत्तर आदि जनपद हैं। बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, दर्दुर, नेपाल, कामरूप आदि पर्वत हैं। शोण और लौहित्य नद हैं। गंगा, करतोया, कपिशा आदि नदियाँ हैं। लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगुरु, द्राक्षा, कस्तूरी आदि उत्पन्न होते हैं।

माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथः। यत्र महाराष्ट्रमाहिषकाश्मकविदर्भकुन्तलक्रथकैशिकसूर्पारककाञ्चीकेरलकावेरमुरलवानवासकसिंहलचोडदण्डकपाण्ड्यपल्लवगाङ्गनाशिक्यकौङ्कणकोल्लगिरिवल्लरप्रभृतयो जनपदाः। विन्ध्यदक्षिणपादमहेन्द्रमलयमेकलपालमञ्जरसह्यश्रीपर्वतादयः पर्वताः। नर्मदातापीपयोष्णीगोदावरीकावेरीभैमरथीवेणाकृष्णवेणावञ्जुरातुङ्गभद्राताम्रपर्ण्युत्पलावतीरावणगङ्गाद्या नद्यः। तदुत्पत्तिर्मलयोत्पत्त्या व्याख्याता।

माहिष्मतीके आगे दक्षिणापथ है। इसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, कांची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, सिंहल,

---

१४. राजशेखरने भारतके चारों दिशाओंके जिन जनपदोंकी नामावली यहाँ दी है, उनका आधुनिक नामोंके साथ विस्तृत परिचय परिशिष्ट प्रकरणमें दिया गया है। वहीं देखिये।

चोल, दंडक, पांड्य, -पल्लव, गांग, नाशिक्य, कोंकण, कोल्लगिरि, वल्लर आदि जनपद हैं। विन्ध्यका दक्षिण भाग, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मञ्जर, सह्य, श्री· पर्वत आदि पर्वत हैं। नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भीमरथी, वेणा, कृष्ण वेणा, वंजुरा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगंगा आदि नदियाँ हैं। मलयमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दक्षिणापथमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं। जैसे—चन्दन, इलायची, कालीमिर्च, कपूर, मोती आदि।

देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः। तत्र देवसभसुराष्ट्रदशेरकत्रवणभृगुकच्छकच्छीयानर्त्तार्बुदब्राह्मणवाहयवनप्रभृतयो जनपदाः। गोवर्धनगिरिनगरदेवसभमाल्यशिखरार्बुदादयश्च पर्वताः। सरस्वतीश्वभ्रवतीवार्तघ्नीमहीहिडिंबाद्या नद्यः। करीरपीलुगुग्गुलुखर्जूरकरभादीनामुत्पादः।

देवसभा (देवास) के आगे पश्चिम देश है। इसमें देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुकच्छ, कच्छीय, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह, यवन आदि जनपद हैं। गोवर्धन, गिरिनगर, देवसभ, माल्य-शिखर, अर्बुद आदि पर्वत हैं। सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी, मही, हिडिम्बा आदि नदियाँ हैं। करीर, पीलु, गुग्गुलु, खजूर, करभ आदि—इस देशमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ हैं।

पृथूदकात्परतः उत्तरापथः। यत्र शककेकयवोक्काणहूणवाणायुजकाम्बोजवाह्लीकवह्लवलिंपाककुलूतकीरतङ्गणतुषारतुरुष्कबर्बरहरहूरवहुहुकसहुडहंसमार्गरमठकरकण्ठप्रभृतयो जनपदाः। हिमालयकलिन्देन्द्रकीलचन्द्राचलादयः पर्वताः। गङ्गासिन्धुसरस्वतीशतद्रुचन्द्रभागायमुनेरावतीवितस्ताविपाशाकुहूदेविकाद्या नद्यः। सरलदेवदारुद्राक्षाकुङ्कुमचमराजिनसौवीरस्रोतोऽञ्जनसैन्धववैदूर्यतुरङ्गाणामुत्पादः।

पृथूदकसे आगे उत्तरापथ है; जिसमें शक, केकय, बोक्काण, हूण, बाणायुज, काम्बोज, वाह्लीक, वह्लव, लिंपाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हुहुक, सहुड़, हंसमार्ग, रमठ और करकण्ठ आदि जनपद हैं। हिमालय, कलिंद, इन्द्रकील, चन्द्राचल आदि पर्वत हैं। गंगा, सिन्धु, सरस्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू, देविका आदि नदियाँ हैं। इन जनपदोंमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ ये हैं—सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम, चमर, अजिन, सौवीर, श्रोतोंजन, सैन्धव, वैदूर्य और अश्व।

तेषां मध्ये मध्यदेश इति कविव्यवहारः। न चाऽयं नानुगन्ता शास्त्रार्थस्य।

इन देशोंके मध्यमें मध्य-देश है—यह कवियोंका व्यवहार है। यह केवल कवियोंका ही व्यवहार नहीं; किन्तु शास्त्रीय अर्थके अनुकूल भी है। जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है—

यदाहुः—"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः॥"

हिमालय और विन्ध्याचलके मध्यमें, विनशनसे पूर्व और प्रयागसे पश्चिम मध्यदेश कहा जाता है[१५]।

तत्र च ये देशाः पर्वताः सरितो द्रव्याणामुत्पादश्च तत्प्रसिद्धिसिद्धमिति न निर्दिष्टम् ।

मध्यदेशमें जो जनपद, पर्वत, नदियाँ और उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं; वे प्रसिद्ध हैं। अतः उनका नामनिर्देश नहीं किया गया ।

द्वीपान्तराणां ये देशाः पर्वताः सरितस्तथा ।
नातिप्रयोज्याः कविभिरिति गाढं न चिन्तिताः ॥

इनके अतिरिक्त दूसरे द्वीपोंके जो देश (जनपद), पर्वत तथा नदियाँ हैं, उनका कवियोंके लिए अधिक उपयोग न होने के कारण, उनपर विशेष विचार नहीं किया गया ।

"विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी । तदपेक्षया दिशो विभजेत" इति आचार्याः । "तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य" इति यायावरीयः ।

विनशन और प्रयागके (गंगा तथा यमुनाके) बीचका देश अन्तर्वेदी कहा जाता है । इसी अन्तर्वेदीसे दिशाओंका विभाग करना चाहिए—यह आचार्योंका मत है । यायावरीयका मत है कि अन्तर्वेदीमें भी महोदय अर्थात् कान्यकुब्ज (कन्नौज) को अवधि मानकर दिग्विभाग करना चाहिए ।

"अनियतत्वाद्दिशामनिश्चितो दिग्विभाग" इति एके । तथा हि यो वामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमः, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति ।

कुछ लोगोंका मत है कि दिशाएँ अनियत हैं । अतः उनका विभाग भी अनिश्चित है । जैसे, जो देश वामनस्वामीसे पूर्व हैं, वह ब्रह्मशिलासे पश्चिम है और जो देश, कन्नौजसे दक्षिण है, वह कालप्रियसे उत्तर है[१६] ।

---

१५. देखिए—मनुस्मृति, २ अध्याय,

१६. कालप्रिय, वामन स्वामी, ब्रह्मशिला और महोदय—ये चारों कन्नौजकी चार सीमाएँ (चौहद्दी) हैं । इनका परिचय परिशिष्ट प्रकरणमें देखिए ।

"अवधिनिबन्धनमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव" इति यायावरीयः ।

यायावरीय-राजशेखरका उत्तर है कि हमने जो ऊपर दिशाओंका विभाग किया है, वह किसी एक स्थानको अवधि मानकर मर्यादा प्रदर्शनके लिए किया है। यों तो दिग्विभाग अनियत ही है।

"प्राच्यपाचीप्रतीच्युदीच्यः चतस्रो दिशः" इत्येके ।

'प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची ये चार दिशाएँ हैं'—ऐसा कुछ लोगोंका मत है। जैसा कि कहा है—

तदाहुः—"चतसृष्वपि दिक्षु रणे द्विषतः प्रति येन चित्रचरितेन ।
विहितमपूर्वमदक्षिणमपश्चिममनुत्तरं कर्म ॥"

जिस विचित्र चरित्रशाली राजाने, रणक्षेत्रमें, शत्रुओंके प्रति ऐसा कर्म किया, जो अ-पूर्व, अ-दक्षिण, अ-पश्चिम और अनुत्तर था। यहाँ विरोधका आभास होता है। उसका परिहार इस प्रकार है—अ-पूर्व = जैसा पहले किसीने नहीं किया था; अ-दक्षिण = सरलतासे रहित, क्रूर; अ-पश्चिम = भविष्यमें भी जिसे कोई न कर सके; और अनुत्तर—अर्थात् उत्तर-रहित (ला—जबाब)।

इस पद्यमें चार दिशाओंका उल्लेख किया गया है।

"ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ऐशानी चाष्टौ दिशः" इत्येके ।

कुछ विद्वानोंका मत है कि दिशाएँ आठ हैं। जैसे—१. ऐन्द्री, २. आग्नेयी, ३. याम्या, ४. नैर्ऋती, ५. वारुणी, ६. वायव्या, ७. कौवेरी और ८. ऐशानी।

तदाहुः—"एकं ज्योतिर्दृशौ द्वे त्रिजगति गदितान्यब्जजास्यैश्चतुर्भि-
र्भूतानां पञ्चमं यान्यलमृतुषु तथा षट्सु नानाविधानि ।
युष्माकं तानि सप्त त्रिदशमुनिनुतान्यष्टदिग्भाञ्जि भानो-
र्यान्ति प्राह्णे नवत्वं दश दधतु शिवं दीधितीनां शतानि ॥"

उदाहरण—तीनों जगत्के एकमात्र ज्योतिरूप, विष्णुके दो नेत्र रूप और भूतोंमें पाँचवें अर्थात् तेजस्वरूप सूर्यकी, ब्रह्माके चार मुखों द्वारा स्तुति की गई छहों ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेवालीं, सात देवर्षियों द्वारा प्रणाम की गई, आठों दिशाओंमें व्याप्त होने वाली और प्रत्येक प्रभात कालमें नव (नवीन) होने वाली दश-सौ किरणें, आपके कल्याणको सुरक्षित करें।[१७]

इस सूर्य-स्तुतिमें आठ दिशाओंका निर्देश किया गया है।

"ब्राह्मी नागीया च द्वे ताभ्यां सह दशैताः" इत्यपरे ।

---

१७. देखिए—मयूरकवि : सूर्यशतक, १३ ।

दूसरा मत है कि 'इन आठोंके अतिरिक्त ब्राह्मी और नागीया--ये दो दिशाएँ और भी हैं, जिन्हें मिलाकर दश दिशाएँ होती हैं। जैसे—

तदाहुः—"दशदिक्तटपर्यन्तसीमसङ्कटभूमिके ।
विषमा स्थूललक्ष्यस्य[१८] ब्रह्माण्डग्रामके स्थितिः ॥"

अत्यन्त दानी पुरुषके लिए दश दिशाओंकी पर्यन्त सीमाओंसे संकुचित, अतएव स्वल्पभूमिवाले ब्रह्माण्ड रूपी छोटेसे ग्राममें निवास करना कठिन है।

इस उदाहरणमें दश दिशाओंका उल्लेख किया गया है।

सर्वमस्तु, विवक्षापरतन्त्रा हि दिशामियत्ता। तत्र चित्रास्वात्यन्तरे प्राची, तदनुसारेण प्रतीची, ध्रुवेणोदीची, तदनुसारेणावाची, अन्तरेषु विदिशः, ऊर्ध्वं ब्राह्मी, अधस्तान्नागीयेति[१९]।

अस्तु, दिशाएँ चार हों, आठ हों या दश हों—इसमें कुछ भी मतभेद नहीं। दिशाओंकी संख्या, वक्ता या कविकी इच्छाके आधीन है। निष्कर्ष यह कि चित्रा और स्वाती नक्षत्रोंके मध्यमें पूर्व दिशा है और उसीके अनुसार उसके सामने पश्चिम। ऐसे ही ध्रुव नक्षत्रसे युक्त दिशा उत्तर है और उसीके अनुसार सामनेकी दिशा दक्षिण। दिशाओंके मध्यके चार कोने विदिशा कहे जाते हैं। ऊपर आकाश, ब्राह्मी दिशा और नीचे पाताल, नागीया दिशा है।

द्विविधो व्यवहारः कवीनां प्राक्सिद्धो विशिष्टस्थानावधिसाध्यश्च। तत्र प्राक्सिद्धे प्राची—

दिशाओंके विषयमें कवियोंकी व्यवहार-परम्परा दो प्रकारकी है। एक तो पूर्वसिद्ध; जैसा कि ऊपर कहा गया है और दूसरे, किसी विशिष्ट स्थानको अवधि मानकर। इन दोनों प्रकारोंमें पूर्व-सिद्ध व्यवहारानुसार प्राची (पूर्वदिशा) का वर्णन—

"द्वित्रैर्व्योम्नि पुराणमौक्तिकमणिच्छायैः स्थितं तारकै-
र्ज्योत्स्नापानभरालसेन वपुषा सुप्ताश्चकोराङ्गनाः ।
यातोऽस्ताचलचूलमुद्रसमधुच्छत्रच्छविश्चन्द्रमाः
प्राची बालबिडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप् ॥"

आकाशमें, पुराने मोतियोंके समान कान्ति-हीन दो-तीन नक्षत्र शेष रह गए हैं, रातभर चन्द्रिका-पान करनेसे अलसाई हुई चकोरियाँ सो गई हैं। मधु (शहद)

१८. स्थूललक्ष्य का अर्थ है—अत्यन्त दानी।

१९. देखिए—कात्यायन सूत्रपर कर्क भाष्य, २।

के निकल जानेसे म्लान (मुर्झाए हुए) एवं सूखे मक्खियोंके छत्तेके समान मलिन चन्द्रमा अस्ताचलके शिखरपर चला गया और प्राची-दिशा, बिल्लीके बच्चेकी आँखोंके समान (कुछ लाल और कुछ पीली) कान्ति धारण कर रही हैं।[२०]

दक्षिण दिशा—

दक्षिणा—"दक्षिणो दक्षिणामाशां यियासुः सोऽधिकं बभौ ।
जिहासुर्दक्षिणामाशां भगवानिव भास्करः ॥"

दक्षिण दिशाकी ओर जानेवाला वह उदार राजा, इस प्रकार शोभित हो रहा था; जिस प्रकार दक्षिण दिशाको छोड़नेकी इच्छा करनेवाला भगवान् भास्कर शोभित होता है। अर्थात् दक्षिण-अयनमें सूर्यका तेज मन्द पड़ जाता है और उसे छोड़नेपर उत्तर-अयनमें बढ़ता है। इसी प्रकार उसके विपरीत राजाका प्रताप दक्षिण दिशाकी ओर अधिक बढ़ने लगा।

पश्चिमा— "पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना
निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
दीर्घया प्रतिमया सरोम्भस-
स्तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥"

पश्चिम दिशा—

हे मित-भाषिणि, देखो, पश्चिम दिशामें लटकते हुए सूर्यने, लम्बी और कुछ रक्त किरणों द्वारा सरोवरोंके जलसे मानों सोनेका सेतु बनाया है।

उत्तरा— "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥"

उत्तर दिशा—

उत्तर दिशामें, देवतास्वरूप हिमालय नामका शैल-राज है; जो पूर्व और पश्चिम समुद्रोंमें अवगाहन (प्रवेश) कर पृथ्वीके मानदण्डके समान स्थित है।[२१]

विशिष्टस्थानावधौ तु दिग्विभागे पूर्वपश्चिमौ यथा—

किसी विशिष्ट स्थानको अवधि मानकर दिशाओंका विभाग करनेपर पूर्व और पश्चिम दिशाका वर्णन—

---

२०. देखिए—विद्धशालभञ्जिका, १-२।

२१. देखिए—कुमारसम्भव, १-१।

"यादांसि हे चरत संगतगोत्रतन्त्रं
पूर्वेण चन्दनगिरेरुत पश्चिमेन।
नो चेन्निरन्तरधराधरसेतुसूति-
राकल्पमेष न विरंस्यति वो वियोगः ॥"

हे जल-जन्तुओ! अपने-अपने परिवारके साथ चन्दन-गिरि (मलय) के पूर्व या पश्चिम दोनोंमेंसे किसी-एक भागमें विचरण करो! नहीं तो इन पर्वतोंके निरन्तर सेतु-बंधनके कारण तुम्हारा पारस्परिक वियोग समाप्त न होगा। अर्थात् समुद्रमें पुल बँध जानेपर दोनों ओरके जलचर फिर परस्पर मिल न सकेंगे[२२]। इधरके इधर और उधरके उधर ही रह जायँगे।

दक्षिणोत्तरौ यथा—"काञ्च्याः पुरो दक्षिणदिग्विभागे
तथोत्तरस्यां दिशि वारिराशेः।
कर्णान्तचक्रीकृतचारुचापो
रत्या समं साधु वसत्यनङ्गः ॥"

दक्षिण और उत्तर दिशाका विभाग—

कांची-नगरीके दक्षिण भागमें, तथा समुद्रके उत्तर भागमें, धनुषकी प्रत्यञ्चाको कानोंतक ताने हुआ कामदेव, रतिके साथ आनन्दपूर्वक रहता है।

उत्तरादावप्यनुत्तरदिगभिधानं, अनुत्तरादावपि उत्तरदिगभिधानं।

उत्तर दिशामें भी उत्तर दिशाका वर्णन होता है तथा इसी प्रकार अन्य दिशाओंमें भी अन्य दिशाओंका वर्णन होता है।

तयोः प्रथमम्—"तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योद्याने कृतकतनयः कान्तया वर्द्धितो मे
हस्तप्राप्यः स्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥"

उत्तर दिशामें उत्तर दिशाका वर्णन। जैसे—

हे मेघ! उस अलकापुरीमें धनपति कुबेरके गृहसे उत्तरकी ओर मेरा घर है; जो रंग-विरंगे अतएव सुन्दर प्रधान-द्वारके कारण दूरसे ही दीखता है। उसके गृहोद्यानमें मेरी पत्नी द्वारा पुत्रके समान पाला हुआ और हाथोंसे छूने योग्य पुष्प-गुच्छोंसे झुका हुआ छोटा-सा मन्दारका वृक्ष है[२३]।

यहाँ उत्तर दिशामें स्थित अलका नगरीमें भी उत्तर दिशाका उल्लेख किया गया है।

दक्षिण-दिशामें उत्तर-दिशाका वर्णन—

---

२२. देखिए—राजशेखर: बालरामायण, ७-४५।

२३. देखिए—मेघदूत, उत्तरमेघ, १२।

द्वितीयम्—"सह्याद्रेरुत्तरे भागे यत्र गोदावरी नदी ।
पृथिव्यामिह कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ॥"

सह्य पर्वतके उत्तर भागमें; जहाँ गोदावरी नदी है, वह प्रदेश, समस्त पृथ्वीमें सबसे अधिक मनोरम है।

एवं दिगन्तरेष्वपि। तत्र देशपर्वतनद्यादीनां दिशां च यः क्रमस्तं तथैव निबध्नीयात्। साधारणं तूभयत्र लोकप्रसिद्धितश्च।

इसी प्रकार अन्य दिशाओंमें भी ऐसा व्यवहार होता है। कविको चाहिए कि उन-उन देशोंमें जिन-जिन पर्वतों और नदियों आदिका क्रम बताया गया है, उसीके अनुसार रचनाओंमें उनका उल्लेख करे। अर्थात् इन वस्तुओंका वर्णन स्थिर-स्थितिके अनुसार ही करना चाहिए और साधारण क्रम-स्वरूपका वर्णन दोनों रूपोंमें शास्त्र एवं लोक-व्यवहारके अनुसार होना चाहिए।

तद्वद्वर्णनियमः। तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः, दाक्षिणात्यानां कृष्णः, पाश्चात्यानां पाण्डुः, उदीच्यानां गौरः, मध्यदेश्यानां कृष्णः श्यामो गौरश्च।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दिशाओं और देशोंमें रंगका भी नियम है। उसमें पूर्व दिशामें रहनेवालोंका श्याम वर्ण होता है। दाक्षिणात्योंका कृष्ण वर्ण है। पाश्चात्योंका पांडु वर्ण, उत्तर-देश-वासियोंका गौर वर्ण तथा मध्य-देश-वासियोंके श्याम एवं गौर दोनों वर्ण होते हैं। क्रमशः उदाहरण—

पौरस्त्यश्यामता—"श्यामेष्वङ्गेषु गौडीनां सूत्रहारैकहारिषु।
चक्रीकृत्य धनुः पौष्पमनङ्गो वल्गु वल्गति ॥"

पूर्वदेश-वासियोंकी श्यामता—

कामदेव, सूत्रोंमें गुथे हुए हारोंसे आकर्षक गौड़ देशकी स्त्रियोंके श्याम अंगोंपर, धनुषको चढ़ाकर चतुरतासे प्रहार करता है।

दाक्षिणात्यकृष्णता—"इदं भासां भर्त्तुर्द्रुतकनकगोलप्रतिकृति
क्रमान्मन्दज्योतिर्गलति नभसो बिम्बवलयम्।
अथैष प्राचीनः सरति मुरलीगण्डमलिन-
स्तरुच्छायाचक्रैः स्तबकित इव ध्वान्तविसरः ॥"

दाक्षिणात्योंकी कृष्णता—

यह गलाए हुए सोनेके गोलेके समान सूर्य-बिम्ब, क्रमशः मन्द-ज्योति होता हुआ आकाशसे नीचेकी ओर गिर रहा है और उधर पूर्व दिशासे, मुरल-देशकी महिलाओंके कपोलस्थलके समान मलिन और वृक्षोंके छाया-चक्रसे एकत्रित, अन्धकारका प्रसार क्रमशः बढ़ रहा है।

पाश्चात्यपाण्डुता—"शाखास्मेरं मधुकवलनाकेलिलोलेक्षणानां
भृङ्गस्त्रीणां बकुलमुकुलं कुन्तलीभावमेति ।
किं चेदानीं यवनतरुणीपाण्डुगण्डस्थलीभ्यः
कान्तिः स्तोकं रचयति पदं नागवल्लिच्छदेषु ॥"

पाश्चात्योंकी पाण्डुता—

शाखाओंपर खिली हुई बकुल-पुष्पकी कली, मधुपानके लिए चपल नेत्रोंवाली भृंग-रमणियोंके केशके समान प्रतीत होती है और यवनी-तरणियोंके पांडु-कपोलोंकी कान्ति, पानके पत्तोंपर कुछ-कुछ स्थान प्राप्त कर रही है। अर्थात् पानके पत्ते पककर पीले-से हो रहे हैं।

उदीच्यगौरता—"पुष्पैः सम्प्रति काञ्चनारतरवः प्रत्यङ्गमालिङ्गिताः
वाल्हीकीदशनव्रणारुणतरैः पत्रैरशोकोऽञ्चितः ।
जातं चम्पकमप्युदीच्यललनालावण्यचौर्यक्षमं
माञ्जिष्ठैर्मुकुलैश्च पाटलतरोरन्यैव काचिल्लिपिः ॥"

उत्तरदेशवासियोंकी गौरता—

इस वसन्त कालमें, पुष्पोंने कचनार वृक्षके प्रत्येक अंगका गाढ़ आलिंगन कर लिया है। अशोक, वाह्लीक-रमणीके दन्तक्षतके समान अरुण-वर्ण पत्रोंसे शोभित हो रहा है। चम्पा भी उत्तर देशकी ललनाओंके लावण्यकी चोरी करनेमें समर्थ हो रही है और गुलाबकी मजीठी रंगवाली कलियोंकी शोभा तो कुछ और ही हो रही है[२४]।

यथा वा—"काश्मीरीगात्रलेखासु लोलल्लावण्यवीचिषु ।
द्रावयित्वेव विन्यस्तं स्वर्णं षोडशवर्णकम् ॥"

दूसरा उदाहरण—

ललकते हुए लावण्यकी लहरोंसे ललित काश्मीर कामिनियोंके शरीरमें, मानों विशुद्ध सोना गलाकर लेपन किया गया है।

मध्यदेश्यकृष्णता यथा—
"युधिष्ठिरक्रोधवह्नेः कुरुवंशैकदाहिनः ।
पाञ्चालीं ददृशुः सर्वे कृष्णां धूमशिखामिव ॥"

मध्यदेशवासियोंकी कृष्णता—

---

२४. यह पद्य 'विद्धशालभञ्जिका' (१-२५) और 'बालरामायण' (५-३८) में कुछ पाठभेदके साथ है।

सभामें उपस्थित सभी व्यक्तियोंने पांचाली (द्रौपदी) को कुरुकुलका नाश करनेवाली युधिष्ठिरकी क्रोधाग्निसे उठी हुई काली धूम-शिखाके समान देखा।

तद्वन्मध्यदेश्यश्यामता। न च कविमार्गे श्यामकृष्णयोः पाण्डुगौरयोर्वा महान्विशेष इति कविसमयेष्ववोचाम।

इसी प्रकार मध्य-देश-वासियोंकी श्यामता भी समझनी चाहिए। कवि-सम्प्रदायमें श्याम और कृष्णका एवं पाण्डु और गौरका अधिक भेद नहीं है—यह हम कवि-समयके विवेचनमें कह आए हैं।

मध्यदेश्यगौरता--

"तव नवनवनीतपिण्डगौरे प्रतिफलदुत्तरकोसलेन्द्रपुत्र्याः।
अवगतमलिके मृगाङ्कबिम्बं मृगमदपत्रनिभेन लाञ्छनेन॥"

मध्यदेश-वासियोंकी गौरता—

हे उत्तर-कौशलेन्द्र-पुत्रि! तुम्हारे नवनीत-पिंडके समान गौर ललाटमें प्रतिविम्बित चन्द्र-विम्ब, कस्तूरी-रचित पत्र-रचनाके समान मृग लांछनसे पहिचाना गया।

विशेषस्तु पूर्वदेशे राजपुत्र्यादीनां गौरः पाण्डुर्वा वर्णः। एवं दक्षिणदेशेऽपि।

पूर्वदेशकी राजपुत्रियों तथा विशिष्ट व्यक्तियोंमें गौर या पाण्डु-वर्णका वर्णन करना चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण देशके राज-वंशज व्यक्तियोंके भी गौर या पाण्डु वर्णका उल्लेख विशेष रूपसे ज्ञातव्य है।

तत्र प्रथमः—"कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरः स्फारोड्डमरपुलके वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः॥"

पूर्वदेशकी राजपुत्रीके वर्णनमें गौरवर्णका उदाहरण—

हाथीदाँतके समान चिकने और चमकते हुए तथा कामोद्रेकके कारण प्रचुर रोमाञ्चयुक्त जानकीके कपोलमें, अपने मुखको बार-बार देखते हुए रामचन्द्र, रजनीचरों (राक्षसों) के कोलाहलको सुनकर जटाजूटकी ग्रंथि कसकर बाँधने लगे।[२५]

यहाँ पूर्वदेशीय मैथिलीके कपोलोंका हाथीदाँतके समान शुभ्र होना उल्लिखित है।

---

२५. देखिए—हनुमन्नाटक, ३-५०।

दक्षिण-देशकी राज-पुत्रीकी गौरता—

**द्वितीयः—"तासां माधवपत्नीनां सर्वासां चन्द्रवर्चसाम् ।
शब्दविद्येव विद्यानां मध्ये जज्वाल रुक्मिणी ॥"**

कृष्णकी चन्द्रमा-सी उज्ज्वल उन सभी पत्नियोंमें रुक्मिणी इस प्रकार चमकती थी; जिस प्रकार समस्त विद्याओंमें शब्द-विद्या ।

यहाँ दाक्षिणात्य राजपुत्री रुक्मिणीका गौरवर्ण वर्णित किया गया है ।

एवमन्यदपि यथासम्भवमभ्यूह्यम् ।

इसी प्रकार कवियोंको यथासंभव अन्यान्य कल्पनाएँ स्वयं भी कर लेनी चाहिए।

**निगदितनयविपरीतं देशविरुद्धं वदन्ति विद्वांसः ।
तत्परिहार्यं यत्नात्तदुदाहृतयस्तु दोषेषु ॥**

हमने जो देश-विभागका निर्देश किया है, उसके विपरीत तथा अन्य विद्वान् जिसे देश-विरुद्ध कहते हैं, उसका भी परित्याग करना चाहिए। क्योंकि ऐसी रचनाओंकी गणना दोषरूपमें की जाती है । अर्थात् वे दोषोंका उदाहरण बनती हैं ।

**इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम् ।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ॥**

इस प्रकार हमने केवल संकेतमात्रसे देश-विभागको सूत्ररूपेण प्रदर्शित किया है । जो इससे अधिक अध्ययन करना चाहें; वे हमारे रचित भुवनकोशका अध्ययन करें ।

इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
देशविभागः सप्तदशोऽध्यायः ॥

सप्तदश अध्याय समाप्त

अष्टादशोऽध्यायः कालविभागः

अष्टादश अध्याय : काल-विभाग[1]

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति ।
त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्त्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेतौ ।।

पन्द्रह निमेषोंकी एक काष्ठा[2], तीस काष्ठाओंकी एक कला, तीस कलाओंका एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तोंका एक अहोरात्र या दिन-रात होता है। चैत्र और आश्विन—इन दो मासोंमें रात और दिन बराबर होते हैं अर्थात् पन्द्रह मुहूर्तोंका दिन और पन्द्रह मुहूर्तोंकी रात्रि होती है।

ते च चैत्राश्वयुजमासयोर्भवतः। चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्त्तिकी दिवसवृद्धिः निशाहानिश्च त्रिमास्याः, ततः परं मौहूर्त्तिकी निशावृद्धिः दिवसहानिश्च। आश्वयुजात्परतः पुनरेतदेव विपरीतम्।

चैत्रके बाद अर्थात् वैशाखसे लेकर तीन महीनों तक प्रतिमास दिनमें एक-एक मुहूर्तकी वृद्धि होती है और रात्रिकी उतनी ही हानि होती है। उसके पश्चात् रात्रि एक-एक मुहूर्त प्रतिमास बढ़ती है और दिन घटता है। आश्विनमें दोनों—रात और दिन—समान हो जाते हैं। आश्विनके अनन्तर तीन महीनोंतक रात्रि प्रतिमास एक-एक मुहूर्त बढ़ती है और दिन उतना ही घटता जाता है। तीन महीनों बाद दिन, पुनः एक-एक मुहूर्त प्रतिमासके क्रमसे बढ़ता है और रात, उसी क्रमसे घटती है। तीसरे मास चैत्रमें पुनः दोनों बराबर हो जाते हैं।

राशितो राश्यन्तरसंक्रमणमुष्णभासो मासः, वर्षादि दक्षिणायनं, शिशिराद्युत्तरायणं, द्व्ययनः संवत्सर इति सौरं मानम्।

सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिमें जाना मास या महीना कहा जाता है। वर्षा-ऋतुसे छः मासोंतक दक्षिणायन और शिशिर-ऋतुसे छः मासोंतक उत्तरायण होता है। दो अयनोंका एक संवत्सर या वर्ष होता है। इसप्रकार यह काल-गणना सौरमानसे की गई है।

---

१. यह प्रकरण कौटिलीय अर्थशास्त्रके 'देश-काल-मान' नामक प्रकरण (२-२०-३८) से मिलता है। वायुपुराणमें भी इसी प्रकार कालमानका निर्देश है। वायुपुराण और अर्थशास्त्रके कालमानमें कुछ अन्तर है। राजशेखरका आधार वायुपुराण है। राजशेखरने प्रथम श्लोक वायुपुराणसे ही उद्धृत किया है। देखिए—वायुपुराण, अ० ५० श्लो० १६९।

२. अर्थशास्त्रके अनुसार पाँच निमेषोंकी एक काष्ठा होती है, वायुपुराणके अनुसार पन्द्रह निमेषोंकी और अमरसिंहके अनुसार अठारह निमेषोंकी एक काष्ठा होती है।

पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः। वर्द्धमानसोमः शुक्लो, वर्द्धमानकृष्णिमा कृष्ण इति पित्र्यं मासमानम्। अमुना च वेदोदितः कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्पः।

पन्द्रह दिन और रात्रिका एक पक्ष होता है। जिस पक्षमें चन्द्रमाकी वृद्धि होती है; वह शुक्लपक्ष है और जिस पक्षमें अन्धकार बढ़ता है; उसे कृष्णपक्ष कहते हैं, यह पितरोंका मास-मान है। वेदों द्वारा कही गई यज्ञ आदि समस्त क्रियाएँ इसी मानके आधारपर होतीं हैं।

पित्र्यमेव व्यत्ययितपक्षं चान्द्रमसम्। इदमार्यावर्त्तवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिताः। एवं च द्वौ पक्षौ मासः। द्वौ मासावृतुः। षण्णामृतूनां परिवर्त्तः संवत्सरः। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः, श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः। तत्र नभा नभस्यश्च वर्षाः, इष ऊर्जश्च शरत्, सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपस्तपस्यश्च शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः।

पितरोंके मासमें पक्षका व्यत्यय करनेसे अर्थात् पहिला कृष्ण और दूसरा शुक्ल पक्ष माननेसे चान्द्रमास बनता है। आर्यावर्त-निवासी और कविजन इसी चान्द्र-मासको अपना आधार मानते हैं। इस प्रकार कृष्ण और शुक्ल—इन दो पक्षोंका एक मास कहा जाता है और दो-दो मासकी एक-एक ऋतु और छः ऋतुओंका एक चान्द्र संवत्सर कहा जाता है। ज्योतिष शास्त्रवेत्ता चैत्र माससे संवत्सरका प्रारम्भ मानते हैं और लौकिकव्यवहारवाले श्रावणसे। इस प्रकार श्रावण और भाद्र वर्षा, आश्विन और कार्तिक शरद्, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त, माघ और फाल्गुन शिशिर, चैत्र और वैशाख वसन्त तथा ज्येष्ठ और आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु होती है।

तत्र "वर्षासु पूर्वो वायुः" इति कवयः। "पाश्चात्यः, पौरस्त्यस्तु प्रतिहन्ता" इत्याचार्याः।

तदाहुः—"पुरोवाता हता प्रावृट् पश्चाद्वाता हता शरत्" इति।

इनमें, 'वर्षा-ऋतुमें पूर्वदिशाकी वायु चलती है'—ऐसा कवियोंका मत है। आचार्योंका कथन है कि 'पश्चिम-वायु, वर्षा ऋतुकी वायु है और पूर्वी वायु उसकी विरोधिनी है'। कहा है—

'पूर्वीय वायु वर्षाकी घातक और पश्चिमीय वायु शरत् ऋतुकी विरोधी है। और भी कहा गया है—

तदाहुः—"प्रावृष्यम्भो[३]भृताम्भोदभरनिर्भरमम्बरम्।
कदम्बकुसुमामोदा वायवो वान्ति वारुणाः॥"

---

३. 'अम्भोभृत्-अम्भोद' ये पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं; किन्तु यहाँ अम्भोभृत् शब्द अम्भोदका विशेषण है। अर्थात् 'जलसे भरे हुए अम्भोद' (मेघ)।

वर्षाकालमें आकाश मेघ-पटलोंसे भर जाता है और कदम्ब-कुसुमोंसे सुगन्धित वारुण (पश्चिमीय) वायु बहती है।[४]

"वस्तुवृत्तिरतन्त्रं, कविसमयः प्रमाणम्" इति यायावरीयः ।

यायावरीय-राजशेखरका मत है कि 'यहाँ वास्तविक स्थितिको प्रमाण नहीं माना जा सकता। काव्य-वर्णनमें कवि-समय ही प्रमाण है'। अतः वर्षा-ऋतुमें पूर्वी वायुका वर्णन ही कवि-समयके अनुसार है। जैसा कि महाकवि मयूरके सूर्यशतकका उदाहरण है—

तदाहुः—"पौरस्त्यस्तोयदर्त्तोः पवन इव पतत्पावकस्येव धूमो
विश्वस्येवादिसर्गः प्रणव इव परं पावनं[५] वेदराशेः ।
सन्ध्यानृत्तोत्सवेच्छोरिव मदनरिपोर्नन्दिनान्दीनिनादः
सौरस्याऽग्रे सुखं वो वितरतु विनतानन्दनः स्यन्दनस्य ॥"

जैसे वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें पूर्वीय वायु, अग्निके प्रारम्भमें धूम, विश्वकी प्रथम सृष्टि (वेद-राशिके) प्रारम्भमें परम-पावन प्रणव और शिवके सन्ध्याकालीन ताण्डव-नृत्यके पहले नन्दिगणका मंगल-पाठ होता है, उसी प्रकार सूर्यके रथके आगमनके प्रारम्भमें दर्शन देनेवाले विनतानन्दन (अरुण) आपका कल्याण करें।

यहाँ कवि-समयके अनुसार वर्षाकालमें पूर्वीय वायुका वर्णन किया गया है।

शरद्यनियतदिक्को वायुर्यथा—

"उषःसु ववुराकृष्टजडावश्यायशीकराः ।
शेफालीकलिकाकोशकषायामोदिनोऽनिलाः ॥"

शरद् ऋतुमें वायुकी दिशा निश्चित नहीं है। उदाहरण—

शरद् ऋतुके उषःकालमें, ओसके शीतल कणोंको वहन करती हुई और शेफालिकाके कलिका-कोषका सम्पर्क होनेके कारण कसैली वायु बहती थी।

यहाँ किसी दिशाका उल्लेख नहीं किया गया है।

"हेमन्ते पाश्चात्यो वायुः" इति एके। "उदीच्य" इति अपरे। "उभयमपि" इति यायावरीयः। तयोः पाश्चात्यः—

कुछ लोगोंका मत है 'कि हेमन्त-ऋतुमें पश्चिम वायु चलती है'। दूसरोंका मत है कि 'उत्तर वायु चलती है'। यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'दोनों दिशा-

---

४. पश्चिम दिशाका स्वामी वरुण है, अतः उसे वारुणी कहा जाता है। वारुणी दिशाके वायुका नाम वारुण है।

५. देखिए—मयूरकवि : सूर्यशतक, ९५ श्लो०, सूर्यशतकमें 'पावनं'के स्थान पर 'पावनः' पाठ है।

ओंकी वायु हेमन्तमें बहती है'। प्राचीन-काव्योंमें दोनोंके उदाहरण मिलते हैं।

"भञ्जन्भूर्जद्रुमालीस्तुहिनगिरितटेषूद्गतास्त्वक्कराला:
रेवाम्भःस्थूलवीचीचयचकितचलच्चातकान् व्याधुनानः।
पाश्चात्यो वाति वेगाद्द्रुततुहिनशिलाशीकरासारवर्षी
मातङ्गक्षुण्णसान्द्रस्रुतसरलतरत्सारसारी समीरः ॥"

उनमें पाश्चात्य-वायुका उदाहरण—

हिमालयके तटोंमें उत्पन्न और कठिन त्वचाओंवाली भूर्ज-वृक्षोंकी पंक्तियोंको भंग करती हुई, रेवा[६] नदीकी उत्ताल तरंगोंमें चकित एवं चंचल चातकोंको हिलोरें देती हुई, पिघलते हुए हिमके नन्हे-नन्हें कणोंको बरसाती हुई और हाथियोंके खुजलानेसे छिले हुए देवदारु वृक्षोंसे द्रुत घनरस से सुरभित, पश्चिम दिशाकी वायु, वेगसे बह रही है।

उदीच्यः—"लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनां रल्लकांल्लासयन्तः
चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाण्डैकचण्डाः।
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभयो वल्लभा वाल्हवीनां
कौलूतीकेलिकाराः परिचयितहिमं वायवो वान्त्युदीच्याः ॥"

इसीप्रकार उत्तरीय वायुका वर्णन—

लम्पाकदेशकी सुन्दरियोंकी केश-रचनाको बिखेरती हुई, रल्लक-मृगोंको आनन्दपूर्वक नचाती हुई, चन्द्रभागा नदीके शीतल जलका चुम्बन करती हुई, भूर्ज-वृक्षोंकी शाखाओंको मर्मर ध्वनिके साथ भंग करती हुई, कस्तूरी-मृगोंके आलिंगनसे सुरभित, वल्हव देशकी रमणियोंकी प्यारी और कुलूत (कुलू) कामिनियोंसे क्रीड़ा करती हुई उत्तर दिशाकी वायु बह रही है।[७]

शिशिरेऽपि हेमन्तवदुदीच्यः पाश्चात्यो वा। वसन्ते दक्षिणः। तदुक्तम्—

---

६. 'रेवा', विन्ध्यसे निकलनेवाली दक्षिणकी प्रसिद्ध नर्मदा नदीका नाम है। इस पद्यमें उत्तर दिशामें रेवाका नाम लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'रेवा' नदी प्रसिद्ध नर्मदासे भिन्न, हिमालयसे निकलनेवाली कोई अन्य नदी है।

७. देखिए—राजशेखर : बालरामायण नाटक,५- ३५। बालरामायणमें 'हैमना वान्ति वाताः' ऐसा पाठ है। इस श्लोकमें वर्णित लिम्पाक, बल्हव, कुलूत–आदि देशोंका उत्तर भारतमें उल्लेख किया गया है। देखिए—काव्यमीमांसा, १७ अध्याय।

शिशिर ऋतुमें भी कविको हेमन्तके समान उत्तर या पश्चिम दिशाकी वायुका वर्णन करना चाहिए। वसन्त ऋतुमें दक्षिण दिशाकी वायुका वर्णन किया जाता है। जैसे—

"धुन्वंल्लङ्कावनालीर्मुहुरलकलता लासयन्केरलीना-
मन्ध्रीधम्मिल्लबन्धान्सपदि शिथिलयन्वेल्लयन्नागवल्लीः।
उद्दामं दाक्षिणात्यो मलितमलयजः[८] सारथिर्मीनकेतोः
प्राप्तः सीमन्तिनीनां मधुसमयसुहृन्मानचौरः समीरः॥"

लंका नगरीकी उद्यान-पंक्तियोंको हिलाती-डुलाती, केरल-कामिनियोंकी अलक-लताओंको नचाती, आन्ध्र-रमणियोंके केश-बन्धनोंको शिथिल करती, नागवल्ली (पान) की लताओंको चंचल करती, कामदेवके विजय-यानकी सूचक, महिलाओंका मान-मर्दन करती और वसन्त ऋतुकी अभिन्नमित्र, दक्षिणदिशाकी वायु बहने लगी।

"अनियतदिको वायुर्ग्रीष्मे"इत्येके। "नैर्ऋतः" इत्यपरे। "उभयमपि" इति यायावरीयः। तत्र प्रथमः—

'ग्रीष्म ऋतुमें वायुकी दिशा निश्चित नहीं रहती'—ऐसा कुछ लोगोंका मत है। कुछ लोग कहते हैं कि 'नैऋत्य दिशाकी वायुका वर्णन करना उचित है'। यायावरीय राजशेखरका मत है कि 'दोनों ही ठीक है'। इनमें अनिश्चित दिशाका उदाहरण—

"वात्याचक्रकचुम्बिताम्बरभुवः स्थूला रजोदण्डकाः
संग्रथ्नन्ति भविष्यदभ्रपटलस्थूणावितर्कं नभः।
किं चान्यन्मृगतृष्णिकाम्बुविसरैः पात्राणि वीतार्णसां
सिन्धूनामिह सूत्रयन्ति दिवसेष्वागामिनीं सम्पदम्॥"

ग्रीष्मकालमें, वायुके भ्रमण (चक्कर)से आकाश और पृथ्वीके मध्य स्वाभाविक रूपसे बननेवाले धूलोंके विशालखम्भे, आकाशमें शीघ्र आनेवाले मेघोंके झुण्डका भ्रम उत्पन्न करते हैं और जल-रहित (सूखी) नदियोंके पाट, मृग-मरीचिकाका विस्तार करते हुए निकट भविष्यमें आनेवाली जल-सम्पत्तिकी सूचना दे रहे हैं।

यहाँ किसी दिशाका उल्लेख नहीं किया गया है।

द्वितीयः—"सोऽयं करैस्तपति वह्निमयैरिवार्कः
साङ्गारविस्तरभरेव धरा समग्रा।
वायुः[९] कुकूलमिव वर्षति नैर्ऋतश्च
कार्शानवैरिव[१०] शरैर्मदनश्च हन्ति॥"

---

८. मूलप्रतिके 'मिलित-मलयजः' पाठसे 'मलित-मलयजः' यह पाठ उत्तम है।

९. कुकूलम्—तुष या भूसेकी अग्नि। १०. कार्शानव—अग्निसे निर्मित, अग्निमय।

नैऋत्य-दिशाकी वायुका उदाहरण—

सूर्य, अग्निमय किरणोंसे पृथ्वीको तपा रहा है। सम्पूर्ण पृथ्वी, जलते हुए अँगारोंसे भरी हुई-सी प्रतीत होती है। नैऋत्य-दिशाकी वायु, मानों तुषानलकी आग बरसा रही है और कामदेव, अग्निमय बाणोंसे संसारको भस्म-सा कर रहा है।

अब किस-किस ऋतुमें कविको किन-किन विषयोंका वर्णन करना चाहिए—यह निर्देश किया जाता है। जिसमें सर्वप्रथम वर्षाऋतुके वर्णनीय विषयोंका संग्रह किया गया है।

किञ्च—"गर्भान्बलाकासु निवेशयन्तः वंशाङ्कुरान्स्वैर्निनदैः सृजन्तः।
रजोऽम्बुदाः प्रावृषि मुद्रयन्तो यात्रोद्यमं भूमिभृतां हरन्ति॥

वर्षाऋतुमें मेघ, बगुलियोंको गर्भ धारण कराते हुए, अपनी गर्जनासे बाँसोंकी नई कोपलोंको उगाते हुए और आकाशमें व्याप्त धूलको मिटाते हुए, राजाओंके यात्रा-प्रसंगको स्थगित कर देते हैं।

ऐसा प्राकृतिक नियम है कि वर्षाकालमें बगुलियाँ पंक्ति-बद्ध होकर आकाशमें उड़ती हैं और मेघोंकी गर्जना द्वारा अ-मैथुन गर्भधारण करती हैं[११]। इसी प्रकार बाँसके कोंपल बादलोंकी गड़गड़ाहटसे भूमिको फोड़कर बाहर निकल आते हैं। वर्षाकालमें नदी-नालोंके बढ़ जाने, अधिक कीचड़ हो जाने तथा अन्यान्य अनेक असुविधाओंके कारण विजययात्री राजा अपनी यात्राएँ स्थगित करके एक ही स्थानमें रह जाते हैं।

स सल्लकीसालशिलीन्ध्रयूथीप्रसूनदः पुष्पितलाङ्गलीकः।
दग्धोर्वरासुन्दरगन्धबन्धुरर्घत्ययं वारिमुचामनेहा॥

वर्षाकालमें, सल्लकी, साल, शिलन्ध्र और जूहीके वृक्षोंमें नवीन पत्ते एवं पुष्प उत्पन्न होते हैं। लांगली (कलियारी) में पुष्प लगते हैं। सूर्यकी अंगारमय किरणोंसे तपी हुई भूमिपर वर्षाका प्रथम जल गिरनेसे उससे मनोहर गंध निकलने लगती है। इन कारणोंसे वर्षाके दिन अत्यन्त सुहावने लगते हैं।

वनानि नीलीदलमेचकानि धाराम्बुधौता गिरयः स्फुरन्ति।
पूराम्भसा भिन्नतटास्तटिन्यः सान्द्रेन्द्रगोपानि च शाद्वलानि॥

इन दिनों जंगल, नीलीके पत्तोंसे नील वर्णके दीखते हैं। जल-धारासे धुले हुए पर्वत, बड़े ही सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होते हैं। नदियाँ, प्रवाहके वेगसे तटोंको तोड़ती-फोड़ती हुई बहती हैं। हरी घासोंके स्थल, चिकनी एवं रक्तवर्ण वीरबहूटियोंके कारण अनुपम शोभा धारण करते हैं।

---

११. वर्षाकालमें बगुलियाँ मेघके संयोगसे गर्भ-धारण करती हैं—यह प्राकृतिक नियम है। कर्णोदयमें लिखा है—'गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्'। कालिदासने भी लिखा है—'गर्भाधानक्षणपरिचयान् नूनमाबद्धमालाः, सेविष्यन्ते नयन-सुभगं खे भवन्तं बलाकाः' ।—मेघदूत, १-९.

चकोरहर्षी यतिचारचौरो वियोगिनीवीक्षितनाथवर्त्मा।
गृहान्प्रति प्रस्थितपान्थसार्थः कालोऽयमाध्मातनभाः पयोदैः॥

यह वर्षाकाल, चकोरोंको[१२] हर्षित करनेवाला, यतियों और संन्यासियोंके प्रचारको रोकनेवाला है[१३]। इस कालमें वियोगिनी रमणियाँ, अपने प्रवासी पतियोंके आगमनकी प्रतीक्षा करती हैं। पथिकोंके झुण्ड, अपने-अपने घरोंमें पहुँचनेके लिए व्याकुलता-पूर्वक प्रयत्न करते हैं और आकाश, मेघोंसे निरन्तर गरजता रहता है।

या केलियात्रा करिकामिनीभिर्या तुङ्गहर्म्याग्रविलासशय्या।
चतुःसमं यन्मृगनाभिगर्भं सा वारिदर्त्तोः प्रथमातिथेयी॥

इस कालमें, सैर-सपाटेकेलिए हथिनियोंकी सवारी उपयुक्त होती है[१४]। ऊँचे-ऊँचे भवनोंकी अट्टालिकाओंमें बने चौबारोंमें विलासिनियोंकी शयन-शय्या बिछ जाती है और कस्तूरीसे मिले चतुःसमके[१५] सेवनके लिए भी यह उपयुक्त समय है।

चलच्चटुलचातकः कृतकुरङ्गरागोदयः
सदर्दुररवोद्यमो मदभरप्रगल्भोरगः।
शिखण्डिकुलताण्डवामुदितमद्गुकङ्काह्वयो
वियोगिषु घनागमः स्मरविषं विषं मुञ्चति॥

वनोंमें, चारों ओर चलते हुए चपल चातक दीखते हैं, हरिणोंमें प्रेमका उदय होने लगता है, मेढकोंके शब्द चारों ओर सुन पड़ते हैं, सर्प मदोन्मत्त होकर विचरण करते हैं, मोरोंके झुण्ड नृत्य करते हैं और जल-चर पक्षी प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु यह घनोंका आगमन, वियोगियोंके हृदयमें काम-विषको उत्पन्न करनेवाले विष[१६] (जल) की वर्षा करता है।

---

१२. यद्यपि राजशेखरने यहाँ 'चकोरहर्षी' ऐसा पाठ लिखा है; किन्तु वास्तवमें 'मयूरहर्षी' पाठ होना चाहिए। चन्द्रिका-पान करके हर्षित होनेवाला चकोर शरदृतुमें हर्षित हो सकता है। यहाँ वर्षा-ऋतुके प्रकरणमें मयूरका हर्षित होना उचित है।

१३. यतियों और संन्यासियोंको वर्षाकालमें एक ही स्थानपर निवास करना चाहिए—यह शास्त्रीय नियम आज भी उनमें प्रचलित है।

१४. कीचड़ और छोटे-छोटे नदी-नालोंके कारण वर्षाकालमें हाथीकी ऊँची और सुदृढ सवारी यातायातके अनुकूल होती है। किसी पुस्तकमें 'किल कामिनीभिः' ऐसा पाठ है।

१५. 'चतुःसम' यह आयुर्वेदका पारिभाषिक शब्द है। केसर, कस्तूरी, चन्दन और कपूर—इन चारोंके समभाग सुगन्धित चूर्णका नाम 'चतुःसम' है।

१६. यहाँ दूसरे 'विष' शब्दका अर्थ जल है, देखिए—वैदिक निघण्टु।

दलत्कुटजकुड्मलः स्फुटितनीपपुष्पोत्करो
धवप्रसवबान्धवः प्रचितमञ्जरीकार्जुनः ।
कदम्बकलुषाम्बरः कलितकेतकीकोरक-
श्चलन्निचुलसञ्चयो हरति हन्त घर्मात्ययः ॥ वर्षाः ॥

वर्षाकालमें, कुटज-कुसुमोंकी कलियाँ खिल उठती हैं, कदम्बके पुष्पसमूह फूट पड़ते हैं, उनमें केसर उगने लगते हैं, धव (धाय) के पुष्प यौवन प्राप्त करते हैं, अर्जुनके वृक्ष नवीन मंजरियोंसे भर जाते हैं, कदम्बोंसे आकाश कलुषित हो जाता है, केतकीमें कलियाँ फूटने लगती हैं और बेंत जल-प्रवाहसे निरन्तर हिलते रहते हैं।

द्रागगर्जयन्ती विमदान्मयूरान्प्रगल्भयन्ती कुररद्विरेफान् ।
शरत्समभ्येति विकाश्य पद्मानुन्मीलयन्ती कुमुदोत्पलानि ॥

शरद् ऋतुके वर्णनीय विषय –

शरद-ऋतु, मद-रहित मयूरोंको गरजती हुई, कुररों (टिटिहरों) और भ्रमरोंको उन्मत्त करती हुई तथा कमलों, कुमुदों (श्वेतकोंई) और उत्पलोंको विकसित करती हुई आती है।

सा भाति पुष्पाणि निवेशयन्ती बन्धूकबाणासनकुङ्कुमेषु ।
शेफालिकासप्तपलाशकाशभाण्डीरसौगन्धिकमालतीषु ॥

शरद्ऋतुमें, बन्धूक (अड़हुल), बाण, असन (पीतशाल), केसर (मौलसिरी), शेफालिका (सिन्दुवार), सप्तपर्ण (छतिवन), कास, भांडीर (चम्पा), सौगंधिक (श्वेतकमल) और मालती—इन वृक्षोंमें पुष्प-प्रसव होने लगता है।

सखञ्जरीटा सपयःप्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति ।
कादम्बकारण्डवचक्रवाकससारसक्रौञ्चकुलानुयाता ॥

इस मनोहर शरद् ऋतुमें, खंजन पक्षियोंके दर्शन होते हैं; नदी, नद, झील, ताल, सरोवर आदिके जल स्वच्छ और मधुर हो जाते हैं एवं इन स्वच्छ जलाशयोंके तटोंपर हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, क्रौंच आदि जलचर पक्षी विहार करते हैं।

उपानयन्ती कलहंसयूथमगस्त्यदृष्ट्या पुनती पयांसि ।
मुक्तासु शुभ्रं दधती च गर्भं शरद्विचित्रैश्चरितैश्चकास्ति ॥

शरद्ऋतु, अपने विचित्र चरित्रोंसे चित्तको आनन्दित कर देती है; क्योंकि इसमें कलहंसोंके झुण्ड मानसरोवरसे लौटकर अपने-अपने निवासों (जलाशयों) में आ जाते हैं, अगस्त्यके उदयसे सम्पूर्ण जलाशयोंके जल स्वच्छ हो जाते हैं और स्वातीकी बूँदोंसे सीपियाँ मोतियोंका गर्भ धारण करती हैं।

क्षितिं खनन्तो वृषभाः खुराग्रै रोधो विषाणैर्द्विरदा रदन्तः ।
शृङ्गं त्यजन्तो रुरवश्च जीर्णं कुर्वन्ति लोकानवलोकनोत्कान् ॥

इस ऋतुमें, खुरोंसे पृथ्वीको कुरेदते हुए मदोन्मत साँड़, दाँतोंसे नदी-तटोंको उखाड़ते हुए मस्त हाथी और पुराने सींगोंको गिराते हुए रुरु-मृग, जनताकी उत्सुकता और कौतूहलको बढ़ाते हैं ।

अत्रावदातद्युति चन्द्रिकाम्बु नीलावभासं च नभः समन्तात् ।
सुरेभवीथीदिवसावतारो जीर्णाभ्रखण्डानि च पाण्डुराणि ॥

इस ऋतुमें, अमल-धवल चन्द्रिका, स्वच्छ और सान्द्र नील आकाश, रातके समय भी दिनके समान चमकती हुई आकाश-गंगामें नक्षत्रोंका दृश्य और नील नभमें इधर-उधर घूमते हुए निर्जल एवं श्वेत अभ्र-खण्ड (बादलोंके टुकड़े), सुन्दर दृश्य उपस्थित करते हैं ।

महानवम्यां निखिलास्त्रपूजा नीराजना वाजिभटद्विपानाम् ।
दीपालिकायां विविधा विलासा यात्रोन्मुखैरत्र नृपैर्विधेयाः ॥

महानवमी (विजय दशमीके) दिन विजययात्री राजाओंके द्वारा होनेवाला सम्पूर्ण अस्त्रोंका पूजन, हाथियों, घोड़ों और सैनिकोंकी मनोहारिणी सजावट, दीपावलीमें दीपोंकी मालाएँ तथा विविध हास-विलास आदि दृश्य अनुपम शोभा धारण करते हैं[१७] ।

व्योम्नि तारतरतारकोत्करः स्यन्दनप्रचरणक्षमा मही ।
भास्करः शरदि दीप्रदीधितिर्बुध्यते च सह माधवः सुरैः ॥

अनन्त आकाशमें विशद और ऊँचे नक्षत्रोंके समूह, रथों तथा अन्यान्य यानोंके चलने योग्य पंक-हीन पृथ्वी, तीक्ष्णतर किरणोंसे चमकता हुआ भगवान् भास्कर और हरिप्रबोधिनी एकादशीके दिन देवताओंके साथ भगवान् माधवका जागरण—शरद् ऋतुके स्पृहणीय दृश्य हैं[१८] ।

केदार एव कलमाः परिणामरम्याः
प्राचीनमामलकमर्घति पाकनीलम् ।
एर्वारुकं स्फुटननिर्गतगर्भगन्ध-
मम्लीभवन्ति च जरत्त्रपुसीफलानि ॥

---

१७. इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी शारद नवरात्र (दुर्गापूजा) विजयादशमी और दीपावलीके उत्सव आजकलके समान ही प्रचलित थे । महानवमीका तात्पर्य सम्भवतः विजयादशमीसे हो ।

१८. इसका तात्पर्य कार्तिकशुक्ला हरिप्रबोधनी एकादशीसे है । इस दिन देवोत्थानके उत्सव आज भी मनाए जाते हैं ।

शरद् ऋतुमें, पककर पीले कलम-धान, खेतोंमें बड़े ही रमणीय प्रतीत होते हैं। पककर नीलेसे प्रतीत होते हुए आमले, वृक्षोंमें लटकते हुए बड़े सुहावने लगते हैं, फूट-ककड़ी, पककर फूट जानेके कारण सुन्दर सुगन्धि देती है और जीर्ण इमलीके फल भी पक कर खट्टे हो जाते हैं।

गेहाजिरेषु नवशालिकणावपात-
गन्धानुभावसुभगेषु कृषीवलानाम् ।
आनन्दयन्ति मुसलोल्लसनावधूत-
पाणिस्खलद्वलयपद्धतयो वधूट्यः ॥

खेतोंसे काटकर लाए गए नवीन शाली (धान) के कणोंकी सुगन्धिसे सुरभित ग्रामीण घरोंके आँगन, इनदिनों आनन्दके आगार बन जाते हैं; क्योंकि नवीन धानोंको कूटती हुई ग्राम-बधुओंके हस्त-कंकण, मूसल चलानेके कारण मनोहर शब्द करते रहते हैं।

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पङ्कम् ॥

शरद् ऋतुमें, सूर्य, उसी प्रकार तीक्ष्ण रूपसे तपता है; जिस प्रकार नीच व्यक्ति भाग्यवश कुछ ही दिनोंमें धनी बनकर तपने लगता है। रुरु-मृग, अपनी सींगोंको इस प्रकार छोड़ देता है; जैसे अकृतज्ञ या कृतघ्न व्यक्ति काम निकल जाने पर मित्रको छोड़ देता है। जल, मुनिकी चित्त-वृत्तिके समान निर्मल-स्वच्छ हो जाता है और कीचड़, इस प्रकार सूख जाता है; जैसे दरिद्र कामी चिन्तासे सूख जाता है।[१९]

नद्यो वहन्ति कुटिलक्रमयुक्तशुक्ति-
रेखाङ्कबालपुलिनोदरसुप्तकूर्माः ।
अस्यां तरङ्गिततनुतोयपलायमान-
मीनानुसारिबकदन्तकरालकालाः ॥

शरद् ऋतुमें, छोटी नदियोंमें जल कम हो जाता है, उनके बालुकामय तट निकल आते हैं, उनपर सीपियोंकी छापसे टेढ़ी-तिरछी रेखाएँ दीखती हैं, जिनपर जलसे बाहर निकलकर कछुए विश्राम करते हैं और लहराते हुए निर्मल जलमें दौड़ती हुई मछलियोंका पीछा करते हुए बगुले, उनपर दन्त-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए दीखते हैं[२०]।

---

१९. शार्ङ्गधर पद्धतिमें, यह पद्य भासके नामसे उद्धृत है।

२०. सुभाषितावलीमें यह पद्य कालिदासके नामसे उद्धृत किया गया है।

अपङ्किलतटावटः शफरफाण्टफालोज्ज्वलः
पतत्कुररकातरभ्रमदभ्रमीनार्भकः ।
लुठत्कमठसैकतश्चलबकोटवाचाटितः
सरित्सलिलसंचयः शरदि मेदुरः सीदति ॥" शरत् ॥

शरद्-ऋतुमें, छोटी-छोटी नदियोंके स्वच्छ और घने जलकी शोभा देखते ही बनती है, तटोंका कीचड़ सूख जाता है, छोटी-छोटी मछलियोंकी क्रीडाएँ उस उज्ज्वल जलमें भली मालूम देती हैं, कहीं झपटते हुए कुरर-पक्षियोंके आक्रमणके भयसे मछलियोंके छोटे-छोटे बच्चे भागते दीखते हैं, कहीं-कहीं जलकी कमीसे तटोंपर चलते हुए कछुओंके दृश्य दीखते हैं और कहीं बगुले चिल्लाहट मचाते हैं।

"द्वित्रिमुचुकुन्दकलिकस्त्रिचतुरमुकुलः क्रमेण लवलीषु ।
पञ्चषफलिनीकुसुमो जयति हिमर्त्तुर्नवावतरः ॥

हेमन्तके वर्णनीय विषय—

हेमन्त ऋतुके आगमन पर मुचकुन्दके वृक्षोंमें दो-तीन कलियाँ दीखने लगतीं हैं, लवली (हरफारेवड़ी) के वृक्षोंमें भी तीन-चार कलियाँ आ जाती हैं, और प्रियंगुलतामें भी पाँच-छः फूलोंका उद्गम हो जाता है।

पुन्नागरोध्रप्रसवावतंसा वामभ्रुवः कञ्चुककुञ्चिताङ्ग्यः ।
वक्त्रोल्लसत्कुङ्कुमसिक्थकाङ्काः सुगन्धतैलाः कबरीर्वहन्ति ॥

हेमन्तके दिनोंमें, नागकेसर और लोध्रके वृक्षोंमें पुष्प-प्रसव होने लगता है, स्त्रियाँ अंगों (छाती) को चोलीसे कस लेती हैं एवं मुखपर केसरका लेप और केशोंमें सुगन्धित तैल लगाती हैं।

यथा यथा पुष्यति शीतकालस्तुषारचूर्णोत्करकीर्णवातः ।
तथा तथा यौवनशालिनीनां कवोष्णतामत्र कुचा लभन्ते ॥

वायु, ओसके कणोंको बिखेरकर, जैसे-जैसे शीतको बढ़ाती है; वैसे-ही-वैसे युवतियोंके कुचोंमें ऊष्मा बढ़ने लगती है।

वराहवध्राणि नवोदनानि दधीनि सन्नद्धशराणि चाऽत्र ।
सुकोमलाः सर्षपकन्दलीश्च भुक्त्वा जनो निन्दति वैद्यविद्याम् ॥

इन दिनों वन-शूकरोंका माँस, नए चावल, सघन मलाईवाला दही और सरसोंके कोमल डंठलोंका साग खाकर, जनता, वैद्य-विद्याकी निन्दा करती हैं। अर्थात् ये गुरु और वायु-कारक पदार्थ शीत-कालमें सुपच और स्वास्थ्य-कारक होते हैं।

अत्रोपचारः सलिलैः कवोष्णैर्यत्किञ्चिदत्र स्वदतेऽन्नपानम् ।
सुदुर्भगामत्र निपीड्य शेते स्वस्त्यस्तु नित्यं तुहिनर्त्तवेऽस्मै ॥

इन दिनों स्नान, पान और भोजन गुन-गुना रहनेसे आकर्षक और स्वाद लगता है। इस कालमें अयोग्य या उपेक्षित रमणियोंकी भी चाह बढ़ जाती है। अतः ऐसे शीतकालका कल्याण हो।

विमुक्तबर्हा विमदा मयूराः प्ररूढगोधूमयवा च सीमा।
व्याघ्रीप्रसूतिः सलिलं सबाष्पं हेमन्तलिङ्गानि जयन्त्यमूनि॥

हेमन्तमें मयूर मद-रहित हो जाते हैं और उनके पँख झड़ जाते हैं, गाँवोंकी सीमाओंमें गेहूँ और जौके लहलहाते खेत सुन्दर दीखते हैं, बाघिन, बच्चोंका प्रसव करती है और प्रातःकाल सभी ओर पानीसे उठता हुआ वाष्प दीख पड़ता है—ये हेमन्तके विशेष चिह्न हैं।

सशमीधान्यपाकानि क्षेत्राण्यत्र जयन्ति च।
त्रिशङ्कुतिलका रात्र्यः पच्यन्ते लवणानि च॥

इस ऋतुमें, खेतोंमें मटर, उरद, मूँग आदि छीमी वाले धान्य दीखते हैं। इसी समय आकाशमें त्रिशङ्कु नामका तारा भी दिखता है और इन्हीं दिनों नमक पकता है[२१]।

उद्यानानां मूकपुंस्कोकिलत्वं भृङ्गस्त्रीणां मौनमुद्रा मुखेषु।
मन्दोद्योगा पत्रिणां व्योमयात्रा हेमन्ते स्यात्सर्पदर्पक्षयश्च॥

उद्यानोंमें, कोयलें मूक हो जाती हैं, भृंग-रमणियोंके मुखमें भी मौन-मुद्रा दीखती हैं, आकाश-यात्रामें पक्षियोंका उत्साह क्षीण हो जाता है और सर्पोंका भी दर्प-क्षय हो जाता है।

कर्कन्धूनां नागरङ्गीफलानां पाकोद्रेकः खाण्डवोऽप्याविरस्ति।
कृष्णेक्षूणां पुण्ड्रकाणां च गर्भे माधुर्ये श्रीर्जायते चाप्यपूर्वा॥

बेर तथा नारंगी आदि फलोंका पकना प्रारम्भ हो जाता है और मिठास उत्पन्न होती है तथा काले एवं मोटे ऊखोंके रसमें अद्भुत एवं अपूर्व मधुरताका आविर्भाव हो जाता है।

येषां मध्येमन्दिरं तल्पसम्पत् पार्श्वे दाराः स्फारतारुण्यताराः।
लीलावह्निर्निह्नुतोद्दामधूमस्ते हेमन्तं ग्रीष्मशेषं विदन्ति॥" इति हेमन्तः।

घरोंके भीतरी शयन-कक्षोंमें गद्दे आदि आवश्यक साधनोंसे सजे हुए पलंग, बगलमें उभरते हुए यौवनसे मदमत्त सुन्दरियाँ और धूम-रहित अंगारोंसे भरी हुई अँगीठियाँ--ये सम्पत्ति जिन्हें सुलभ हैं; वे इस हेमन्त ऋतुको ग्रीष्मका अंतिम या शेष भाग समझते हैं।

---

२१. विश्वामित्रके प्रभावसे आकाशमें लटकता हुआ त्रिशङ्कु-तारा इन्हीं रात्रियोंमें दीखता है। अयोध्याके राजा त्रिशङ्कुकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

हेमन्तधर्मा शिशिरः[२१] । विशेषस्तु ।

शिशिर ऋतुके वर्णनीय विषय वे ही हैं; जो हेमन्त के हैं। कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं—

"रात्रिर्विचित्रसुरतोचितयामदैर्घ्या
चण्डो मरुद्दहति कुङ्कुमपङ्कसाध्यः ।
तल्पस्थितिर्द्विगुणतूलपटा किमन्य-
दर्घन्ति चात्र विततागुरुधूपधूमाः ॥

शिशिर ऋतुकी रातें, लम्बी होनेके कारण विविध विलास-केलियोंके लिए परम उपयुक्त होती हैं। इन दिनों प्रचण्डवायुसे उत्पन्न शीतके लिए केसर, कस्तूरी आदिका सेवन समुचित होता है, ओढ़नेके लिए दूनी रुईके बने वस्त्रोंकी आवश्यकता होती है और अगरके धूप-धूमसे भवन और गर्भगृह (कमरे या कोठरियाँ) उष्ण किए जाते हैं।

आश्लेषिणः पृथुरतक्लमपीतशीत-
मायामिनीं घनमुदो रजनीं युवानः ।
ऊर्वोर्मुहुर्वलनबन्धनसंधिलोल-
पादान्तसंवलिततूलपटाः स्वपन्ति ॥

शिशिरकी लम्बी रातोंमें, रति-क्रीड़ाकी श्रान्तिसे कठिन शीत पर विजय प्राप्त करनेवाले युवक, वनिताओंका आलिंगन किए हुए और करवटोंके बदलनेसे सिलाईके शिथिल हो जानेके कारण एकत्रित रुईवाली रजाईको पैरोंसे दबाए हुए सोते हैं।

पानेऽम्भसोः सुरसनीरसयोर्न भाति
स्पर्शक्रियासु तुहिनानलयोर्न चात्र ।
नो दुर्भगासुभगयोः परिरम्भणे च
नो सेवने च शशिभास्करयोर्विशेषः ॥

इस ऋतुमें, अतिशीतलताके कारण पानी पीनेमें, सरसता और नीरसताकी प्रतीति नहीं होती, हिम (बरफ) और अग्निके स्पर्शमें, गरम तथा ठंढेका भेद नहीं होता, आलिंगनमें, सुन्दरी एवं असुन्दरीके भेदकी प्रतीति नहीं होती तथा सेवन करनेमें, सूर्य और चन्द्रका भेद भी प्रतीत नहीं होता।

पुष्पक्रिया मरुबके जलकेलिनिन्दा
कुन्दान्यशेषकुसुमेषु धुरि स्थितानि ।

---

२१. यहाँ हस्तलिपिमें 'हेमन्तधर्मः'—यह पाठ अशुद्ध है। व्याकरणके अनुसार 'हेमन्तधर्मा' पाठ शुद्ध है।

सौभाग्यमेणतिलकाङ्कजतेऽर्कबिम्बं
काले तुषारिणि दहन्ति च चन्दनानि ॥

दौने और मरुएके पौधोंमें पुष्प उगने लगते हैं, जलक्रीडाका कोई नाम भी नहीं लेता, सभी पुष्पोंमें; कुन्दके पुष्पोंकी बाढ़-सी आजाती है, मस्तकपर लगे कस्तूरीके तिलकमें प्रतिबिम्बित सूर्य, सुहावना प्रतीत होता है और इस कालमें चन्दनका लेप शरीरको दग्ध करता है।

सिद्धार्थयष्टिषु[२२] यथोत्तरहीयमान-
सन्तानभिन्नघनसूचिपरम्परासु।
द्वित्रावशेषकुसुमासु जनिक्रमेण
पाकक्रमः कपिशिमानमुपादधाति ॥

शिशिरऋतुमें, सरसोंके पौधोंके घने और तीखे बाल पककर झड़ने लगते हैं, दो-तीन पीले फूल उनमें दीखते हैं और क्रमशः पकते हुए पौधे भूरापन ग्रहण करते हैं। अर्थात् भूरे हो जाते हैं।

उदीच्यचण्डानिलताडितासु
सुलीनमीनासु जलस्य मूले।
नालावशेषाब्जलतास्विदानीं
विलासवापीषु न याति दृष्टिः ॥

इस ऋतुमें, वापियोंकी ओर तो देखनेकी भी इच्छा नहीं होती। उनका जल, उत्तरीय हिमवायुके प्रचण्ड-प्रवाहसे मानों काँपता रहता है, मछलियाँ वापीके तलभागमें छिप जाती हैं और उनमें कमल-वेलकी सूखी डण्डियाँ मात्र दीखती हैं।

माद्यन्मतङ्गः पृषतैकतोषी
पुष्यद्वराहो धृतिमल्लुलायः।
दरिद्रनिन्द्यः सधनैकवन्द्यः
स एष कालः शिशिरः करालः ॥

शिशिरऋतुमें, हाथी, मदोन्मत्त हो जाते हैं। हरिण, सन्तुष्ट होकर विचरण करते हैं। शूकर, पीन और पुष्ट हो जाते हैं। भैंसे, मस्त रहते हैं। साधन-हीन निर्धन, इस ऋतुकी निन्दा करते हैं और साधन-सम्पन्न धनी, इसकी प्रशंसा करते हैं।

अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।

---

२२. 'सिद्धार्थयष्टि'—सरसोंके पौधेका नाम है। सिद्धार्थ सरसोंका नाम है।

गलितविभवस्याज्ञेवाऽद्य द्युतिर्मसृणा रवे-
र्विरहिवनितावक्त्रौपम्यं बिभर्त्ति निशाकरः ॥

इन दिनों नए कण्डोंकी स-धूम अग्नि, नवीन वधूके प्रणयकोपके समान मीठी लगती है। बर्फीली वायु, दुष्ट व्यक्तिके सम्पर्कके समान दुःखद प्रतीत होती है। सूर्यका तेज, धन-हीन व्यक्तिकी आज्ञाके समान प्रभावहीन हो जाता है और चन्द्रमा, विरहिणी रमणीके मुखके समान मलिन प्रतीत होता है[२३]।

स्त्रियः प्रकृतिपित्तलाः क्वथितकुङ्कुमालेपनै-
र्नितम्बफलकस्तनस्थलभुजोरुमूलादिभिः ।
इहाभिनवयौवनाः सकलरात्रिसंश्लेषितै-
र्हरन्ति शिशिरज्वरारतिमतीव पृथ्वीमपि ॥" शिशिरः ॥

स्वभावसे ही पित्त-प्रकृति नव-यौवनवती सुन्दरियाँ, उबाले हुए केसरके लेपनसे, नितम्ब, स्तन, भुजा और जंघाकी ऊष्मासे एवं सम्पूर्ण रात्रिके आलिंगनोंसे शिशिरके शीतकी भयंकरताका हरण करती हैं।

"चैत्रे मदर्द्धिः शुकसारिकाणां
हारीतदात्यूहमधुव्रतानाम् ।
पुंस्कोकिलानां सहकारबन्धुः
मदस्य कालः पुनरेष एव ॥

वसन्त ऋतुके वर्णनीय विषय—

चैत्र मासमें, सुग्गे, मैना, हारिल, पपीहा और भ्रमर—इन पक्षियोंका मद बढ़ता है और आमकी बौरोंको उत्पन्न करनेवाला यही समय, कोकिलाकी मदवृद्धिका कारण भी बनता है।

मनोऽधिकं चात्र विलासलास्ये
प्रेङ्खासु दोलासु च सुन्दरीणां ।
गीते च गौरीचरितावतंसे
पूजा प्रपञ्चे च मनोभवस्य ॥

इस मासमें, स्त्रियोंका मन, हास-विलास करने, नाचने-गाने, झूला-हिंडोला आदि झूलने, गौरीकी पूजा करने और कामदेवके पूजा-प्रपंचमें अधिक लगता है। इस मासमें गौरी पूजन, नवरात्र, श्रीपंचमी एवं मदन-महोत्सव आदि अनेक व्रत एवं उत्सव होते हैं।

---

२३. यह श्लोक, 'औचित्य-विचार चर्चा' में मालवरुद्रके नामसे तथा सुभाषितावलीमें भासके नामसे उद्धृत है।

पुंस्कोकिलः कूजति पञ्चमेन
बलाद्विलासा युवतौ स्फुरन्ति ।
स्मरो वसन्तेऽत्र नवैः प्रसूनैः
स्वचापयष्टेर्घटनां करोति ॥

वसन्तमें, कोकिल पंचमरागमें कूकती है। युवतियोंमें, स्वभावतः मद उत्पन्न होता है और कामदेव ऋतुके नए पुष्पोंसे धनुषकी नवीन प्रत्यंचाकी रचना करता है।

पिनद्धमाहारजनांशुकानां[२४]
सीमन्तसिन्दूरजुषां वसन्ते ।
स्मरीकृते प्रेयसि भक्तिभाजां
विशेषवेषः स्वदते वधूनाम् ॥

वसन्तमें कामदेवके रूपमें पतियोंपर भक्ति रखनेवाली और सिन्दूर-शोभित माँगों वाली पत्नियोंका सुसज्जित वेश बहुत ही सुन्दर लगता है।

अयं प्रसूनोद्धुरकर्णिकारः
पुष्पप्रपञ्चाञ्चितकाञ्चनारः ।
विजृम्भणाकोविदकोविदारः
कालो विकाशोद्यतसिन्दुवारः ॥

इस कालमें, कनैलके वृक्ष पुष्पोंसे लद जाते हैं। कचनारके वृक्ष कुसुमोंसे भर जाते हैं, कोविदारके वृक्ष विकसित हो उठते हैं और सिन्दुवारके वृक्ष विकासकी ओर उन्मुख होने लगते हैं।

रोहीतकाम्रातककिङ्किराता
मधूकमोचाः सह माधवीभिः ।
जयन्ति शोभाञ्जनकश्च शाखी
सकेसरः पुष्पभरैर्वसन्ते ॥

रोहिड़ा, आमड़ा, किंकिरात, (कटसरैया) महुआ, केला, माधवी-लता और सहजनके वृक्ष, कलियों और पुष्पोंसे भरने लगते हैं।

यो माधवीमुकुलदृष्टिषु वेणिबन्धो
यः कोकिलाकलरुते कथने च लाभः ।
पूजाविधिर्दमनकेन च यः स्मरस्य
तस्मिन्मधुः स भगवान्गुरुरङ्गनानाम् ॥

---

२४. 'माहारजनांशुक'—सोनेकी तारोंसे कढ़े हुए वस्त्रका नाम है।

यह चैत्र मास, सौभाग्यवती ललनाओंका गुरु है। कारण यह कि वे इस मासमें माधवी-लताके कुसुमोंसे केशोंको गूँथती हैं, कोयलकी कूकका अनुकरण करती हैं और दौनेके वृक्षके साथ कामदेवकी पूजा करती हैं।

नालिङ्गितः कुरबकस्तिलको न दृष्टो
नो ताडितश्च चरणैः सुदृशामशोकः।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे
चित्रं तथापि भवति प्रसवावकीर्णः॥

आश्चर्य यह है कि इस मासमें कुरैयाका वृक्ष, रमणीके आलिंगनके बिना; तिलक वृक्ष, उसकी चितवनके बिना; अशोक वृक्ष, उसके पादाघातके बिना और बकुल वृक्ष, मद्य-गंडूषके बिना ही पुष्प-प्रसव करने लगते हैं।

चैत्रे चित्रौ रक्तनीलावशोकौ
स्वर्णाशोकस्तत्तृतीयश्च पीतः।
जैत्रं तन्त्रं तत्प्रसूनान्तरेभ्यः
चेतोयोनेः भूर्भुवःस्वस्त्रयेऽपि॥

और भी आश्चर्य यह है कि रक्त-अशोक, नील-अशोक और तीसरा स्वर्णाशोक—ये तीनों कामदेवने त्रिभुवन–विजयमें अन्य पुष्पबाणोंके अतिरिक्त, विजयशील स्वतन्त्र शस्त्रोंका कार्य करते हैं।

गूवाकानां[२५] नालिकेरद्रुमाणां
हिन्तालानां[२६] पाटलीकिंशुकानाम्।
खर्जूराणां ताडताडीतरूणां
पुष्पापीडन्यासहेतुर्वसन्तः॥ वसन्तः॥

सुपारी, नारियल, हिन्ताल (ताल का भेद), गुलाब, खजूर, ताड़ और ताड़ी वृक्षोंके पुष्प-प्रसवका कारण वसन्त ही है। अर्थात् वसन्तमें इनके पुष्पोंकी उत्पत्ति होती है।

विकाशकारी नवमल्लिकानां
दलच्छिरीषप्रसवाभिरामः।
पुष्पप्रदः काञ्चनकेतकीनां
ग्रीष्मोऽयमुल्लासितधातकीकः॥

ग्रीष्मके वर्णनीय विषय—

ग्रीष्म-काल, नवमल्लिकाके कुसुमोंको नष्ट कर देता है, खिलते हुए शिरीष कुसुमोंसे रमणीय लगता है, कांचन-केतकी (केवड़े) के पुष्पोंका प्रसव करता है और धायके पुष्पोंको विकसित करता है।

---

२५. गुवाक—सुपारी। २६. हिन्ताल—तालवृक्षका एक भेद।

खर्जूरजम्बूपनसाम्रमोच-
प्रियालपूगीफलनालिकेरैः ।
द्वन्द्वानि खेदालसतामुपास्य
रतानुसन्धानमिहाद्रियन्ते ॥

ग्रीष्म ऋतुमें, किसानों और श्रमिकोंके युग्म (स्त्री-पुरुष), खजूर, जामुन, कटहल, आम, केला, चिरौंजी, सुपारी और नारियल—इनसे अपने श्रम और आलस्यको मिटाकर, विलास-वासनाको पूर्ण करनेका प्रयत्न करते हैं ।

स्रोतांस्यनम्भांसि सकूपकानि
प्रपाः कठोरेऽहनि पान्थपूर्णाः ।
शुचौ समभ्यर्थितसक्तुपाने
प्रगे च सायं च वहन्ति मार्गाः ॥

इन दिनोंमें, जलके स्रोत और कूप सूख जाते हैं । मध्याह्नके समय, पौशालाओं पर पथिकोंकी भीड़ लगी रहती है, भोजनके स्थानपर सतुवा घोलकर पीना रुचिकर प्रतीत होता है और पथिक-जन, प्रातः तथा सायंकाल ही यात्रा करते हैं ।

यत्कायमानेषु[२७] दिनार्द्धनिद्रा
यत्स्नानकेलिर्दिवसावसाने ।
यद्रात्रिशेषे सुरतावतारः
स मुष्टियोगो[२८] घनघर्ममाथी ॥

दो-पहरके समय झोपड़ोंमें निद्रा, सायंकालके समय स्नान-क्रीड़ा और रातके शेष-भागमें रति-क्रीड़ा—ये गर्मीकी भीषणताको दूर करनेवाला मुष्टियोग है ।

या चन्द्रिका चन्दनपङ्कहृद्या
या जालमार्गानिलवीचिमाला ।
या तालवृन्तैरुदबिन्दुवृष्टि-
र्जलाञ्जलिं सा शुचये ददाति ॥

शीतल-चन्दनसे लिप्त कायापर स्वच्छ चाँदनीका आनन्द, झरोखों या खिड़कियोंसे आते हुए वायुके झकोरे और पंखोंके झलनेसे बरसते हुए शीतल जलबिन्दु—ये ग्रीष्मकालको तिलाञ्जलि देते हैं । अर्थात् ग्रीष्म-सन्तापका हरण करनेवाले हैं ।

कर्पूरचूर्णं सहकारभङ्ग-
स्ताम्बूलमार्द्रक्रमुकोपक्लृप्तम् ।

---

२७. कायमान—छोटी झोंपड़ी या झोंपड़ा । यह ग्रीष्मकालमें ठंढा रहता है ।
२८. मुष्टियोग—अनुभूत-प्रयोग या नुस्खा ।

हाराश्च तारास्तनुवस्त्रमेत-
न्महारहस्यं शिशिरक्रियायाः ॥

शरीरपर कर्पूर-धूलिका घर्षण, आमका पन्ना, गीली सुपारीवाला पान, मोतियोंके हार और महीन कपड़े—यह ग्रीष्म कालमें शीतल-क्रियाका महान् रहस्य है।

मुक्तालताश्चन्दनपङ्कदिग्धा
मृणालहारानुसृता जलार्द्राः।
स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकानां
ग्रीष्मेऽपि सोऽयं शिशिरावतारः ॥"

चन्दनके रसमें भींगी हुई मोतियोंकी मालाएँ, ताजे और गीले मृणाल (कमल-नाल) के हार और शिरपर खिली हुई चम्पा-पुष्पोंकी मालाएँ—ये ग्रीष्मकालमें शिशिर ऋतुको अवतीर्ण करते हैं।

अत्र हि—"पच्यन्त इव भूतानि ताप्यन्त इव पांसवः।
क्वथ्यन्त इव तोयानि ध्मायन्त इव चाद्रयः ॥

इस ग्रीष्म ऋतुके समय, प्राणी मानों पकाए जाते हैं, धूल तपाई जाती है, पान मानों उबाला जाता है और पर्वत गरम किये जाते हैं।

एणाः स्थलीषु मृगतृष्णिकया ह्रियन्ते
स्रोतस्तनुत्वजनिता जलवेणिबन्धाः।
ताम्यत्तिमीनि च सरांसि जलस्य शोषा-
द्दूद्धारघट्टघटिकावलयाश्च कूपाः ॥

हरिण, मरु-भूमिमें मृग-मरीचिकाओंसे ठगे जाते हैं, स्रोतोंके क्षीण हो जानेके कारण, वापियोंका जल स्वल्प हो जाता है, जलके सूख जानेसे तड़ागोंके जल-जन्तु, तड़पते हुए—से दीखते हैं और जलके बहुत नीचे हो जानेसे कूपोंमें 'रहट' लगाए जाते हैं।

करभाः शरभाः सरासभा
मदमायान्ति भजन्ति विक्रियाम्।
करवीरकरीरपुष्पिणीः
स्थलभूमीरधिरुह्य चासते ॥

हाथियोंके बच्चे, शरभ और गदहे मदोन्मत्त एवं विकारी हो जाते हैं तथा कनेर और करीलके वृक्षोंवाली ऊँची भूमिपर चढ़कर बैठते हैं।

सहकाररसार्चिता रसाला[२९]
जलभक्तं फलपानकानि मन्थाः।

मृगलावरसाः सृतं च दुग्धं
स्मरसञ्जीवनमौषधं निदाघे

आमके मधुर रसवाली रसाला, पानीसे गीला भात, भिन्न-भिन्न फलोंके रस, मट्ठा, हरिण एवं लवाका माँस और औटाया हुआ दूध—ये ग्रीष्मकालमें कामदेवको जीवित करनेवाली ओषधियाँ हैं।

जडचन्दनचारवस्तरुण्यः
सजलार्द्राः सहतारहारमालाः।
कदलीदलतल्पकल्पनस्थाः
स्मरमाहूय निवेशयन्ति पार्श्वे ॥

ग्रीष्ममें, शीतल चंदनके लेपसे आकर्षक, जलसे भींगी हुई, लम्बे-लम्बे मोतियोंके हारवाली और केलेके पत्तोंके विस्तर पर बैठी हुई ललित-ललनाएँ, कामदेवको बुलाकर, अपने बगलमें बैठा लेती हैं।

ग्रीष्मे चीरीनादवन्तो वनान्ताः
पङ्काभ्यक्ताः सैरिभाः सेभकोलाः।
लोलजिह्वाः सर्पसारङ्गवर्गा
मूलस्रस्तैः पत्त्रिणश्चांशदेशैः ॥

इस समय, जंगलोंमें झिल्लीके नाद सुन पड़ते हैं। भैंसे और हाथियोंके बच्चे, कीचड़से सने हुए दीखते हैं, सर्प और मृग, जीभोंको लपलपाते देखे जाते हैं और पक्षियोंके पक्ष-मूल, शिथिल हो जाते हैं।

हर्म्यं रम्यं चन्द्रिकाधौतपृष्ठं
कान्तोच्छिष्टा वारुणी वारिमिश्रा।
मालाः कण्ठे पाटला मल्लिकानां
सद्यो ग्रीष्मं हन्त हेमन्तयन्ति ॥ ग्रीष्मः ॥

चाँदनीसे धुली प्रासादोंकी ऊँची छतें, जल मिश्रित एवं कान्ता द्वारा उच्छिष्ट मदिरा और गलेमें गुलाब तथा मल्लिका कुसुमोंकी मालाएँ—ग्रीष्मको तुरन्त हेमन्त बना देती हैं।

चतुरवस्थश्च ऋतुरुपनिबन्धनीयः। तद्यथा सन्धिः, शैशवं, प्रौढिः, अनुवृत्तिश्च। ऋतुद्वयमध्यं सन्धिः। शिशिरवसन्तसन्धिर्यथा—

कविको ऋतुओंका वर्णन करते हुए प्रत्येक ऋतुकी चार अवस्थाओंका वर्णन करना चाहिए। १. ऋतु-सन्धि, २. ऋतु-शैशव, ३. ऋतु-प्रौढि और ४. ऋतु-अनुवृत्ति।

---

२९. रसाला—दहीमें चीनी, केसर, इलायची आदि मिलाकर बनाया गया 'श्रीखण्ड'।

दो ऋतुओंके मध्यकालका नाम ऋतु-सन्धि है। उदाहरणके लिए शिशिर एवं वसन्तकी सन्धिका वर्णन—

"च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमा
मनसि च गिरं गृह्णन्तीमे गिरन्ति न कोकिलाः।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम्॥"

कुन्द-वृक्षोंके पुष्प गिर जाते हैं, अन्य वृक्ष नवीन पुष्पोंके उद्गममें अलसाते-से प्रतीत होते हैं। कोकिलाएँ, मनमें ही गुनगुनाती हैं; परन्तु शब्द उनके गलेसे बाहर नहीं निकलता। सूर्यकी किरणें शीतके प्रभावको नष्ट तो कर रही हैं; किन्तु उनमें सन्तापदायिनी कठोरता अभी नहीं है।

वसन्तशैशवम्—

"गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः।
किं च त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः॥"

वसन्तके शैशवका वर्णन—

वृक्षोंकी गर्भ-ग्रन्थियोंमें पुष्प आ गए। नए पल्लवोंके मध्य, अंकुर उत्पन्न हो चले। कोकिलाकी कण्ठनलिकामें, पंचम राग अलापनेकी सुरसुरी उत्पन्न हो रही है और कामदेवका चिर-परित्यक्त धनुष, यदि अभ्यास द्वारा वशमें आ जाय तो; दो-तीन दिनोंमें ही वह तीनों लोकोंको जीतनेमें समर्थ हो सकेगा।

वसन्तप्रौढिः—

"साम्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं षाण्मासिकैर्मौक्तिकैः
कान्तिं कर्षति काञ्चनारकुसुमं मञ्जिष्ठधौतात्पटात्।
हूणीनां कुरुते मधूकमुकुलं लावण्यलुण्टाकतां
लाटीनाभिनिभं चकास्ति च पतद्वृन्ताग्रतः केसरम्॥"

वसन्तकी प्रौढ़ताका उदाहरण—

इस समय चमेलीके पुष्प, छः मासके मोतियोंकी समानता धारण कर रहे हैं, कचनारका कुसुम, मँजीठसे रंगे वस्त्रके समान शोभित हो रहा है, महुएकी कलियाँ, हूण-ललनाओंके लावण्यको लूट रही हैं और वृन्तके अग्रभागसे गिरता हुआ केसर, लाट-रमणियोंकी नाभिके समान प्रतीत होता है[३०]।

---

३०. देखिए—राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका, १—२३।

अतिक्रान्तर्तुलिङ्गं यत्कुसुमाद्यनुवर्त्तते ।
लिङ्गानुवृत्तिं तामाहुः सा ज्ञेया काव्यलोकतः ॥

विगत ऋतुके चिह्न-स्वरूप कुसुम आदि जब वर्तमान ऋतुकालमें दिखाई पड़ते हैं, तब ऐसे समयको ऋतु-अनुवृत्ति या ऋतु-लिंगानुवृत्ति कहते हैं ।

वर्षासु ग्रीष्मलिङ्गाब्जविकाशानुवृत्तिः ।

ग्रीष्मऋतुके चिह्न-स्वरूप कमल-विकासका वर्षाकालमें वर्णन—

यथा—"खं वस्ते कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलं
चर्चां पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम् ।
गन्धं मुञ्चति सिक्तलाजसदृशं वर्षेण दग्धा स्थली
दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां पतिः ॥"

आकाशने, नर–गौरैयाके कण्ठके समान काले मेघमाला रूपी कंबलको ओढ़ लिया है । उन्मत्त मेंढक, कोलाहल करते हुए मानों मन्त्रोच्चारणके साथ पूजा कर रहे हैं, ग्रीष्मतापसे दग्ध भूमि, प्रथम-वृष्टिके जलसे सींचे हुए धानके खीलोंके समान गन्ध छोड़ रही है और बादलोंमे छिपा हुआ सूर्य, कमलोंके विकसित होनेसे प्रतीत हो रहा है ।

एवमन्येऽपि ।

इसी प्रकार अन्य ऋतुओंमें भी समझना चाहिए ।

किञ्च—ग्रैष्मिकसमयविकासी कथितो धूलीकदम्ब इति लोके ।
जलधरसमयप्राप्तौ स एव धाराकदम्बः स्यात् ॥

ग्रीष्मऋतुमें विकसित होनेवाला धूलि-कदम्ब, वर्षामें धाराकदम्ब कहा जाता है । जैसे—

यथा—"धूलीकदम्बपरिधूसरदिङ्मुखस्य
रक्तच्छटासुरशरासनमण्डनस्य ।
दीप्तायुधाशनिमुचो ननु नीलकण्ठ
नोत्कण्ठसे समरवारिधरागमस्य ॥"

हे नीलकण्ठ ! वर्षागमन रूपी समर (युद्ध) के लिए तुम उत्कंठित नहीं हो रहे हो ? इस वर्षागमन-समरमें धूलके गुब्बारसे दिशाएँ भर जाती हैं, आकाशमें लालिमा लिए हुए इन्द्रका धनुष तना हुआ दीखता है और चमकते हुए विद्युत्-वज्रका पात होता है ।

जलसमयजायमानां जातिं यां कार्दमीति निगदन्ति ।
सा शरदि महोत्सविनी गन्धान्वितषट्पदा भवति ॥

वर्षाकालमें होने वाली जाती (मालती) जिसे कादंमी कहते हैं, वह शरद् ऋतुमें अत्यन्त आनन्द-दायिनी और सुगन्धके कारण भ्रमरोंसे भरी हुई दीखती है।

यथा—"स्थूलावश्यायबिन्दुद्युतिदलितबृहत्कोरकग्रन्थिभाजो
जात्या जालं लतानां जरठपरिमलप्लावितानां जजृम्भे।
नानाहंसोपधानं सपदि जलनिधेश्चोत्ससर्पापरस्य
ज्योत्स्नाशुक्लोपधानं शयनमिव शशी नागभोगाङ्कमम्भः॥"

जैसे—

शरद् ऋतुमें, ओसकी बड़ी-बड़ी बूदोंके समान विकसित कलियोंके गुच्छोंसे लदे हुए एवं पुष्पोंके परिपक्व-परागसे परिपूर्ण मालतीकी लताओंके झुण्ड, झूमते हुए दीख पड़ते हैं और चन्द्रमा, चाँदनीसे स्वच्छ और हंस रूपी उपधानोंसे युक्त पश्चिम समुद्रकी सर्प-शरीर चिह्नित जलरूपी शय्यापर सोने के लिए आकाशसे उतरता हुआ प्रतीत होता है[31]।

स्तोकानुवृत्तिं केतक्या अपि केचिदिच्छन्ति।

कुछ कवि, वर्षा-ऋतुमें वर्णनीय केतकी-कुसुमका शरद् ऋतु में भी अनुवर्णन करते हैं।

यथा—"असूच्यत शरत्कालः केतकीधूलिधूसरैः।
पद्माताम्रैर्नवायातश्चरणैरिव वासरैः॥"

जैसे—

अधिक दूर गमनके कारण श्रान्त अतएव लाल और मार्ग धूलिसे धूसरित पैरोंको देखकर जिस प्रकार नवागन्तुक अतिथिका दूरसे आगमन अनुमित होता है, उसी प्रकार केतकीकी धूलिसे धूसरित और रक्त-कमलोंसे लाल दिवसोंको देखकर शरद् ऋतुके आगमनकी सूचना मिलने लगी।

शरद्भवानामनुवृत्तिरत्र
बाणासनानां सकुरुण्टकानाम्।
हेमन्तवक्त्रे यदि दृश्यतेऽपि
न दृश्यते बन्धविधिः कवीनाम्॥

इसी प्रकार, शरदृऋतुमें होनेवाले बाँझ, बन्धूक और कुरुण्टक (झींटी) आदि वृक्षोंके पुष्प, हेमन्त-ऋतुके प्रारम्भमें भी दीखते हैं; परन्तु किसी कविने हेमन्त और शरद्की संधि अथवा हेमन्तके प्रारम्भमें इनका वर्णन नहीं किया। अतः भविष्य-कवियोंको भी उनका वर्णन न करना चाहिए।

हेमन्तशिशिरयोरैक्ये सर्वलिङ्गानुवृत्तिरेव। उक्तञ्च। "द्वादशमासः संवत्सरः, पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन"।

---

३१. देखिए—राजशेखर : विद्धशालभञ्जिका, १—२५।

हेमन्त और शिशिरकी एकता होनेसे हेमन्तके सभी वर्णनीय विषय शिशिरमें भी वर्णित होते हैं। ऐसा कहा भी है कि बारह मासोंका एक संवत्सर होता है और एक संवत्सरमें पाँच ही ऋतुएँ होती हैं; क्योंकि हेमन्त और शिशिर वास्तवमें एक ही हैं।

मरुबकदमनकपुन्नागपुष्पलिङ्गानुवृत्तिभिः सुरभिः।
रचनीयश्चित्रश्रीः किञ्चित्कुन्दानुवृत्त्या च॥

शिशिर-ऋतुका वर्णन करते हुए कविको चाहिए कि हेमन्तके वर्णनीय मरुबक (मरुवा), दमनक (दौना), पुन्नाग (नाग-केसर) आदिके पुष्पोंसे शिशिर-ऋतुको सुरभित करे और कुछ कुन्द-कुसुमोंके वर्णनसे भी उसकी शोभा बढ़ावे।

एक प्राचीन उदाहरण—

"गेहे वाहीकयूनां वहति दमनको मञ्जरीकर्णपूरा-
नुन्मादः पामरीणां मरुति मरुबकामोदिनि व्यक्तिमेति।
सद्योभङ्गानुसारस्रुतसुरभिशिराः शीकरः साहकारः
सर्पन्नम्भः शरावे रचयति च रसो रेचकीचन्द्रकाणि॥

शरद्-ऋतुमें वाहीक-देशके युवकोंके कानोंपर दौनेकी मंजरियाँ झूल रही हैं, मरुएकी मंजरियोंसे सुरभित वायु, पामर-देशकी स्त्रियोंमें मद उत्पन्न कर रही है और पानीसे भरे मिट्टीके पात्रमें तोड़कर छोड़ी गई आम्र मंजरीके सुगन्धित रसबिन्दु, जलमें चमकके साथ फैल जाते हैं।

यहाँ वसन्तके मुख्य वर्णनीय आम्रकी मंजरीका शिशिरकालमें उद्गम बताया गया है।

कुन्दे मन्दस्तमाले मुकुलिनि विकलः कातरः किङ्किराते
रक्ताशोके सशोकश्चिरमतिविकचे चम्पके कुञ्चिताक्षः।
पान्थः खेदालसोऽपि श्रवणकटुरटच्चक्रमभ्येति धुन्वन्
सोत्कण्ठः षट्पदानां नवमधुपटलीलम्पटं कर्पटेन॥"

इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण—

शिशिरकालका पथिक कुन्द-कुसुमोंको मन्द-दृष्टिसे देखता हुआ, कटसरैयाकी कोमल-कलियोंको व्याकुल होकर दीन-दृष्टिसे देखता हुआ, रक्त अशोकपर शोक-पूर्ण दृष्टिपात करता हुआ, पूर्ण विकसित चम्पक-पुष्पोंसे आँखोंको चुराता हुआ और पुष्पोंके नव-मकरन्द-लोलुप कर्ण-कटु शब्द करते हुए भौंरोंके झुण्डको कपड़ेसे उड़ाता हुआ जा रहा है।

यथा वा— "धुनानः कावेरीपरिसरभुवश्चन्दनतरून्
मरुन्मन्दः कुन्दप्रकरमकरन्दानवकिरन्।

प्रियक्रोडाकर्षच्युतकुसुममामूलसरलं
ललाटे लाटीनां लुठितमलकं ताण्डवयति ॥"

जिस तरह शिशिरके गर्भमें वसन्तके प्रधान चिह्न दक्षिण-वायुका वर्णन—

कावेरीके तटपर उत्पन्न होनेवाले चन्दन वृक्षोंको हिलाता हुआ, कुन्द कुसुमोंके मकरन्दोंको उड़ाता हुआ एवं प्रियतमोंकी छेड़-छाड़के कारण पुष्प-रहित तथा शिथिल होकर विखरे हुए लाटियांके लटकते हुए अलकोंको ललाटोंपर नचाता है।

इसमें कविने हेमन्त-चिह्न कुन्दकी शिशिरमें अनुवृत्ति की है और उसीमें वसन्त-चिह्न मलयानिलका उद्गम वर्णन किया है[३२]।

एवमन्याप्यनुवृत्तिः।

इसी प्रकार अन्य-अन्य ऋतुओंका वर्णन भी प्रसङ्गतः करना चाहिए।

विचकिलकेसरपाटलिचम्पकपुष्पानुवृत्तयो ग्रीष्मे।
तत्र च तुहिनर्तुभवं मरुबकमपि केचिदिच्छन्ति ॥

ग्रीष्म-ऋतुमें खिले हुए केसर, गुलाब और चम्पा आदि पुष्पोंका वर्णन करना चाहिए। ये वसन्तमें उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्ममें पूर्ण विकसित हो जाते हैं। कुछ कवि, ग्रीष्म-कालमें शीत-कालीन मरुवक-पुष्पोंका भी वर्णन करते हैं।

यथा—

"कर्णे[33] स्मेरं शिरीषं शिरसि विचकिलस्रग्लताः पाटलिन्यः
कण्ठे माणालहारो वलयितमसिताम्भोजनालं कलाच्योः[३४]।
सामोदं चन्दनाम्भः स्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे
गात्रं लोलज्जलार्द्रं जयति मृगदृशां ग्रैष्मिको वेष एषः ॥"

जैसे—कानोंमें खिला हुआ शिरोषका पुष्प, शिरपर खिले हुए गुलाबोंकी माला, गलेमें मृणालके हार, कलाइयोंमें नीले कमलकी मुड़ी हुई डंडियोंके कंकण, स्तनोंपर कपूर आदिसे सुगन्धित चन्दनका द्रव-लेप, अपांगों (नेत्र-प्रान्तों) में मलिन मंजीठ-सी लालिमा और टपकते हुए पानीसे आर्द्र शरीर—यह मृग-नयनियोंका ग्रीष्म-कालीन वेश है। और भी—

यथा च—"अभिनवकुशसूचिस्पर्द्धि कर्णे शिरीषं
मरुबकपरिवारं पाटलादाम कण्ठे।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणां
दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेषश्चकास्ति ॥"

---

३२. देखिए—सदुक्तिकर्णामृत, १—४५७।

३३. देखिए—राजशेखर : बाल रामायण, ५—२६।

३४. कलाची—कलाई।

दूसरा उदाहरण—

कानोंमें अभिनव कुशाग्रके समान तीक्ष्णाग्रभागवाले शिरीष-पुष्प, गलेमें मरुएकी मंजरियोंके साथ गुथी हुई गुलाबकी माला और जलार्द्र सरस-कलेवर—यह सुन्दरियोंका सायंकालीन ग्रीष्म-वेश, अत्यन्त आकर्षक और रमणीय होता है।

इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण हैं—

एवमुदाहरणान्तराणि ।

ऋतुभववृत्त्यनुवृत्ती दिङ्मात्रेणाऽत्र सूचिते सन्तः ।
शेषं स्वधिया पश्यत नामग्राहं कियद् ब्रूमः ॥

हमने ऋतुओंमें होनेवाले पुष्प-फल आदि और अगली ऋतुओंमें उनकी अनुवृत्तिका दिग्दर्शन करा दिया गया है। शेष बातोंको प्रतिभा-सम्पन्न कवि, स्वयं समझनेका यत्न करें। नाम ले-लेकर कहाँ तक कहा जा सकता है।

देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य ।
तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं नः ॥

देश-भेदसे पदार्थोंमें कहीं-कहीं अन्तर आ जाता है। किन्तु कविको तो कवि-परम्पराके अनुसार ही वर्णन करना चाहिए; देशके अनुसार नहीं। तात्पर्य यह कि ग्रीष्म-प्रधान और शीत-प्रधान देशोंमें तथा ऊँची-नीची भूमिमें ऋतुओंके विकास आदिमें अन्तर हो जाता है। फलों और पुष्पोंमें भी भिन्नता देखी जाती है। परन्तु कविको कवि-समयकी रक्षा करनी चाहिए। कविके लिए प्राचीन-महाकवियोंके उल्लेख ही प्रमाण हैं।

शोभान्धोगन्धरसैः फलार्चनाभ्यां च पुष्पमुपयोगि ।
षोढा दर्शितमेतत्स्यात्सप्तममनुपयोगि ॥

शोभा, अन्न, गन्ध, रस, फल और अर्चन (पूजन)—इन छः कारणोंसे पुष्प उपयोगी होता है। इनके अतिरिक्त सातवाँ अनुपयोगी या अवर्णनीय है।

यथा—यत्प्राचि मासे कुसुमं निबद्धं
तदुत्तरे बालफलं विधेयम् ।
तदग्रिमे प्रौढिधरं च कार्यं
तदग्रिमे पाकपरिष्कृतं च ॥

पहिले जिस महीनेमें किसी पुष्पके उद्गमका वर्णन किया जाता है तो अगले मासमें उसके फलोद्गमका वर्णन किया जाना चाहिए और तीसरे मासमें उसकी प्रौढता तथा चौथेमें उसका पकना, परिष्कृत होना आदि वर्णित होना चाहिए।

द्रुमोद्भवानां विधिरेष दृष्टो
वल्लीफलानां न महाननेहा ।
तेषां द्विमासावधिरेव कार्यः
पुष्पे फले पाकविधौ च कालः ॥

यह ऊपर लिखा हुआ चार मासोंका क्रम, वृक्षोंमें लगनेवाले पुष्पों और फलोंका है । लताओंमें लगनेवाले फल-पुष्पोंका क्रम केवल दो मासका ही होता है । इसका ध्यान रखना आवश्यक है ।

अन्तर्व्याजं बहिर्व्याजं बाह्यान्तर्व्याजमेव च ।
सर्वव्याजं बहुव्याजं निर्व्याजं च तथा फलम् ॥

फल छः प्रकारके होते हैं—१ अन्तर्व्याज, २. बहिर्व्याज, ३. बाह्यान्तर-व्याज, ४. सर्वव्याज, ५. बहुव्याज और ६. निर्व्याज ।

लकुचाद्यन्तर्व्याजं तथा बहिर्व्याजमत्र मोचादि ।
आम्राद्युभयव्याजं सर्वव्याजं च ककुभादि ॥

बडहल आदि फल अन्तर्व्याज कहे जाते हैं । केलेकी श्रेणीके फल बहिर्व्याज होते हैं । आम आदि फल उभय-व्याज कहे जाते हैं ।

पनसादि बहुव्याजं नीलकपित्थादि भवति निर्व्याजम् ।
सकलफलानां षोढा ज्ञातव्यः कविभिरिति भेदः ॥

ककुभ-फल सर्वव्याज, कटहल आदि बहुव्याज और नील-कैथ आदि फल निर्व्याज कहे जाते हैं । इस प्रकार इन छः भेदोंमें सभी प्रकारके फलोंका अन्तर्भाव होता है ।

एकद्वित्र्यादिभेदेन सामस्त्येनाथवा ऋतून् ।
प्रबन्धेषु निबध्नीयात्क्रमेण व्युत्क्रमेण वा ॥

कविको चाहिए कि अपनी काव्य-प्रबन्ध रचनामें एक, दो, तीन या सभी ऋतुओंका सरल या विपरीत क्रमसे वर्णन करे ।

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः ।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा ॥

विपरीत क्रमसे ऋतु वर्णम करना कविके लिए दोष नहीं है; किन्तु प्रबन्धका प्रसंग ऐसा अवश्य होना चाहिए; जिससे व्युत्क्रम भी सरल और समुचित प्रतीत हो ।

अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते ।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते ॥

अनुसन्धान-शून्य कविकी उत्तम बातें भी दूषण बन जाती हैं और सावधान कविके दूषण भी भूषण हो जाते हैं। अतः कविको पूर्वकथित सभी बातोंपर पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

इति कालविभागस्य दर्शिता वृत्तिरीदृशी ।
कवेरिह महान्मोह इह सिद्धो महाकविः ॥

इस प्रकार अन्तिम अध्यायमें कविके लिए कालका विभाग कहा गया है; जिसमें कविगण प्रायः प्रमाद कर देते हैं और जो इन विषयोंसे पूर्ण परिचित हैं; वे महाकवि होते हैं।

॥ इति राजशेखरकृतौ काव्यमीमांसायां कविरहस्ये प्रथमेऽधिकरणे
कालविभागो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

समाप्तमिदं प्रथममधिकरणं कविरहस्यं काव्यमीमांसायाम् ॥

'काव्यमीमांसा' ग्रन्थमें कविरहस्य नामक यह प्रथम अधिकरण समाप्त हुआ।



परिशिष्ट—१

काव्यमीमांसामें उद्धृत आचार्यों, कवियों एवं ऐतिहासिक व्यक्तियोंका अकारादि क्रमसे संक्षिप्त परिचय और समय नीचे दिया जाता है।

१. **अमर**—संस्कृतके प्रसिद्ध कोष 'नामलिंगानुशासन' या 'अमरकोष'के प्रणेता अमरसिंह। ये विक्रमादित्यके नवरत्नोंमें एक थे। इनका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी माना गया है।

२. **अवन्तिसुन्दरी**—ये काव्यमीमांसाके प्रणेता राजशेखरकी गृहिणी थीं। इनका मत काव्यमीमांसामें तीन बार उद्धृत किया गया है। स्वतन्त्ररूपसे इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनकी विस्तृत विवेचना भूमिकामें की गई है।

३. **आचार्याः**—काव्य-मीमांसामें १८ बार इनका मत उद्धृत किया गया है। यह प्राचीन आलंकारिक विद्वानों या राजशेखरके अभिमत आचार्योंका संकेत मालूम होता है। यह शब्द प्रायः भामह, आनन्द, वामन आदिके लिए प्रयुक्त है।

४. **आनन्द**—'ध्वन्यालोक'-प्रणेता आचार्य आनन्दवर्द्धन कश्मीरके राजा अवन्ति वर्माके समय कश्मीरमें उत्पन्न हुए थे। ये 'ध्वनिमत-प्रतिष्ठापनाचार्य' कहे जाते हैं। ये शैवागमके भी आचार्य थे। इनका समय ९२२–९४१ विक्रम-संवत् (८५५–८८४ ए. डी.) है।

५. **आपराजिति**—अपराजितके पुत्र थे। सम्भवतः ये भरत नाट्यशास्त्रके टीकाकार भट्ट लोल्लटके नामसे प्रसिद्ध थे। काव्यप्रकाशकी रस-सूत्र-व्याख्यामें इनका उल्लेख किया गया है। ये प्रसिद्ध मीमांसक थे। हेमचन्द्रके काव्यानुशासनमें इनकी दो आर्याएँ उद्धृत हैं, जिनके भावों का उल्लेख राजशेखरने नवम अध्यायमें किया है। भट्टलोल्लटका समय विक्रमीय नवम शतक है।

राजशेखरने विद्धशालभञ्जिका नाटिकाके प्रारम्भमें अपने समकालीन अपराजित नामक एक विद्वान्का उल्लेख किया है; जिन्होंने 'मृगाङ्कलेखाकथा' का प्रणयन किया है। यह भी समझा जा सकता है कि उन्हीं अपराजित कविके पुत्रका नामोल्लेख राजशेखरने आपराजिति नामसे किया हो। किन्तु आपराजितिके नामसे उन्होंने जो विषय उद्धृत किया था—वह भट्ट लोल्लटके मतसे मिलता है। दूसरे, यह भी सम्भव नहीं मालूम होता कि राजशेखरने अपने परवर्ती आपराजितिका उल्लेख किया हो। अतः भट्टलोल्लटको ही 'आपराजिति' कहा गया है।

६. **उक्तिगर्भ**—ये सारस्वतेय काव्यपुरुषके अष्टादश शिष्योंमें एक थे। ये सभी राजशेखर द्वारा कल्पित हैं। इन्होंने उक्तिविषयक अधिकरणका निर्माण किया था।

७. **उतथ्य**—ये अंगिरा ऋषिके पुत्र और बृहस्पतिके बड़े भाई थे। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंमें इनकी प्रसिद्धि है। इन्होंने काव्यपुरुषसे शिक्षा प्राप्तकर अर्थश्लेषके सम्बन्धमें ग्रन्थ लिखा है।

८. **उपमन्यु**—ये भी सारस्वतेय काव्यपुरुषके अष्टादश शिष्योंमें एक प्रसिद्ध ऋषि थे। ये गोत्रप्रवर्तक ऋषि हैं।

९. उपवर्ष—ये व्याकरणसूत्रप्रणेता पाणिनिके गुरु थे। बृहत्कथा-मंजरी और कथा-सरित्सागरके प्रथम लम्बकमें इनका चरित्र वर्णन मिलता है। इन्होंने जैमिनिके पूर्व-मीमांसासूत्रों और व्यासके ब्रह्मसूत्रोंपर व्याख्या भी लिखी है। इनका समय ईसासे पूर्व चौथी या तीसरी शताब्दीके लगभग है। उज्जयिनीमें इनकी परीक्षा हुई थी। कुछ ऐतिहासिक विद्वान् कथा-सरित्सागरके लेखानुसार वर्ष और उनके छोटे भाई उपवर्षको पाणिनिका उपाध्याय (गुरु) नहीं मानते; क्योंकि इस बातका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं किया गया है।

१०. उशनस्—महर्षि भृगुके पुत्र उशना ऋषि। इन्हींका नाम शुक्र है। ये दैत्योंके गुरु थे और नीतिशास्त्रके प्रथम आचार्य थे। इनके मतानुयायी औशनस् कहे जाते हैं।

११. औद्भट—उद्भट नामके आलंकारिक विद्वान् कश्मीरी थे। इनके मतानुयायियोंका या इनके सिद्धान्तका नाम औद्भट है। ये कश्मीरके राजा जयापीड़के सभापति थे। राज-तरंगिणीमें लिखा है—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥

—तरंग ४, श्लोक ४९४।

इनका समय विक्रम-संवत् ८३६–८७० (७७९–८१३ ई०) है। इनके उद्भटालङ्कार नामक अलङ्कारशास्त्रपर भट्ट इन्दुराजकी टीका है। इन्होंने कुमारसम्भव नामक एक काव्य भी लिखा है। उसका एक अनुष्टुप् पद्य काव्य-प्रकाशकी टीकामें उद्धृत है।

१२. औपकायन—सारस्वतेय काव्य-पुरुषके कल्पित १८ शिष्योंमें एक; जिन्होंने उपमा-लंकार विषयक ग्रन्थकी रचना की थी। यह एक गोत्रप्रवर्तक प्रसिद्ध ऋषि थे।

१३. औमेयी—शिवपत्नी उमाकी मानस-पुत्री 'साहित्य-विद्या-वधू'। यह नाम भी कविकल्पित है।

१४. औशनस—भृगु पुत्र उशनस् (शुक्र) के मतानुयायी राजनीतिज्ञ—आचार्य।

१५. कर्ण—दक्षिण देशका एक राजा; जिसका नाम एक उदाहरणमें उल्लिखित है।

१६. कामदेव—सारस्वतेय काव्य—पुरुषके अष्टादश शिष्योंमें एक। इन्होंने काव्य-विद्याके वैनोदिक-अधिकरणका निर्माण किया था।

१७. कालिदास—रघुवंश आदि काव्यों एवं अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि नाटकोंके प्रणेता महाकवि कालिदास। इनके समयके सम्बन्धमें अनेक मतभेद हैं। किन्तु प्रायः ये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके ही माने गये हैं। इनके रचित तीन नाटक और तीन काव्य हैं। राजशेखरने इनका मत इनके श्लोकोंके आधारपर उद्धृत किया है। राजशेखरने इनके उदाहरण सर्वाधिकमात्रामें उद्धृत किये हैं।

१८. काव्य-पुरुष—राजशेखर द्वारा कल्पित सरस्वतीका पुत्र और काव्यविद्या-प्रवर्तक।

१९. कुचमार—काव्यपुरुषके अठारह शिष्योंमें एक। इन्होंने काव्य-विद्याके औपनिष-दिक अधिकरणका प्रणयन किया। ये प्राचीन आचार्य हैं। कामशास्त्रमें भी इनका नाम है। इनका प्रणीत कुचमारतन्त्र प्रसिद्ध है।

२०. कुडुंगेश्वर—यह उज्जयिनीका एक राजा या धनी था। सिद्धसेनकी प्रबन्ध चिन्ता-मणिमें इसका वर्णन प्राप्त होता है। राजशेखर-द्वारा उद्धृत एक उदाहरणमें इसका नामोल्लेख है।

२१. **कुबेर**—काव्य-पुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक; जिसने शब्द और अर्थ—उभयअलङ्कारोंके विषयपर अधिकरणका निर्माण किया था।

२२. **कुमारदास**—जानकीहरण नामक महाकाव्यका प्रणेता। कहा जाता है कि यह महाकवि जन्मान्ध था। यह संस्कृत-साहित्य-संसारका उत्कृष्ट और प्रसिद्ध कवि है। इसका समय विक्रम की आठवीं शती है। 'जानकीहरण' काव्य मुद्रित एवं उपलब्ध है। क्षेमेन्द्रने 'औचित्य-विचारचर्चा' में कुमारदासके पद्य उद्धृत किये हैं। जल्हणकी सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरका पद्य कुमारदासकी प्रशस्तिमें मिलता है; जिसका भावार्थ है कि 'जानकी-हरण' केलिए रघुवंशके रहते हुए कुमारदास और रावण कैसे समर्थ हो सकते हैं? इससे मालूम होता है कि कुमारदास कालिदासके परवर्ती हैं। उज्ज्वलदत्तने उणादिसूत्रवृत्तिमें भी कुमारदासका एक पद्य उद्धृत किया है; जिसमें पतञ्जलिके महाभाष्यमें उद्धृत एक पदका चौथे चरणमें प्रयोग है। शार्ङ्गधरपद्धति आदिमें भी कुमारभट्ट या श्रीकुमारके नामसे कुछ पद्य संगृहीत हैं। पता नहीं; वह यही कुमारदास है या अन्य। इस कविके अन्धे होनेका उल्लेख केवल राजशेखरने ही किया है।

२३. **कुविन्द**—यह मथुराका एक राजा था। इसके रनिवासमें बोलचालकी भाषामें टकार आदि कठोर वर्णोंका उच्चारण करना वर्जित था।

२४. **कौटिल्य**—अर्थशास्त्रका प्रणेता, चन्द्रगुप्त प्रथमका प्रधान मन्त्री, विष्णुगुप्त कौटिल्य; जो चाणक्यके नामसे प्रसिद्ध है। इसका समय ईसाके पूर्व चौथी और विक्रमके पूर्व तीसरी शताब्दी है।

२५. **खशाधिपति**—राजशेखरने काव्य-मीमांसाके आठवें अध्यायके जिस श्लोकमें खशाधिपतिको उद्धृत किया है, उनके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। इस विषयपर स्वतन्त्र रूपसे विचार करनेकी आवश्यकता है। परन्तु यह खशाधिपति वही है; जिसने समुद्रगुप्तके पुत्र या चन्द्रगुप्त द्वितीयके बड़े भाई रामगुप्तको पराजितकर सन्धिमें उसके राज्यका कुछ भाग और उसकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी ध्रुवस्वामिनी या ध्रुवदेवीकी माँग की थी। इस अपमानजनक सन्धिसे क्रुद्ध होकर रामगुप्तके छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीयने ध्रुवस्वामिनीके वेशमें खशाधिपतिके पास जाकर शिविरमें उसे मार डाला और लौटकर अपने अयोग्य बड़े भाई रामगुप्तको भी मार डाला। पश्चात् रामगुप्तकी विधवा पत्नी ध्रुवस्वामिनी या ध्रुवदेवीसे स्वयं विवाहकर राज्य-शासन अपने हाथमें ले लिया। इसका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दी है। यह इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय था। इस प्रसिद्ध कथाके आधार पर विशाखदत्तने देवी-चन्द्रगुप्त नाटक लिखा है।

२६. **गोनर्दीय**—राजशेखरके मतसे व्याकरण महाभाष्यके प्रणेता पतञ्जलिका नाम गोनर्दीय है। उन्होंने पातञ्जल महाभाष्यके उद्धरण गोनर्दीयके नामसे दिये हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेशके वर्तमान गोंडा जिलेका प्राचीन नाम गोनर्द है। ये उसी देशके निवासी होनेके कारण गोनर्दीय कहे जाते थे। महाभाष्यके टीकाकार कैयट तथा यादवप्रकाश आदि कोशकारोंने पतञ्जलिको गोनर्दीय कहा है और गोणिकापुत्र भी कहा है। किन्तु ऐतिहासिक विद्वान् अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि गोनर्दीय तथा गोणिकापुत्रका मत पतञ्जलिने उद्धृत किया है, अतः वे गोनर्दीय नहीं है। यह उनसे भी प्राचीन आचार्य हैं। कामसूत्रमें भी इन दोनों आचार्योंके मत उद्धृत हैं।

२७. **गौरी**—हिमाचलकी पुत्री शिवपत्नी पार्वती; जिसने साहित्य-विद्या-वधूको जन्म दिया।

२८. **चन्द्रगुप्त**—यों तो इतिहास-प्रसिद्ध दो-तीन चन्द्रगुप्त हो चुके हैं। किन्तु काव्य-मीमांसाके ऐतिहासिक पद्यमें जिस चन्द्रगुप्तका नाम उल्लिखित है, वह समुद्रगुप्तका पुत्र और स्कन्दगुप्तका पिता प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय है। इसका राज्यकाल विक्रम-संवत्की तीसरी शताब्दी माना गया है।

२९. **चित्रशिख**—पुराणवर्णित विद्याधरोंका राजा, जिसकी राजधानी मलयाचल पर्वतके समीप रत्नवती नगरी थी। एक उद्धरणमें इसका नामोल्लेख हुआ है।

३०. **चित्रसुन्दरी**—चित्रशिखकी पत्नी। यह नाम भी उद्धृत श्लोकमें उल्लिखित है।

३१. **चित्रांगद**—काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक। इसने चित्रकाव्य सम्बन्धी प्रकरण लिखा है। यह गन्धर्व प्रतीत होता है।

३२. **द्रौहिणी**—ब्रह्माके पुत्रका नाम द्रौहिणी है। यह इनके नामका शब्दार्थ है। ठीक-ठीक पता नहीं कि ये कौन हैं। कुछ विद्वान् नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतको द्रौहिणी कहते हैं।

३३. **द्वैपायन**—प्रसिद्ध महर्षि व्यास। ये महाभारत संहिता, ब्रह्मसूत्र आदिके प्रणेता हैं और वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हैं।

३४. **धिषण**—देवगुरु बृहस्पति; जो काव्यपुरुषके शिष्योंमें एक हैं। इन्होंने काव्य-विद्याके दोषनिरूपण—अधिकरणकी रचना की थी।

३५. **ध्रुवस्वामिनी**—समुद्रगुप्तके ज्येष्ठपुत्र रामगुप्त या श्रीशर्मगुप्तकी पत्नी, जिसे उसके देवर चन्द्रगुप्त द्वितीयने विवाहित किया था।

३६. **नन्दिकेश्वर**—कामसूत्रके प्रणेता नन्दी या नन्दिकेश्वर महादेवके प्रसिद्ध परिचारक थे। राजशेखरने काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें इनका नामोल्लेख भी किया है। उनके मतानुसार नन्दीने काव्यविद्याके रसाधिकरणका निर्माण किया था। आयुर्वेदके रसायनाचार्योंमें भी नन्दी, प्रथम और प्रधान आचार्य माने गये हैं।

३७. **पतञ्जलि**—राजशेखरके मतमें गोनर्दीय और पतञ्जलि एक ही हैं। किन्तु वास्तवमें गोनर्दीय, पतञ्जलिसे प्राचीन वर्तमान गोंडा जिलेके निवासी हैं। यह दैशिक नाम है। पतञ्जलिके सम्बन्धमें बहुत भ्रम है। इस नामके अनेक विद्वान् और ग्रन्थकार हो चुके हैं। व्याकरण महाभाष्यके रचयिता पतञ्जलि सम्राट् पुष्यमित्रके समकालीन हैं। सम्राट् पुष्यमित्र का समय कुछ लोग ईसासे १२०० वर्ष पूर्व और कुछ लोग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं। विषय विचारणीय है।

३८. **परमेष्ठी**—ब्रह्मा; जो शिवजीके ६४ शिष्योंमें एक हैं। इन्होंने सर्वप्रथम काव्य-विद्याका अध्ययन किया और सारस्वतेय आदि शिष्योंको उसका उपदेश किया।

३९. **पाणिनि**—व्याकरण अष्टाध्यायी सूत्रोंके प्रणेता पाणिनि प्रसिद्ध वैयाकरण थे। इनका जन्म पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्तके 'शालातुर' ग्राममें हुआ था। यह ग्राम आज भी पेशावर जिलेमें 'लाहुर' नामसे प्रसिद्ध है। इनकी माताका नाम दाक्षी था। प्रचीन ग्रन्थोंमें इन्हें दाक्षीपुत्र कहा है। बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागरके अनुसार इन्होंने उपाध्याय

उपवर्षसे व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन किया था। राजशेखरके उद्धृत श्लोक (काव्यमीमांसा, अ० १०) के आधार पर इनके व्याकरणशास्त्रकी परीक्षा पाटलिपुत्रमें हुई थी। इनके सूत्रोंपर वररुचिने वार्तिक और पतञ्जलिने महाभाष्य लिखा है। इतिहासकारोंके मतसे वर्ष और उनके छोटे भाई उपवर्षसे पाणिनिने व्याकरण नहीं पढ़ा था। उनके गुरुका नाम महेश्वर था। किन्तु निश्चित नहीं। इनका समय ईसासे पूर्व चौथी शताब्दी मानी जाती है। इन्होंने 'जाम्बवती-विजय' महाकाव्य भी लिखा है; जो अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। यह काव्य १८ सर्गोंमें था। इस काव्यके अनेक श्लोक सुभाषितावली आदि सूक्तिग्रन्थोंमें पाए जाते हैं। इनके श्लोकोंकी रचनाको देखते हुए आश्चर्य होता है कि शुष्क व्याकरण शास्त्रके प्रणेता और मुनि कहे जानेवाले पाणिनिका काव्यरचनापर कितना अनुपम अधिकार था। इनके इस काव्यकी चर्चा सूक्तिमुक्तावली नामक सुभाषित-संग्रहमें उद्धृत राजशेखरके इस पद्यसे प्राप्त होती है—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

पाणिनिके समयके सम्बन्धमें निश्चित मत नहीं है। 'व्याकरणशास्त्रका इतिहास' नामक ग्रन्थके लेखक पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक तथा 'भारतवर्षका इतिहास' के लेखक पण्डित भगवद्दत्त पाणिनिका समय विक्रमसे २८०० वर्ष पूर्व मानते हैं। इस सम्बन्धमें उन्होंने अनेक प्रमाण प्रदर्शित किये हैं।

४०. **पाणिनीयाः**—पाणिनिके मतानुयायी आचार्य और विद्वान्।

४१. **पराशर**—काव्य-पुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक। इन्होंने काव्य-विद्याके अतिशयोक्ति नामक अधिकरणका निर्माण किया था।

४२. **पाल्यकीर्ति**—ये जैन सम्प्रदायके प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने शाकटायन व्याकरणके आधारपर नवीन जैन व्याकरणकी रचना की। संस्कृत वाङ्मयमें शाकटायन नामके दो वैयाकरण हुए हैं। एक प्राचीन शाकटायन ऋषि और दूसरे अर्वाचीन शाकटायन पाल्यकीर्ति। इनके व्याकरणका नाम शब्दानुशासन है। आचार्य पाल्यकीर्तिने इस अपने व्याकरणपर 'अमोघा' नामक वृत्ति (टीका) की है। उसने अपने संरक्षक महाराज अमोघदेवके नाम पर इसका नाम रखा है। अमोघदेव या अमोघवर्ष (प्रथम) सं० ८७१ में सिंहासनारूढ हुए और उनका एक दानपत्र सं० ९२४ का प्राप्त हुआ है। अतः निश्चय ही पाल्यकीर्ति या अभिनव—शाकटायनका यही समय है। इनका मत और एक पद्य राजशेखरने काव्यमीमांसामें उद्धृत किया है। यह पद्य भोजप्रबन्ध और प्रबन्ध-चिन्तामणिमें भी उद्धृत किया गया है। पाल्यकीर्तिकी प्रशंसामें वादीभसिंहने पार्श्वनाथ-चरितमें एक श्लोक लिखा है; जिसमें इनका महावैयाकरण होना सिद्ध होता है —

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥

प्रक्रिया-संग्रहके प्रारम्भमें उसके प्रणेता अभयचन्द्रने भी लिखा है—

मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम् ।
मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे ॥

पाल्यकीर्ति प्रसिद्ध वैयाकरण होनेके साथ साहित्यशास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् और कवि भी थे। ये राजशेखरके कुछ पूर्वज या समकालीन थे।

४३. पिंगल—छन्दःशास्त्रके प्रधान और प्रथम आचार्य पिंगल प्रसिद्ध हैं। छन्दःशास्त्रका दूसरा नाम पिंगलशास्त्र भी है। इनके सम्बन्धमें लोगोंका मत है कि ये पाणिनिके अनुज थे। राजशेखरके उद्धृत श्लोकमें पाणिनिके साथ इनका नाम भी आया है। अर्थात् इनके छन्दःशास्त्रका परीक्षण भी पाटलिपुत्रमें हुआ था। इनका समय भी विक्रमसे २८०० वर्ष पूर्व माना गया है।

४४. पुलस्त्य—काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक। इन्होंने काव्यविद्याके वास्तव अधिकरण (स्वभावोक्ति) का प्रणयन किया है। ये ब्रह्माके मानसपुत्र थे।

४५. प्रचेता—काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक। इन्होंने अनुप्रास सम्बन्धी अधिकरणका प्रणयन किया है। मूल पुस्तकमें 'प्रचेतायनः' ऐसा पाठ है, जो लेखकका भ्रम प्रतीत होता है। यह नाम वरुणका है।

४६. प्राचेतस्—ऋषि मित्रावरुणका नाम प्रचेतस् है। उनके पुत्र वाल्मीकि प्राचेतस् हैं।

४७. बार्हस्पत्य—बृहस्पतिके मतानुयायी राजनीतिज्ञ आचार्य; बार्हस्पत्य कहे जाते हैं।

४८. भरत—नाट्यशास्त्र या नाट्यवेदके प्रणेता भरत मुनि। ये नाट्यशास्त्रके आचार्य या प्रवर्तक हैं। इनके समयके सम्बन्धमें ऐतिहासिक विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत हैं, फिर भी विक्रमसे पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दीसे इधर इनका समय नहीं माना जा सकता। आचार्य पाणिनिने भी अपने पूर्वकालीन नाट्यसूत्रोंका उल्लेख किया है, उसमें इनका नाम नहीं आया। अतः ये पाणिनिके परवर्ती हैं। प्राचीन नाटककार भास, कालिदास आदिने भरत-वाक्यका उल्लेख किया है। अतः उनसे पूर्ववर्ती हैं। उनकी गणना नाट्यवेदके रचयिता मुनियोंमें की गई है। इस दृष्टिसे ये अति प्राचीन हैं।

४९. भवानी—पार्वतीका नाम भवानी है; जिसने 'साहित्य-विद्या-वधूकी' सृष्टि की।

५०. भारवि—संस्कृत-साहित्य-संसारके प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीयके प्रणेता। इनके सम्बन्धमें अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। ये कालिदासके परवर्ती विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके महाकवि हैं। ६३१ विक्रम संवत्‌में लिखे गये पुलिकेशीके शिलालेखमें भारविका नाम आया है —

येनाऽयोजिनवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥

भारविके सम्बन्धमें 'अवन्तिसुन्दरी' कथामें लिखा है कि इसका नाम दामोदर था। यह कौशिकगोत्रीय नारायण स्वामीका पुत्र था। यह अचलपुर (एलिचपुर) का निवासी था और नरेन्द्र—विष्णुवर्द्धन तथा काञ्चीके पल्लव राजा सिंहविष्णुशर्म्माका सभापण्डित था। ई० सन् ६३४ में लिखे गये 'आयहोल' के शिलालेखमें कालिदासके साथ भारविका नाम आया है। वह श्लोक ऊपर कहा गया है। ६६० ई० के लगभग निर्मित काशिकावृत्तिमें

भी भारविका निर्देश है। इससे १०० वर्ष पूर्व भारविका होना निश्चित है। अतः ५०० से ५५० ई० तकके मध्यकालमें भारविका निश्चित समय माना जा सकता है।

भारवि संस्कृतकवियोंमें प्रथम श्रेणीके कवि हैं। इनकी कविता अत्यन्त उत्कृष्ट, गम्भीर और अर्थयुक्त होती है। अलंकारग्रन्थोंमें प्रायः इनके उद्धरण प्राप्त होते हैं। राजशेखरके उद्धृत श्लोकसे पता चलता है कि इनके काव्यकी परीक्षा उज्जयिनीमें हुई थी।

५१. मंगल—मंगल नामक विद्वान् आचार्यके मतका उद्धरण काव्यमीमांसामें चार बार किया गया है। ये मंगल नामक विद्वान् कौन हैं ? पता नहीं चलता। अभीतक इनका कोई प्रबन्ध प्राप्त नहीं हुआ। सम्भव है, राजशेखरको इनका ग्रन्थ प्राप्त हुआ हो। सदुक्ति कर्णामृत नामक सूक्ति-संग्रहमें मंगलके नामसे दो पद्य उद्धृत हैं। इनमें प्रथम पद्यके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि ये भी जैन विद्वान् थे; क्योंकि इसमें जिन भगवान्‌की स्तुति की गई है। इनका दूसरा पद्य इस प्रकार है—

निष्किंचनत्वाद्विधुरस्य साधोरभ्यर्थितस्यार्थिजनस्य किञ्चित्।
नास्तीति वर्णा मनसि भ्रमन्तो निर्गन्तुमिच्छन्त्यसुभिः सहैव ॥

५२. मानवाः—मनुके अनुयायी आचार्य मानव कहे जाते हैं।

५३. मेण्ठ, भर्तृमेण्ठ—मेण्ठराज या भर्तृमेण्ठके नामसे प्रसिद्ध इस महाकविने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्यकी रचना की है। कश्मीरके इतिहास 'राज-तरंगिणी'में इनका वर्णन आया है। कश्मीरके राजा मातृगुप्तकी सभामें उपस्थित होकर इन्होंने अपने नव-निर्मित काव्यको सुनाया। जबतक काव्यकी समाप्ति न हुई तबतक राजाने काव्यके सम्बन्धमें कुछ भी न कहा। सम्पूर्ण काव्य सुन लेनेपर राजाने सोनेका थाल मँगाकर उस काव्यको उसमें रखवा दिया; जिससे काव्यका लावण्य (रस) छलक कर पृथ्वीपर न गिर जाय। राजाके इस सम्मानसे कविको महान् आदर प्राप्त हुआ। देखिए—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग, श्लो० २६०—२६२।

महाकवि मेण्ठ कालिदासके समान संस्कृत-कविसमाजमें अत्यन्त समादृत हैं। मेण्ठ नाम संस्कृतमें हाथीवान् या महावतका है। यह कवि हाथीवानोंका सरदार था। अतः इसका नाम मेण्ठराज या भर्तृमेण्ठ है। श्रीकण्ठचरित महाकाव्यके प्रणेता महाकवि मंखने लिखा है—'मेण्ठराजके स्वर्गरूपी हाथीके मस्तक पर बैठ जानेके अनन्तर'। राजशेखरके एक अन्य पद्यमें, जो सूक्ति-मुक्तावलीमें उद्धृत है; लिखा है—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
व्याधूता इव धुन्वन्ति मूर्द्धानं कवि-कुञ्जराः ॥

इससे भी इसका हाथीवान् होना सिद्ध होता है।

भर्तृमेण्ठ, कश्मीरके राजा मातृगुप्तका समकालीन था। मातृगुप्तका समय ईसाकी छटी शताब्दीका उत्तरभाग है। वही समय भर्तृमेण्ठका भी निश्चित है। भर्तृमेण्ठका हयग्रीव-वध अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ; किन्तु मम्मट भट्ट, क्षेमेन्द्र आदि आलोचकोंने इस काव्यके अनेक उद्धरणोंको उद्धृत किया है। राजशेखरने तो इन्हें अपना आदर्श ही माना है। बालरामायणमें उन्होंने लिखा है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

अर्थात्—पहले वाल्मीकि कवि हुए, वे पुनः भर्तृमेण्ठके रूपमें अवतीर्ण हुए, तदनन्तर जो भवभूतिके नामसे प्रसिद्ध थे; वे अब राजशेखरके रूपमें वर्तमान हैं ।

इसके अतिरिक्त अनेक कवियोंने विविध रूपोंमें भर्तृमेण्ठकी प्रशंसा की है । मालूम होता है कि बहुत कालतक यह काव्य उपलब्ध रहा है । इधर कुछ ही शताब्दियोंसे वह अप्राप्य हो गया है । राजशेखरके उद्धृत श्लोकके अनुसार मेण्ठराजके काव्यकी परीक्षा उज्जयिनीमें हुई थी । इस काव्यके कुछ श्लोक राजशेखरने काव्य-मीमांसामें उद्धृत किये हैं ।

५४. **मेधावि रुद्र**—राजशेखरने इन्हें जन्मान्ध कवि कहा है । इनका नाम रुद्रटकृत काव्यालंकारके टीकाकार जैनसाधु नमिने भी उद्धृत किया है । वे लिखते हैं—'ननु **दण्डि-मेधाविरुद्र-भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि**' अर्थात् 'दण्डी, मेधाविरुद्र और भामह आदि प्रणीत अलंकारशास्त्र तो हैं ही' । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र अलंकारशास्त्रके प्रणेता था । भामहने भी अपने अलंकारशास्त्रमें (२. ४०. ८८) मेधाविका नाम लिखा है । इससे यह भी जाना जा सकता है कि यह भामहसे भी प्राचीन था । अतः यह काव्यालंकारप्रणेता रुद्रटसे भिन्न है । विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे नीचे इसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता ।

कुछ लोगोंका सन्देह है कि मेधावी और रुद्र ये दो नाम हैं । इसपर हमारा यह निश्चित मत है कि यह एक ही नाम रुद्र है और मेधावी उसका विशेषण है । कारण यह कि रुद्र जन्मान्ध था और कवि तथा आलंकारिक भी था । अतः उसका एकमात्र आधार उसकी मेधा या स्मरणशक्ति ही थी; जो प्रायः अन्धोंमें स्वाभाविक रूपेण हुआ करती है । इसी कारण उसके नामके साथ मेधावी शब्द विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होता था । यह रुद्र कवि कौन है, ठीक-ठीक पता नहीं चलता । इसके जन्मान्ध होनेका रहस्य राजशेखरके उल्लेखसे ही मिलता है । सम्भव है, उनके समयमें यह किंवदन्ती प्रचलित हो । यह राजशेखरसे ५–६ सौ वर्ष प्राचीन मालूम होता है । भामहके भी पूर्वकालीन होनेके कारण यह चतुर्थ शतकका पूर्वकालीन कवि है ।

पुरुषोत्तमदेवके त्रिकाण्ड शेषकोषमें व्याडीके नाममें मेधावी आता है । विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी—तीन नाम संग्रहकार व्याडीके लिखे गये हैं । यह व्याडी, पाणिनिका मामा और विक्रम संवत्सरके आरम्भ होनेसे लगभग २८०० वर्ष प्राचीन और भिन्न है ।

शृङ्गार-तिलक प्रणेता रुद्र और काव्यालङ्कार-प्रणेता कश्मीर-निवासी रुद्रट इस मेधावी रुद्रसे पृथक् और बहुत अर्वाचीन हैं ।

५५. **यायावरीय**—यह राजशेखरका कुल-नाम है । देखिए, इस पुस्तककी 'राजशेखर' शीर्षक भूमिका ।

५६. **राजशेखर**—देखिए, इस पुस्तककी 'राजशेखर' शीर्षक भूमिका ।

५७. **रुद्रट**—काव्यालङ्कारके प्रणेता रुद्रट कश्मीर-निवासी थे । ये अलंकारशास्त्रके प्रसिद्ध और प्रामाणिक विद्वान् थे । इनका दूसरा नाम शतानन्द था । इनके पिताका नाम

नामक था। यह सामवेदी ब्राह्मण था। इनका समय विक्रमकी दशम शताब्दीका पूर्वभाग हो सकता है। ये राजशेखरसे प्राचीन हैं। राजशेखरने काकु-निरूपणमें इनका मत उद्धृत करके उसका खंडन किया है। रुद्रटके मतमें काकु नामक अलंकार है। यायावरीय राजशेखर उसे पाठधर्म मानते हैं।

५८. रूप—रूप नामक कविकी रचना और उसके समयका पता नहीं चलता, ये प्राचीन कवियोंमें हैं। पाटलिपुत्रमें हुई काव्य-परीक्षामें रूपके काव्यकी परीक्षा हुई थी। 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक अलंकार-ग्रन्थके प्रणेता रूप गोस्वामी इससे भिन्न और राजशेखरके परवर्ती हैं।

५९. वररुचि—वररुचि नामके अनेक विद्वान हुए हैं। पाणिनि सूत्रोंपर वार्तिक लिखनेवाले वैयाकरण वररुचि; जिन्हें कात्यायन भी कहते हैं, महाभाष्यकार पतंजलिसे पूर्व-कालीन हैं। विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमें भी वररुचि नामक कविका नाम आता है। ये वररुचि वैयाकरण वररुचिसे भिन्न मालूम होते हैं। राजशेखरके उद्धृत श्लोकमें जिस वररुचिका नाम लिया गया है, वह व्याकरण-शास्त्रकारोंकी श्रेणीमें आया है। कुछ लोगोंका मत है कि ये कवि भी थे। महाभाष्यकार पतंजलिने **'वाररुचं काव्यम्'** लिखकर उनका कवि होना प्रमाणित किया है। वररुचिके नामसे कुछ श्लोक सुभाषित-संग्रहोंमें उद्धृत किये गए हैं। वार्तिककार वररुचि अतिप्राचीन हैं। प्राकृत प्रकाश और कोषकार वररुचि विक्रमादित्यके समकालीन हैं। इनकी कविताओंको देखनेसे मालूम होता है कि ये विक्रमसमकालीन ही हैं।

६०. वर्ष—उपाध्याय वर्ष व्याकरणशास्त्रके आचार्य और पाणिनिके पूर्वकालीन हैं। कथासरित्सागरमें इनकी चर्चा है। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

६१. वाक्पतिराज—ये प्रसिद्ध प्राकृत महाकाव्य 'गौडवहो' (गौडवध) के कर्त्ता कन्नौजके राजा यशोवर्माके सभा-रत्न थे। राजतरंगिणीमें कश्मीरके राजा ललितादित्यके साथ हुए युद्धकी चर्चा करते हुए कल्हणने लिखा है कि—

कविर्वाक्पतिराजश्री-भवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

यशोवर्माका समय विक्रम-संवत् ७९० से ८१० तक है। इनका काव्य सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। ऐतिहासिक विद्वानोंके अनुसार विक्रम—संवत् ७९७ (७४० ई०) में कश्मीर पर आक्रमण किया और वि० सं० ८१० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। वाक्पतिराजका भी यही समय है।

६२. वामनीय—काव्यालंकार सूत्रके प्रणेता कश्मीरी विद्वान् वामन प्राचीन आलंकारिक विद्वान् हैं। आचार्य वमन कश्मीरके राजा जयादित्यके मन्त्री थे। कल्हणने लिखा है—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्यश्च मंत्रिणः ॥ रा० त०, ४-४९७

वामनके मतानुयायी आलंकारिक विद्वानोंको राजशेखरने वामनीय शब्दसे स्मरण किया है। वामन, रीतिमार्गके प्रवर्तक थे। उन्हींके काव्यालङ्कारका सूत्र है—'रीतिरात्मा

काव्यस्य'। वामनने अपने काव्यालङ्कारकी कविप्रिया नामक टीका स्वयं लिखी है। वामन, उद्भट, भामह आदिके समान समादरणीय आचार्य हैं। यह प्रायः उद्भट भट्टका समकालिक और उसका प्रतिस्पर्द्धी था। यह कश्मीरके राजा जयापीड़का मन्त्री था। जयापीड़का राज्यकाल विक्रम अष्टम शतकका पूर्वभाग (७७९-८१३ ई०) था। भट्ट उद्भट इसीका सभापति था। वामनके मतानुयायियोंमें भट्ट मुकुल प्रधान था। इसका समय ११२५ ई० है।

६३. वाल्मीकि—देखिए, प्राचेतस्।

६४. वासुदेव—राजशेखरने काव्यगोष्ठी-प्रवर्त्तक एवं स्वयं काव्य-निर्माण करनेवाले राजाओंमें वासुदेवका नाम लिखा है। भारतीय इतिहासमें वासुदेव नामके दो राजाओंकी चर्चा आई है। एक तो काण्ववंशीय ब्राह्मण वासुदेव था; जो तत्कालीन राजा देवभूतिका प्रधान-मन्त्री और सेनापति था। वह अकर्मण्य राजा देवभूतिको–मारकर स्वयं सिंहासन पर बैठा था। इसे वासुदेव (प्रथम) कहा जाता है। इसका समय ईसासे पूर्व प्रथम शतकके लगभग माना जाता है।

दूसरे वासुदेव द्वितीयका नाम इतिहासमें आता है; जो कुशान वंशका राजा था। इसका समय विक्रम प्रथम शताब्दी (१४०-१७३ ई०) सन् माना जाता है। अतः निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि राजशेखर द्वारा उल्लिखित वासुदेव कौन है? प्रथम या द्वितीय। हमारे विचारसे यह वासुदेव प्रथम है। इसके समय प्राचीन संस्कृत वाङ्मयका प्रतिसंस्करण, सम्पादन और निर्माण हुआ था। यह स्वयं विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था।

६५. वैकुण्ठ—ये श्रीकंठके चौंसठ शिष्योंमें एक थे। यह विष्णुका नाम है।

६६. व्याडि—ये व्याकरण शास्त्रके प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने संग्रह नामक प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ बनाया। कथासरित्सागरके प्रथम कथापीट–लंबकमें इनका परिचय मिलता है। व्याडीने व्याकरणशास्त्रपर एक लक्ष श्लोकोंका संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा था। इसके अतिविस्तृत होनेके कारण इसका प्रचार न हो सका—भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थके प्रारम्भमें उसकी चर्चा की है और लिखा है कि इन्होंने १४ हजार विषयोंका विवेचन किया था। अतः ग्रन्थका इतना विस्तृत होना सम्भव है। व्याडीका दूसरा नाम दाक्षायण है और पाणिनिकी माताका नाम दाक्षी है। अतः व्याडीको दाक्षीका भाई अर्थात् पाणिनिका मामा कहा जाता है। व्याडी वाहीक या पंजाबका था। व्याडीका समय पाणिनिका समय है। दोनों प्रायः समकालीन हैं। पाणिनिने व्याडीका नामोल्लेख अपनी अष्टाध्यायीमें किया है।

६७. शिशुनाग—यह शिशुनाग वंशका प्रवर्तक राजा था। पुराणोंमे लिखा है कि यह वाराणसीका राजा था और अन्तिम अवस्थामें पुत्रको राज्य देकर गिरिव्रज चला गया था। शिशुनाग वंशके दस राजाओंका नाम आता है। 'शैशुनागा नृपा दश' यह ईसवी सन् ७-८ सौ वर्ष प्राचीन राजवंशका प्रवर्तक था।

६८. शूद्रक—भारतीय इतिहासमें शूद्रक एक प्रहेलिका बन गया है। इसपर अनेक ऐतिहासिक विद्वानोंने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। राजा शूद्रकका बनाया हुआ मृच्छकटिक नामक प्रकरण संस्कृत साहित्य संसारमें अपना उच्च स्थान रखता है। इस नाटककी भूमिका या प्रस्तावनामें शूद्रकका विस्तृत परिचय दिया गया है। उक्त परिचयके देखनेसे प्रतीत होता

है कि शूद्रक ब्राह्मण जातिका था। उसने ऋग्वेद और सामवेदका अध्ययन किया था। एक अश्वमेध यज्ञ किया था और एक सौ वर्ष दस दिनोंकी आयु प्राप्तकर अन्तमें उसने अग्निमें प्रवेश किया।

इतिहासके आधारपर पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण राजा हुआ था; जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। पतंजलिके व्याकरण–महाभाष्यमें लिखा है—'इह पुष्यमित्रं याजयामः' इससे प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रके अश्वमेधमें पतंजलि भी उपस्थित थे। पुष्यमित्रके पुत्रका नाम अग्निमित्र था। यह अग्निमित्र कालिदासके मालविकाग्निमित्र नामक नाटकका प्रधाननायक है। अमरकोषके टीकाकार क्षीरस्वामीने शूद्रकके पर्यायवाची शब्दोंमें लिखा है—

······विक्रमादित्यः साहसांकः शकान्तकः।
शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्यात् सातवाहनः॥

इससे यह माना जा सकता है कि अग्निमित्र ही शूद्रक था। अग्निमित्र शुंग–गोत्रीय ब्राह्मण था। शुंग गोत्रवालोंका वेद साम है। इसलिए शूद्रकने सामवेद भी पढ़ा था। दूसरे, मालविकाग्निमित्रमें कालिदास लिखते हैं कि भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्र आदि कवियोंके प्रबन्धोंको छोड़कर कालिदासकी रचनाके लिए जनताका इतना आदर क्यों है।

इससे प्रतीत होता है कि भास, रामिल एवं कविपुत्र, कालिदासके कुछ पूर्व कालीन या समकालीन थे। भास और रामिल इन दोनों कवियोंका सम्बन्ध शूद्रकके साथ था शूद्रकका मृच्छकटिक भासके 'दरिद्रचारुदत्तम्' के आधारपर लिखा गया है। रामिल और सौमिल नामक दो कवियोंने 'शूद्रक-कथा' नामकी रचना की थी; जो सम्भवतः शूद्रकका जीवन-चरित्र मालूम होता है। राजशेखरने सूक्ति-मुक्तावलीमें लिखा है—

तौ शूद्रक-कथाकारौ वन्द्यौ रामिल-सोमिलौ॥
ययोर्द्वयोः काव्यमासीदर्धनारीश्वरोपमम्॥

अर्थात्—शूद्रककथाके रचयिता रामिल और सोमिल दोनों वन्दनीय हैं; जिन दोनोंका काव्य अर्धनारीश्वरके समान था। अर्थात् दोनोंने मिलकर उसे पूरा किया था।

इससे प्रतीत होता है कि भास, रामिल और सौमिल शूद्रकके समय उपस्थित थे; जिसका कालिदासने स्मरण किया है। इस सूत्रसे भी यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः कालिदासका अग्निमित्र ही शूद्रक हो।

६९. **शेष**—काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक; जिन्होंने शब्दश्लेषपर एक स्वतन्त्र अधिकरणका निर्माण किया।

७०. **श्यामदेव**—काव्यमीमांसामें तीन बार इनका मत उद्धृत किया गया है। ऐसा लगता है कि ये राजशेखरके समकालीन और उन्हींकी गोष्ठीके विद्वान् हों; इनका ग्रंथ या नाम राजशेखरके अतिरिक्त प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थोंमें नहीं देखा गया। 'मुकुटताडितकम्' नाटकके प्रणेता श्यामलक इनसे भिन्न हैं।

७१. **श्रीकंठ**—शिवजीका नाम है; जो काव्यविद्याके आदि प्रवर्तक हैं। सर्वप्रथम इन्होंने ही वैकुंठ आदि चौंसठ शिष्योंको इस विद्याका उपदेश किया।

७२. श्रीशर्मगुप्त—यह सम्राट् समुद्रगुप्तका ज्येष्ठपुत्र एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयका ज्येष्ठ भाई था। इसका समय तीसरी शताब्दी है।

७३. सरस्वती—प्रजापतिकी पत्नी और काव्यपुरुषकी माता।

७४. सहस्राक्ष—काव्यपुरुषके अष्टादश शिष्योंमें एक। इन्होंने 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरणकी रचना की।

७५. सातवाहन—यह संस्कृत-संसारका प्रसिद्ध कवि सातवाहन या शालवाहन वंशमें उत्पन्न 'हाल' नामक राजा था। इसे सातवाहन या शालवाहन कहते हैं। यह आन्ध्र-भृत्य वंशका १७ वाँ राजा था। सातवाहन वंशका नाम था। कथासरित्सागरमें सातवाहनके अर्थके सम्बन्धमें लिखा है—

सातेन यस्मादूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम्।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत्॥

अभिधानचिन्तामणि कोषकी टीकामें सातवाहन शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—**'सातं दत्तमुखं वाहनं यस्य सातवाहनः शालवाहनोऽपि।'**

—अभि० चि० ३. ३. ३७५।

अमरकोषके टीकाकार क्षीरस्वामीने भी—**'हालः स्यात् सातवाहनः'** लिखा है।

सातवाहन-हालने गाथाकोष या गाथासप्तशती नामक प्राकृतकी प्रकीर्ण गाथाओंका एक संग्रह लिखा है। यह महाराष्ट्री प्राकृतमें है। सातवाहन कुन्तल देशका राजा था; जो महाराष्ट्रके अन्तर्गत है। कुछ लोगोंके मतसे इसकी राजधानी गोदावरी नदीके तटपर स्थित प्रतिष्ठान पत्तन (पैठन) नगर माना जाता है। हालकी गाथाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और उच्चकोटिकी हैं। ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश आदि आलंकारिक साहित्य ग्रन्थोंमें ये गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इन्हीं गाथाओंके आधारपर आचार्य गोवर्द्धनने संस्कृतमें आर्यासप्तशती लिखी है।

सातवाहनने अपने अन्तःपुरमें प्राकृत भाषा बोलनेका नियम बना दिया था। सातवाहन स्वयं विद्वान् एवं कवि होनेके कारण कवियोंका सत्कारकर्त्ता और कविगोष्ठियोंका प्रवर्तक था। श्रीपालित नामक महाकवि उसके सभारत्न थे। ये अन्यान्य कवियोंका आश्रयदाता था। इसका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी या उसके पूर्व माना है।

सातवाहनकी गाथासप्तशतीके सम्बन्धमें अनेक महाकवियोंकी प्रशस्तियाँ मिलती हैं। महाकवि बाणने हर्ष-चरितके प्रारम्भमें लिखा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषं रत्नैरिव सुभाषितैः॥

अर्थात्—सातवाहनने अविनाशी, उत्कृष्ट एवं विशुद्ध जातिके सूक्तिरत्नोंका संग्रह करके सुन्दर कोषका निर्माण किया था।

इसी प्रकार संस्कृत और प्राकृतके अनेक महान् काव्योंमें सातवाहन और उसकी गाथाओंकी चर्चा मिलती है। कामशास्त्र, हर्षचरित आदिमें इनका नाम उद्धृत है।

७६. सारस्वतेय—ब्रह्माके सरस्वतीसे उत्पन्न पुत्र काव्यपुत्र सारस्वतेय थे। बाणभट्टने

हर्षचरितमें दधीचि ऋषिद्वारा सरस्वतीसे उत्पन्न पुत्रका नाम सारस्वत रखा है। वायुपुराण, महाभारत आदिमें सारस्वत ऋषिका नाम आता है; किन्तु राजशेखरकी कल्पना इन सबसे भिन्न है।

७७. **साहसाङ्क**—इतिहासमें साहसाङ्क विक्रमादित्यका नाम है। अमरकोषके टीकाकार क्षीरस्वामीने विक्रमादित्यको साहसांक लिखा है। इतिहास-लेखकोंकी धारणा है कि विक्रमादित्य स्वतन्त्र राजा नहीं था। समुद्रगुप्त या उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयने विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की थी। बहुत लोगोंका मत है कि उज्जयिनीका राजा विक्रमादित्य, परम वीर, प्रतापी और साहसी सम्राट् था। उसने शकोंका पराजय करके अपना विक्रम-संवत् प्रचलित किया था; किन्तु ईसाकी प्रथम शताब्दीमें लिखी गई सातवाहनकी गाथासप्तशतीमें एक गाथा मिली है; जिसमें विक्रमादित्यका नाम आया है—

संवाहन-सुख-रस-तोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्य-चरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥

इस गाथासे यह प्रतीत होता है कि विक्रमादित्यने पैर दबानेवाले किसी सेवकपर प्रसन्न होकर उसे एक लाख रुपयोंका पुरस्कार दे दिया था।

इससे यह सिद्ध है कि यह विक्रमादित्य सातवाहन या शालवाहनसे पूर्वकालीन था। यह संस्कृत भाषाका अत्यन्त भक्त, विद्वानोंका अनुरागी और स्वयं भी महाकवि था। राजशेखरने लिखा है कि इस साहसाङ्कके अन्तःपुरमें संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी। सरस्वतीकंठाभरणमें भोजने लिखा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ? ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, २—१५,

साहसाङ्क स्वयं कवि था। कवियोंकी गणनामें साहसाङ्कका नाम भी आया है।

'भासो रामिल-सौमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कविः'

सूक्तिमुक्तावलीमें भी साहसाङ्कके नामपर लिखा है—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥

—४. ५७. १११।

विक्रमादित्य या साहसाङ्क नाम तो एक ही है; किन्तु इसके सम्बन्धमें अनेक मतभेद हैं। राजशेखर, सातवाहन आदि प्रामाणिक कवियोंके अनुसार इसका अस्तित्व ईसाके पूर्व होना निश्चित है। इसने गन्धमादन नामक ग्रन्थ लिखा था।

७७. **साहित्य-विद्या-वधू**—यह राजशेखरके कल्पित आख्यानमें पार्वती द्वारा उत्पन्न की गई काव्यपुरुषकी पत्नी है।

७८. **सुरानन्द**—राजशेखरके पूर्वज कवि। ये यायावर कुलमें उत्पन्न हुए थे। विशेष के लिए भूमिका देखिए।

७९. **सुवर्णनाभ**—काव्यपुरुषके अट्ठारह शिष्योंमें एक। इन्होंने साम्प्रयोगिक अधिकरणका निर्माण किया था। कामसूत्रमें भी इनका नाम आया है।

८०. **सूर**—प्राचीन-कवियोंकी परम्परामें इनका नाम मिलता है। इनका नाम आर्य

सूर भी है। ये बुद्ध सम्प्रदाय के कवि हैं। इन्होंने बौद्धोंके प्रसिद्ध ग्रन्थ जातकमालाका निर्माण किया है। उसमें बुद्धका चरित दन्तकथाके रूपमें सुन्दरतासे वर्णित है। सूरने अश्वघोषका अनुकरण किया है। पालीके पिटक या जातक ग्रन्थोंकी कथाओंको संस्कृत-काव्यका मनोहररूप दिया है। चीनी यात्री इत्सिंगने लिखा है कि जातकमाला-काव्य बौद्धोंको अत्यन्त प्रिय था। अजन्ताकी शिलाओंपर इस काव्यके श्लोक और कथा-चित्र खुदे हैं। ४३४ ई० सन्में इसका अनुवाद चीनीभाषामें भी हुआ था। अतः यह कवि, विक्रमके दूसरे या तीसरे शतकसे नीचेका नहीं हो सकता। राजशेखरके उद्धृत पद्यमें इनका नाम उज्जयिनीमें परीक्षित कवियोंकी श्रेणीमें आया है। एक प्राचीन पद्यमें अनेक कवियोंकी विशेषताओंके साथ सूरके सम्बन्धमें भी लिखा है—

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते,
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः सूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

इस पद्यमें सूरकी उक्तियोंके लिए 'विशुद्ध' विशेषण दिया है।

८१. हरिचन्द्र—हरिचन्द्र भी सूरके समान प्राचीन कवि हैं। ये सम्भवतः राजा थे और इन्होंने गद्यकाव्य लिखा था। महाकवि बाणभट्टने अपने पूर्वज कवियोंकी प्रशस्ति लिखते हुए भट्टार-हरिचन्द्रके गद्य-प्रबन्धकी बहुत प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—

पदबन्धोज्ज्वलो हारि रम्यवर्णपदस्थितिः।
भट्टार-हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

—हर्ष० च० १—४

अर्थात्—पदबन्धसे उज्ज्वल, मनोहर एवं रमणीय वर्णों तथा पदोंसे सुसज्जित भट्टार-हरिचन्द्रका गद्य प्रबन्ध, समस्त गद्य-प्रबन्धोंमें राजाके समान है।

यहाँ भट्टार शब्दका अर्थ राजा है। उनका लिखा हुआ गद्य-प्रबन्ध भी प्रबन्धराज कहा गया है। भट्टार हरिचन्द्रका यह गद्यकाव्य अभी तक नहीं मिला। कहा जाता है कि इनके गद्यकाव्यका नाम साहसाङ्क-चरित था; जो नामसे साहसाङ्क विक्रमादित्यका जीवन-चरित प्रतीत होता है। इसीको आदर्श मानकर बाणभट्टने हर्षचरितकी रचना की होगी। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहसाङ्क-विक्रमादित्यके जीवनपर पूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। बाणभट्टके समय यह काव्य उपलब्ध था।

हरिचन्द्रकी एक टीका चरक-संहितापर भी उपलब्ध हुई है। इसका कुछ अंश प्रकाशित हुआ था और हमारे दृष्टिगोचर हुआ है। भट्टार हरिचन्द्र आयुर्वेदके भी विद्वान् थे और वैद्य-हरिचन्द्रके नामसे ये प्रसिद्ध थे। इनका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दीके लगभग माना जा सकता है।

८२. हर्ष—बाणभट्टका आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्द्धन सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट् एवं विद्वान् कवि था। इसकी राजसभामें प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांग भी कुछ दिनों तक था। इसका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नामक तीन दृश्यकाव्य इन्होंने लिखे हैं। पहली दोनों नाटिकाएँ और तीसरा नाटक है।

परिशिष्ट—२

काव्यमीमांसाके भिन्न-भिन्न स्थानों विशेषतः सत्रहवें अध्यायके देश-निरूपणमें उल्लिखित प्राचीन जनपदों, पर्वतों, नदियों आदि की वर्तमान स्थिति आदिका परिचय इस प्रकरणमें दिया गया है।

१. **अंग**—भागलपुरसे मुंगेरतक फैले हुए भू-भागका नाम अंग देश है। अनुवंशके राजा बलिके पाँच पुत्र थे—अंग, बंग, कलिंग, सुम्ह और पुण्ड्र। इन बालेय राजकुमारोंने पूर्व और पूर्व-दक्षिण दिशाके पाँच जनपदोंमें राज्य स्थापित किये। (दे० वायुपुराण, ८५, ८६, ९९ अ०) अंग देशकी राजधानी चम्पापुरी थी; जो भागलपुरसे पश्चिम दो मीलपर है। यह गंगा तटपर स्थित है। दण्डीने दशकुमारचरितमें लिखा है—'अङ्गेषु गंगा-तटे बहिश्चम्पायाः'। कनिंघमने भागलपुरसे २४ मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ीके पास चम्पानगर या चम्पापुरको अंगकी राजधानी माना है। संस्कृत-काव्योंमें मगधकी राजधानी गिरिव्रजसे पूर्व और मथुरासे दक्षिण-पूर्वके भू-भागको अंग माना है। रामायणकालमें अंग देशका राजा रोमपाद था और महाभारतके समय कर्ण अंगराज कहा जाता था। हरिवंशके अनुसार अंग देशकी राजधानी 'मालिती' थी (देखिए—हरिवंश ३२, ४९ अ०)।

२. **अन्तर्वेदी**—उत्तरकी ओर गंगासे और दक्षिणकी ओर यमुनासे घिरा हुआ, पश्चिममें विनशन अर्थात् थानेश्वरतक और पूर्वमें प्रयागतकका देश मध्यदेश या अन्तर्वेदी कहा जाता था।

३. **आन्ध्र**—उत्तरमें गोदावरी और दक्षिणमें कृष्णा नदीके मध्यके भू-प्रदेशका नाम आंध्र है। इस देशकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर थी; जिसे आजकल पैठन कहते हैं। वर्तमान तैलंगाना आंध्र देश कहा जाता है। इसका अधिकांश भाग हैदराबाद राज्यके अन्तर्गत है। इसकी प्राचीन राजधानी 'वेंगी' या 'वेगी' थी। तन्त्रशास्त्रमें आंध्रदेशकी सीमा इस प्रकार कही गई है—

'जगन्नाथादूर्ध्वभागादर्वाक् श्रीभ्रमरात्मकात्।
तावदन्ध्राभिधो देशः··············' ॥

४. **अयोध्या**—वर्तमान उत्तर-प्रदेशमें सरयूके तटपर बसी हुई उत्तर कौशलकी प्राचीनतम राजधानी अयोध्या प्रसिद्ध है। इसे साकेत भी कहा जाता था।

५. **अर्बुद**—अरावली पर्वतमालाका प्रसिद्ध आबू पर्वत; जो राजपुतानेके सिरोही राज्यके अन्तर्गत था। राजशेखरने अर्बुद पर्वतकी उपत्यकामें चारों ओर फैले हुए भू-भागको 'अर्बुद प्रदेश' माना है।

६. **अवन्तिप्रदेश**—वर्तमान मालवाका वह भाग; जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी और जिसे विक्रमादित्यकी राजधानी भी कहा जाता है। मत्स्य-पुराणमें इसका नाम वीतिहोत्र कहा गया है। बाणभट्टने वेत्रवती या वेतवा नदीके तटपर स्थित विदिशा नगरीको अवन्ति देशकी राजधानी माना है। महाभारतकालमें नर्मदाके दक्षिण तटपर इसका अस्तित्व माना गया है;

जो महानदीके तटसे पश्चिम है। मत्स्य-पुराणके अनुसार कार्तवीर्यार्जुनके कुलमें अवन्ति नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ था; उसीके नामपर इस देशका नामकरण भी हुआ।

७. अश्मक—राजशेखरने अश्मक देशकी स्थिति दक्षिण-भारतमें मानी है। ब्रह्माण्ड-पुराणके अनुसार भी यह देश दक्षिण दिशामें है। कूर्मपुराण और बृहत्संहिताने अश्मकको उत्तर-भारतका एक अंग माना है; जो पंजाबके समीप था। दशकुमार-चरित, हर्ष-चरित और कौटिलीय अर्थशास्त्रके टीकाकार भट्टस्वामी इसे महाराष्ट्रका एक प्रदेश मानते हैं। वास्तवमें अश्मक देश गोदावरी और माहिष्मती नदीके मध्यका भू-भाग है; जो विदर्भदेशका एक भाग था। रामायणमें "तथाश्मकाः पुलिन्दाश्च कालिंगाश्च विशेषतः" इसके अनुसार कुछ लोग ट्रावनकोरको अश्मक मानते हैं। यह सर्वथा विश्वसनीय नहीं है। अवन्ती तक यह प्रदेश फैला था। पाणिनिने 'अवन्त्यश्मकम्' समास बनाया है। कभी इसकी राजधानी 'पोतन' थी।

८. आनर्त—कुछ लोगोंका मत है कि यह उत्तरी गुजरातसे मिला हुआ मालवाका एक भाग है। इसकी राजधानी आनर्तपुर या आनन्दपुर थी। इसका वर्तमान नाम बड़नगर है। कुछ ऐतिहासिक इसे सौराष्ट्र या काठियावाड़ मानते हैं; जिसकी राजधानी द्वारका थी। वलभी नगरी और प्रभासतीर्थ भी इसी आनर्त प्रदेशमें माने जाते हैं। जूनागढ़ इसका प्राचीन दुर्ग था। अतः सौराष्ट्र ही आनर्त हो सकता है।

९. आर्यावर्त—उत्तरी-भारतका वह विशाल भाग; जो उत्तरमें हिमालयसे लेकर दक्षिणमें विन्ध्य पर्वत तक फैला हुआ है। मनुस्मृतिने इसकी सीमा इस प्रकार निर्धारित की है—

"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥"

अर्थात्—पूर्व और पश्चिममें समुद्र तथा उत्तर और दक्षिणमें क्रमशः हिमालय और विन्ध्याचलका मध्यभाग आर्यावर्त कहा जाता है।

१०. इरावती—यह पंजाबकी प्रसिद्ध इरावती या रावी नदी है। लाहौर नगर इसीके तटपर बसा हुआ है। कुछ विद्वान् अवध प्रदेशकी राप्ती नदीको इरावती नदी बताते हैं; किन्तु राजशेखरने उत्तरीय भारतमें इसका अस्तित्व माना है। अतः यह इरावती नदी पंजाबकी ही है।

११. इन्द्रकील—यह नाम हिमालयके एक शिखरका है। कुछ लोगोंके मतसे यह मन्दराचलका नाम है।

१२. इन्द्रद्वीप—बृहत्तर भारतके नवद्वीपोंमें एक। पुराणोंमें इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। ऐतिहासिक विद्वानोंका मत है कि भारतके पूर्वमें स्थित बर्माद्वीपका नाम इन्द्रद्वीप है; जो कभी भारतका एक अंग था।

१३. उज्जयिनी—प्रसिद्ध वर्तमान उज्जैनका प्राचीन नाम है। यह अवन्तिदेश या मालवाकी प्रसिद्ध राजधानी थी। यह नगरी शिप्रा नदीके तटपर है। इसमें प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग महाकालका मन्दिर है।

१४. उत्कल—वर्तमान उड़ीसा प्रदेश; जो कलिंग देशका उत्तरीय भाग है। वैतरणी-नदी इसकी उत्तरी सीमाका निर्माण करती है। ताम्रलिप्ती (तामलूक) नदीके दक्षिणमें कपिशा (कोसिया) नदीतक इस प्रदेशका विस्तार था। कालिदासने रघुवंशके चतुर्थसर्गमें लिखा है—

"स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः।
उत्कलादर्शितपथः कलिंगाभिमुखो ययौ॥"

पुराणोंमें लिखा है— "जगन्नाथ-प्रान्तभाग उत्कलः परिकीर्तितः"

भुवनेश्वर इसी प्रान्तका शिवक्षेत्र है। पुराणोंके अनुसार मनुकी कन्या इला सुद्युम्न थी। उसका पुत्र उत्कल था। उसीके नामपर इस देशका नाम उत्कल हुआ। उत्कलको किसी समय कर्णने जीता था। (देखिए म० भा०, कर्णपर्व, ४।८)

१५. उत्तरकोशल—अवध राज्यके दो भाग थे—उत्तर कोशल और कोशल या दक्षिण कोशल। अयोध्या और कुशावती इनकी राजधानियाँ थीं। इसे वर्तमान काल में अवध प्रान्त कहा जाता है। अयोध्या, शरावती (श्रावस्ती), लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि नगर इसीमें थे। गोमती, सरयू और तमसा नदियाँ इसमें बहती हैं। श्रीरामचन्द्रने शरावती (श्रावस्ती) का राज्य, लवको और दक्षिण कोशलकी कुशावतीका राज्य, कुशको दिया था। दक्षिण-कोशलको कुछ विद्वान् विदर्भ या महाकोशल भी कहते हैं।

१६. उत्तर कुरु—रामायण और महाभारतके अनुसार तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान उत्तरकुरुके अन्तर्गत आते हैं। पुराणोंके अनुसार शृंगवान् पर्वतके चारों ओरका भाग उत्तरकुरु-वर्ष कहा जाता है। किसी समय यह भू-भाग भारतका अंग था।

१७. उत्तरापथ—पृथूदकका उत्तरीभाग उत्तरापथ कहलाता है। पृथूदकका वर्तमान नाम पिहोवा है; जो सरस्वती नदीके तटपर स्थित है। पिहोवा, पूर्वी-पंजाबका एक जिला है; जो थानेश्वरसे ४४ मील पश्चिमकी ओर है।

१८. उत्पलावती—दक्षिणी भारतके तिनीवेली जिलेमें बहनेवाली एक नदी है; जो ताम्रपर्णीमें मिलती है।

१९. ऋक्षपर्वत—यह कुमारी-द्वीप या भारतका एक कुल-पर्वत है; जो विन्ध्य पर्वतमालाका एक भाग है और नर्मदा नदीका उद्गम स्थान है। इसका आधुनिक नाम सतपुड़ा है। विन्ध्यपर्वतसे दक्षिण ५० कोसकी दूरीपर नर्मदा और ताप्ती नदीके बीच यह विस्तृत है। इसे विन्ध्यपाद भी कहते हैं। इसकी ऊँचाई २०० फीट है।

२०. कच्छीय—यह कच्छ नामसे प्रसिद्ध है। बृहत्संहितामें इसे भरुकच्छ कहा गया है। वर्तमान कच्छकी खाड़ी प्रसिद्ध है।

२१. कपिशा—यह वर्तमान उड़ीसा प्रान्तके सिंहभूमि जिलेकी सुवर्णरेखा या कसया नदीके नामसे विख्यात है। इसका उद्गम ऋक्षपर्वत से है। कालिदासने उत्कल और कलिंग देशोंके मध्य इसकी स्थितिका वर्णन किया है।

२२. करकण्ठ—यह उत्तरापथका एक देश है; जो कोरम पर्वत-श्रेणीकी घाटीमें है। वायुपुराण और ब्रह्माण्ड पुराणके अनुसार सिन्धु तटके जनपदोंमें रन्ध्रकरक देशका नाम आता

है। निश्चय नहीं कहा जाता कि यह वही है या इससे पृथक्। कण्टकार अथवा रुद्ध-करक भी इसके नामान्तर हैं।

२३. **करतोया**—यह प्रसिद्ध करतोया नदी, बंगालके रंगपुर, दीनाजपुर और बोगरा जिलेमें बहती हुई गंगाके डेल्टाके पास ब्रह्मपुत्रसे मिलती है।

२४. **कर्णाट**—यह प्रसिद्ध कर्णाट देश है; जिसमें मैसूर, कुर्ग आदिके जिले सम्मिलित हैं। यह आन्ध्रके दक्षिण और पश्चिमका प्रान्त था। इसकी राजधानी श्रीरंगपत्तन और महिषपुर (मैसूर) है।

२५. **कलिंग**—कलिंग देश उत्तरमें उड़ीसासे लेकर दक्षिणमें आन्ध्र या गोदावरीके मुहानेतक समुद्र तटपर फैला हुआ है। राजशेखरने दक्षिण और पूर्वके सम्मिलित भू-प्रदेशको कलिंग माना है। पुराणोंमें कलिंगके कई भाग लिखे हैं—'कलिंगाश्चैव सर्वशः' (वायु पु०, ४५. १२५)। प्राचीन शिलालेखोंमें त्रिकलिंग पाठ मिलता है। इसकी राजधानीका प्राचीन नाम 'दन्तकूर' मिलता है। महाभारतमें इसका दन्तपुर नामसे उल्लेख है। कुछ ऐतिहासिक आधुनिक राजमहेन्द्रीको उसकी राजधानी मानते हैं।

२६. **कालिन्द**—हिमालय पर्वत-श्रेणीका एक भाग; जहाँसे यमुनाका उद्गम होता है। इसे जमुनोत्तरो या यमुनोत्तरी कहते हैं। यह गढ़वालके पहाड़ोंमें प्रसिद्ध स्थान है। इसी कलिंद पर्वतसे निकलनेके कारण यमुना कालिंदी या कलिंद-तनया कहलाती है।

२७. **कशेरुमान्**—जम्बूद्वीप या भारतवर्षके नौ भागोंमें एक भाग। पुराणोंमें और काव्यमीमांसामें इस विभागका नाम आता है। कनिंघमके अनुसार यह मलय-द्वीपका सिंगापुर है; जो किसी समय भारतका एक अंग था। सिंगापुरका कशेरु प्रसिद्ध है।

२८. **काञ्ची**—यह भारतकी प्रसिद्ध और पुण्य नगरी है। आजकल इसे कांचीपुरम् या कांजीवरम् कहते हैं। यह द्रविड़ या चोल देशकी राजधानी पालार नदीके तटपर बसी है; जो मद्राससे ४३ मीलपर स्थित है।

२९. **कामरूप**—वर्तमान असम या आसाम प्रदेश। राजशेखरने भारतके पूर्वी भागके एक पर्वतको कामरूप नामसे लिखा है। कामरूप जनपद नहीं है। कामरूपकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी। रघुवंशमें कालिदासने इसकी स्पष्ट चर्चा की है। कामरूप पर्वत नीलकूट-गिरि या नीलगिरिका ही दूसरा नाम है। इसमें कामाक्षा देवीका मन्दिर है। कामरूप पर्वतके कारण ही समस्त देशका नाम कामरूप हो गया।

महाभारतके समय इसका राजा भगदत्त था और हर्षवर्धनके समय उसका मित्र भास्करवर्मा यहाँका शासक था। यह करतोया नदीके तटपर अवस्थित है। पूर्वमें चीन तक इसकी सीमा है। ह्वेनत्सांग और अलबेरूनीके लेखोंसे पता चलता है कि कामरूपको चीन और वर्तमान चीनको महाचीन कहा जाता था। कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें कामरूपके लिए चीन शब्दका प्रयोग किया है और कामरूपके 'सुवर्ण-कुड्य' नामक ग्रामका उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त अशोक-ग्राम, ग्रामेरू, जोंगक, पूर्णक-द्वीप आदि ग्रामोंके नाम मिलते है। महाभारत (सभापर्व ३४-४१) में चीन शब्दका प्रयोग इसी देशके लिए किया गया प्रतीत होता है। प्राचीन कामरूप, अत्यन्त विस्तृत भारतका भू-भाग था; जो चीन तक फैला हुआ था।

३०. कम्बोज—अफगानिस्तान या उसके आसपासका उत्तरी भाग। राजशेखरने कम्बोजकी गणना उत्तरापथके देशोंमें की है। यह देश हिमालय और वंक्षु (सिन्धु) नदीके बीचका देश है। रघुवंशके चतुर्थ सर्गमें इसका स्पष्टीकरण किया गया है। कालिदासने कम्बोजमें अखरोटके वृक्षोंका होना भी लिखा है। यह देश हिन्दुकुश पर्वततक फैला हुआ है। कनिंघम और राय चौधरीके मतानुसार वर्तमान रामपुर—राजौरी काम्बोजोंकी राजधानी थी। महाभारतके अनुसार कम्बोज गणराज्य था। यहाँके पुरुष योद्धा होते थे और मुंडित शिर रहते थे। वास्तवमें यह पामीर देश है।

३१. कार्तिकेय नगर—वर्तमान कुमाऊँ या कूर्माचलकी पर्वतश्रेणीमें बैजनाथ या वैद्यनाथ नामक स्थान कार्तिकेय नगर है। यह अल्मोड़ासे ८० मील उत्तर-पश्चिम है।

३२. कालप्रिय—कालप्रियनाथ नामक शिवजीका प्रसिद्ध स्थान कान्यकुब्ज या कन्नौजके दक्षिणकी ओर है। भवभूतिने अपने नाटकोंकी रचना इन्हीं कालप्रियनाथकी यात्राके प्रसंगमें की है। भवभूति कन्नौजके राजा यशोवर्माकी सभाके राजकवि थे। भवभूतिके कुछ टीकाकारोंने उज्जयिनीके महाकालेश्वरको कालप्रियनाथ लिखा है; जो भ्रमपूर्ण है।

३३. कावेर—कावेरी नदीके तटपर बसे हुए कुछ जिलोंका भू-प्रदेश कावेर देशके नामसे कहा गया है।

३४. कावेरी—दक्षिण भारतकी प्रसिद्ध नदी। यह कुर्ग जिलेके ब्रह्मगिरि पर्वतके चन्द्रतीर्थसे निकलती है। सह्य पर्वतसे पूर्वकी ओर कुछ दूर बहकर पुनः दक्षिणाभिमुख होकर पूर्वकी ओर बहती हुई बंगालकी खाड़ीमें गिरती है। इसकी लम्बाई ४७५ कोस है।

३५. कश्मीर—प्रसिद्ध कश्मीर देश। तन्त्रशास्त्रमें इसकी सीमा इस प्रकार लिखी है—

"शारदामठमारभ्य कुंकुमाद्रितटान्तकः।
तावत्कश्मीरदेशः स्यात् पंचाशद्योजनात्मकः॥"

३६. कीर—पंजाबका बैजनाथ या कीरग्राम। यह पश्चिमोत्तर प्रदेशकी कीर्थर-पर्वत-श्रेणीके आसपासका स्थान है। किन्तु राजशेखरने इसे उत्तरापथके देशोंमें लिखा है। सम्भव है, यह देश कीर्थर-पर्वत-श्रेणीके उत्तर अफगानिस्तानका उत्तरीय भाग हो। प्राचीन इतिहासके विद्वानोंका मत है कि कीरदेशके राजा 'शाही' ने ईसाकी नवीं और दशवीं शताब्दीमें अफगानिस्तान और पंजाबका शासन किया था। किसी-किसी ऐतिहासिकने इसे कश्मीरका भाग माना है।

३७. कुन्तल—राजशेखरने कुन्तलको दक्षिण दिशाका एक देश बताया है। जिसका शासक प्रसिद्ध राजा सातवाहन था। महाभारतमें मध्यदेश और दक्षिणदेश, दोनोंमें कुन्तल राज्यका वर्णन आता है। महाभारत युद्धमें कुन्तलकी स्थिति थी। (दे० भीष्म पर्व, ४७-१२) राजशेखर-वर्णित कुन्तल देश गोदावरी और कृष्णाके मध्य भागमें था। किसी समय इस देश द्वारा कर्णाट देशका कुछ भाग और सम्पूर्ण विदर्भ या बरार प्रान्त शासित होता था। यह चोल देशके उत्तरभागमें था। कल्याण इसकी राजधानी थी। कुछ लोग प्रतिष्ठानपुर या पैठनको इसकी राजधानी मानते हैं। हैदराबादकी वायव्य-दिशाका भू-भाग इसके अन्तर्गत था।

३८. कुमारी द्वीप—यह भारत वर्षके नौ खंडोंमें एक है। राजशेखरके मतानुसार समस्त भारतवर्षका नाम कुमारीद्वीप था; जो हिमालयसे कन्याकुमारी अन्तरीपतक फैला हुआ विस्तृत भू-भाग है। इसमें विन्ध्य, पारियात्रक आदि सात कुल-पर्वतोंका वर्णन है। कुमारीद्वीपके सम्बन्धमें राजशेखरका वर्णन सर्वथा वायुपुराणके आधारपर है। वायुपुराणमें लिखा है—इस भारतवर्षमें नौ द्वीप हैं जो समुद्रका व्यवधान होनेके कारण परस्पर अगम्य हैं। इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सोमद्वीप, गन्धर्वद्वीप और नवाँ कुमारीद्वीप। यह कुमारीद्वीप, हिमालयसे कन्याकुमारी तक दक्षिण और उत्तर चार-सौ कोसमें है। इस तिरछे लम्बे द्वीपपर जो विजय प्राप्त करता है; उसे चक्रवर्ती कहा जाता है। इस कुमारीद्वीपमें सात कुल पर्वत हैं; जिनका नाम महेन्द्र, मलय, सह्य, शक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र है (दे० वायु पु०, अ० ४५,७४,७९)।

३९. कुमापुरम्—कन्याकुमारीकी राजधानी थी।

४०. कुलूत—यह उत्तरापथका एक प्रसिद्ध देश है; जो निस्सन्देह वर्तमान कांगड़ा जिलेकी कुलू तहसील है। यह तहसील व्यासाकी ऊपरी घाटीपर स्थित है। ह्वेनत्सांगने लिखा है कि कुलूतका राज्य जालंधरसे ११७ मील है। इसकी राजधानी स्थानपुर (सुलतानपुर) थी; जो आज भी इसका प्रधान नगर है। यह जालंधरसे उत्तर-पूर्व व्यास-नदी के दक्षिण तटपर स्थित है।

४१. कुहू—उत्तरापथकी प्रसिद्ध नदी। इसे काबुल नदी कहते हैं। वेदोंमें इसे कुभा कहा गया है। ग्रीक लोग इसे 'कोफस' कहते हैं। यह सिन्धुकी सहायक नदी है और कोहीबाबा पहाड़के नीचेसे निकलती है।

४२. कृष्ण-वेणी या कृष्णा—यह दक्षिण देशकी प्रसिद्ध नदी है। इसीका नाम कृष्ण-वेणी हो जाता है; जबकि यह वेणीके साथ संगम करती है। यह सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) के महाबलेश्वर शिखरके पाससे निकलकर पूर्वाभिमुख मछलीपट्टनके समीप समुद्रमें गिरती है। इसमें वामपार्श्वसे भीमरथी या भीमानदी तथा दक्षिण-पार्श्वसे तुंगभद्रा नदियाँ मिलती हैं। इसकी लम्बाई ७५० कोस है।

४३. केकय—पंजाबके व्यास और सतलजके मध्यका भाग केकय कहा जाता है। यह सिन्ध देशकी सीमासे मिलता है। दशरथकी पत्नी कैकेयी इसी देशकी कन्या थी। प्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् पार्जिटरने केकयकी स्थिति मद्रके पास लिखी है। सम्भव है, पुरातन वर्णु केकयका एक भाग हो। वर्णु नदके कारण उस देशका नाम बन्नू है। बन्नूके समीप ककी या कैकई नामक ग्राम अब भी विद्यमान हैं। कैकय प्राचीनतम देश है। उपनिषदोंमें ब्रह्मवादी केकय-अश्वपतिका नाम मिलता है।

४४. केरल—दक्षिणका मालाबार प्रान्त केरल कहा जाता है; जिसमें मालाबार, कोचीन और ट्रावनकोरके जिले सम्मिलित हैं। यह कोङ्कणके दक्षिण भागमें गोकर्ण क्षेत्रसे कन्या-कुमारी तकका प्रदेश था। इसमें वेत्रवती, सरस्वती और काली नदी ये तीन प्रसिद्ध नदियाँ हैं। रघुवंश (४।५५) में वर्णित मुरला नामकी यही काली नदी है।

४५. कोल्लगिरि—वर्तमान कुर्ग, जिसमें मैसूर भी सम्मिलित है। इसे कोलगिरि या कोडुगु कहते हैं। यहींसे कावेरी नदीका उद्गम होता है।

४६. कोशल—अवध राज्यका दक्षिणी भाग। इसकी राजधानी कुशावती है। यह विन्ध्यके भागमें है। (देखिए, उत्तरकोशल) इसका प्राचीन राजा ऋतुपर्ण था। उसकी राजधानी शिफाली थी।

४७. कोंकण—यह देश आजकल परशुरामक्षेत्र के नामसे प्रसिद्ध है। इस क्षेत्रकी भूमि सह्याद्रि (पश्चिमीघाट) से अरब सागर तक फैली हुई है। रघुवंशके चतुर्थ-सर्गमें कालिदासने इसे अपरान्त देश कहा है। **'अपरान्त-महीपाल-व्याजेन रघवे करम्'**। यह सूरत (सूर्यपत्तन) से रत्नागिरितक फैला हुआ है। कल्याण, बम्बई आदि इसी देशके नगर हैं। यादव-प्रकाश कोषमें लिखा है—**"अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च शूर्पारकादयः"**। अष्टांग-हृदयके टीकाका अरुणदत्तने लिखा है **'अपरान्ताः कोंकुणाः'**। पुराणोंमें अपरान्त जनपदोंके नाम दिये गये हैं, जिनमें ये मुख्य हैं—शूर्पारक, कारस्कर, नाशिक, भरुकच्छ, माहेय, सारस्वत, काच्छीय, आनर्त, सुराष्ट्र और अर्बुद आदि।

४८. क्रथ-कैशिक—यह विदर्भ देशका प्रसिद्ध नाम है। कालिदासने रघुवंशके पञ्चम सर्गमें क्रथ-कैशिकका नाम विदर्भ देशके लिए प्रयुक्त किया है। राजशेखरने दक्षिणापथके देशोंमें क्रथ-कौशिकको विदर्भसे पृथक् माना है। सम्भव है, राजशेखरके समय क्रथ-कैशिक, विदर्भका ही एक भाग; पृथक् राजा द्वारा शासित होता हो। महाभारतके सभापर्व (२१२ अध्याय) में लिखा है कि विदर्भ देशके एक राजाने इस राज्यको क्रथ और कैशिक नामक दो बालकोंके लिए दो भागोंमें विभक्त कर दिया था। इसीलिए इस देशका नाम क्रथ-कैशिक पड़ा था। यह वर्तमान विदर्भका एक भाग है।

४९. गंगा—भारतकी प्रसिद्ध पुण्य नदी है। राजशेखरने इसे भारतके उत्तर और पश्चिम दोनों ओर माना है। यह गढ़वाल जिलेके गंगोत्री नामक स्थानसे दो मील ऊपर विन्दुसरसे निकलती है। इसी विन्दुसरसे लेकर कन्याकुमारी तक चक्रवर्ती क्षेत्र कहा जाता है।

५०. गन्धर्व द्वीप—भारतके नौ खंडोंमें एक। कनिंघम आदि ऐतिहासिक विद्वानोंका मत है कि काबुल, गान्धार आदि देश गन्धर्व द्वीप हैं। कालिदासने भी इसी देशको गन्धर्व देश कहा है।

५१. गभस्तिमान्—भारतके नौ खंडोंमें एक। कनिंघम आदि विद्वानोंके मतानुसार यह भारतके दक्षिण-पश्चिम प्रदेशका एक भाग है।

५२. गांग—राजशेखरने इसे दक्षिणापथका एक देश कहा है। अनुमानतः यह दक्षिणका कोंगु प्रदेश प्रतीत होता है; जिसमें कोयम्बटूर और सलेमके जिले भी सम्मिलित हैं। इस देशका नाम गांग या कोंगु होनेका कारण यह प्रतीत होता है कि ईसाकी दूसरी शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीतक इस देशपर पश्चिमके गांग-वंशके राजाओंका शासन था। कोंगु शब्द इसी गांग शब्दका अपभ्रंश समझा जाता है। गांग-वंशके राजाओंका शासन मैसूरके दक्षिण भाग, सलेम, कोयम्बटूर, नीलगिरि तथा मालाबारके कुछ भागोंपर था। सम्भवतः राजशेखरने इसी देशको लक्ष्य करके दक्षिणापथमें इस राज्यके अस्तित्वका उल्लेख किया है।

५३. **गाधिपुर**—यह कान्यकुब्ज या कन्नौजका दूसरा नाम है। बाल-रामायण नाटकके दशम अंकमें गंगा तटपर स्थित इस नगरका उल्लेख किया गया है। कोशोंमें भी महोदय, गाधिपुर आदि कान्यकुब्जके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

५४. **गिरिनगर**—यह गुजरातके प्रसिद्ध पर्वत गिरिनारके आसपासका प्रदेश है। राजशेखरने इसे पश्चिमी भारतका एक प्रदेश माना है। यह गिरिनार पर्वत, जिसे पुराणोंमें रैवतक पर्वत कहा गया है। यह काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ नगरके समीप है। महाकवि माघने अपने शिशुपालवध महाकाव्यमें श्रीकृष्णकी सेनाओंका द्वारिकासे चलकर रैवतक पर्वतपर शिविर डालनेके अतिरिक्त विविध क्रीड़ाओंका वर्णन किया है। श्री आपटेने दक्षिणापथके एक जिलेका नाम गिरिनगर लिखा है।

५५. **गोदावरी**—दक्षिण भारतकी प्रसिद्ध नदी। यह सह्यपर्वत (पश्चिमी घाट) के पूर्व-शिखर त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थानके पास ब्रह्मगिरि पर्वतसे निकलती है। त्र्यम्बकेश्वरका स्थान, वर्तमान नाशिक नगरसे १२ मीलकी दूरी पर है। यह नदी, राजमहेन्द्रीके पास पूर्व समुद्र (बंगालकी खाड़ी) में गिरती है और ९०० मील लम्बी है।

५६. **गोवर्द्धन**—यह उत्तर भारतका प्रसिद्ध पर्वत वृन्दावनसे ८० मील दूर मथुरा जिलेमें स्थित है।

५७. **गौड़**—राजशेखरके मतानुसार बनारससे बंगाल तक फैले हुए भू-भागको गौड़ देश माना गया है। उन्होंने इस देशकी स्त्रियोंके वेश-विन्यासकी प्रशंसा की है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री नन्दूलाल दे के कथनानुसार समग्र बंगाल गौड़ देश कहा जाता है। पालवंश और सेनवंशके राजा गौड़ देशके राजा कहे जाते थे। इस देशकी राजधानीका नाम गौड़ था। राजा लक्ष्मणसेनने लक्ष्मणवती या लखनौतीको गौड़ देशकी राजधानी बनाया था। स्कन्दपुराणमें गौड़-देशकी सीमा इस प्रकार कही गई है।

'बंगदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगः शिवे। गौड-देशः समाख्यातः'

५८. **चकोर**—राजशेखरके मतानुसार यह पूर्व देशका एक पर्वत है। इसे चरणाद्रि या चुनार समझा जाता है; जो मिर्जापुर जिलेमें है। पालवंशके राजाओंने इस पहाड़ी पर किला बनवाया था।

५९. **चक्रवर्ती क्षेत्र**—राजशेखरने दक्षिणके कन्याकुमारी क्षेत्रसे लेकर उत्तरमें हिमालयके विन्दु-सरोवर तकके एक सहस्र योजन (४०० कोश) विस्तृत भू-भागका नाम चक्रवर्ती क्षेत्र कहा है। इस सारे क्षेत्रपर शासन करनेवाला राजा चक्रवर्ती कहा जाता है। अर्थशास्त्रमें कौटिल्यने भी इसे ही चक्रवर्ती क्षेत्र माना है। इसका दूसरा नाम कुमारीखण्ड भी है; जो भारतवर्षके नौ खण्डोंमें एक है।

६०. **चन्दनगिरि**—दक्षिण देशका प्रसिद्ध पर्वत मलयाचल चन्दनगिरिके नामसे प्रसिद्ध है। राजशेखरने बाल-रामायणके सातवें अंकमें सेतु-बन्धनका प्रारम्भ मलय-पर्वतके मूलसे माना है।

६१. **चन्द्रभागा**—पञ्जाबकी पाँच प्रसिद्ध नदियोंमें एक नदी चिनावका नाम चन्द्रभागा है। यह सिन्धुकी सहायक नदियोंमें है।

६२. **चन्द्राचल**—हिमालयके एक शिखरभागका नाम चन्द्राचल है। यहींसे चन्द्रभागा-का उद्गम होता है। चन्द्र पर्वतसे निकलनेके कारण ही पुराणोंमें इसे चन्द्रभागा कहा गया है। जैनियोंका तीर्थ स्थान चन्द्र पर्वत, इससे भिन्न और रंगपट्टमके पास दक्षिण-भारतमें है। राजशेखर द्वारा उद्धृत चन्द्रगिरि भी यही उत्तरापथका चन्द्रगिरि है।

६३. **चोड़ या चोल**—दक्षिणके चोड़ देशका विस्तार यद्यपि बहुत बड़ा था, किन्तु राजशेखरके समय चोड़ या चोल राज्यमें तंजौर और दक्षिण आरकाटके जिले सम्मिलित थे। चोल देशके अन्य जिलोंको राजशेखरने कांची और कावेर नामसे पृथक् लिखा है।

६४. **जाह्नवी**—गंगानदीका ही दूसरा नाम है।

६५. **टक्क**—विपाशा और सिन्धु नदीके मध्यका भाग टक्क या वाहीक कहा जाता था। शाकल या स्यालकोट टक्कदेशकी राजधानी थी। जिसमें मद्र और आरट्ट देश भी सम्मिलित थे। राज-तरंगिणीने टक्क देशकी स्थितिको चन्द्रभागा या चिनावके तटपर माना है। राज-शेखरके मतानुसार टक्कदेशवासी अपभ्रंश भाषाका प्रयोग करते थे। कुवलयमाला कथाके अनुसार वाहीक या पंचनद देश टक्क कहा जाता था।

६६. **तंगण**—राजशेखरने इस जनपदका उल्लेख उत्तरापथमें किया है। प्रसिद्ध ऐति-हासिक श्री नन्दूलाल देके मतानुसार यह प्रदेश रामगंगा नदीसे लेकर सरयूके ऊपरी भागतक फैला हुआ है। पाण्डुकेश्वरमें प्राप्त उत्तर गुप्तकालीन शिलालेखोंमें तंगण देशका नाम मिलता है। यह गढ़वालके उत्तरका प्रदेश है। यहाँ नाटे कदके टाँगन घोड़े प्रसिद्ध हैं।

६७. **ताप्ती**—गुजरातकी प्रसिद्ध नदी तपती या ताप्ती। यह ऋक्ष-पर्वतकी सतपुड़ा-श्रेणीसे निकलकर सूरत नगरके पास समुद्रमें गिरती है। इसकी लम्बाई ४६० कोश है।

६८. **ताम्रपर्ण**—भारतवर्षके नौ खंडोंमें एक। यह सीलोनका प्रदेश है।

६९. **ताम्रपर्णी**—यह दक्षिणकी प्रसिद्ध नदी मलयाचलके अगस्तिकुण्डसे निकलकर मद्रासके तिनेवेली जिलेमें पूर्वाभिमुख होकर पूर्व समुद्र (बंगालकी खाड़ी) में गिरती है।

७०. **ताम्रलिप्तक**—यह बंगालका प्रसिद्ध स्थान तमलुक है। बंगालके मिदिनापुर जिलेमें रूपनारायणके पश्चिमी तटपर स्थित है।

७१. **तुंगभद्रा**—दक्षिणदेशकी प्रसिद्ध नदी; जो कृष्णा नदीकी सहायक है।

७२. **तुरुष्क**—पूर्वी तुर्किस्तान। राजशेखरने इसे उत्तरीभारतके जनपदोंमें लिखा है। इसे चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। यहाँ उइगुर—तुर्क बसे थे; जो बौद्ध धर्मानुयायी और भारतीय संस्कृतिके रक्षक थे। इनके अनेक सांस्कृतिक भग्नावशेष चीनी तुर्किस्तानमें मिले हैं। यह भारतका एक जनपद था।

७३. **तुषार**—राजशेखरने इस जनपदको उत्तरी भारतके देशोंमें लिखा है। राजतरङ्गिणीके सम्पादक स्टाइनने वंक्षु नदीके तटवर्ती देशोंमें बलख और बदख्शान नामक जनपदोंको तुषार या तुखार नामसे लिखा है (दे०, रा० त०, भा० १, पृ० १३६, स्टा० ए०)। सुप्रसिद्ध वंक्षु नदी तुषार, लम्पाक, पह्लव, पारद और शक देशोंमें बहती है। कनिष्क आदि सम्राट् इसी

जातिके थे। इस जातिको तुषार या तुखार कहते हैं। चीनी भाषामें इसे यूहेची कहते हैं। यूनानी लेखक टालमीने इन्हें 'थगोरोई' लिखा है। सम्भव है यह 'ठाकुर' शब्दका अपभ्रंश हो।

७४. **तुषारगिरि**—हिमालयका एक शिखर; जो गंगोत्रीके समीप है। राजशेखरने इसी शिखरको सरस्वतीपुत्र सारस्वतका और गौरीकी पुत्री साहित्य-विद्याका जन्मस्थान लिखा है।

७५. **तोषल**—यह कोशल (अवध) का दक्षिणी भाग है। धौलीमें प्राप्त अशोकके शिलालेखमें तोशलीका नाम आया है; जो सम्भवतः तोषलकी राजधानी थी। राजशेखरने भारतके पूर्वभागमें इसकी स्थितिका उल्लेख किया है।

७६. **त्रवण**—यह पश्चिमी भारतका जनपद है। राजशेखरने सुराष्ट्र और त्रवण देश-वासियोंकी भाषा अपभ्रंश कही है।

७७. **दक्षिण देश**—दक्षिण भारत; जिसके उत्तरमें नर्मदा और दक्षिणमें कन्याकुमारी अन्तरीप है।

७८. **दक्षिणापथ**—दक्षिणदेशका ही नाम है।

७९. **दंडक**—यह रामायणमें वर्णित दण्डकारण्य या दण्डक वन नहीं हो सकता; क्योंकि राजशेखरने उसे महाराष्ट्रके अन्तर्गत बताया है। कुछ विद्वानोंका मत है कि यह चोल और कांचीके मध्यवर्ती 'तोंडै मंडल' या 'डिंडीवनम्' का नाम हो। यह भी सम्भव है कि राजशेखरने महाराष्ट्रके अतिरिक्त उसी दण्डकारण्यको लक्ष्य करके लिखा हो; जो रामायणमें प्रसिद्ध है।

८०. **दर्दुर**—कालिदासने रघुवंशके चतुर्थ-सर्गमें दक्षिण दिशाके मलय और दर्दुर नामक दो पर्वतोंका वर्णन ताम्रपर्णी नदीके समीप किया है। इस दर्दुर पर्वतके परिचयमें भी कठिनाई है; किन्तु मद्रास प्रान्तके नीलगिरि पर्वतको दर्दुर मानकर ऐतिहासिक विद्वानोंने समस्याका समाधान किया है। राजशेखरने इस दर्दुर नामक पर्वतकी स्थिति पूर्वीय भारतमें लिखी है। अनुमानतः विन्ध्य पर्वतके पूर्वीभागमें अवस्थित देवगढ़ नामक शिखरको दर्दुर मानकर संगतिकरण हो सकता है।

८१. **दशपुर**—मालवा प्रान्तका मन्दसौर नगर प्राचीन दशपुर है। यहाँके ब्राह्मण आज भी दसौरी या दसौराके नामसे प्रसिद्ध हैं। दसौरा शब्द दशपुरका अपभ्रंश है। कालिदासने मेघदूतमें दशपुरका वर्णन किया है। कुछ लोग चर्मण्वती नदीके तटपर स्थित धौलपुरको दशपुर मानते है।

८२. **दसेरक**—अभिधानचिन्तामणि (४. २३) में हेमचन्द्रने लिखा है—'मरवस्तु दसेरकाः। 'अभिधानचिन्तामणिकी टीकामें लिखा है कि मरु और साल्व-ये पश्चिम दिशाके देश हैं। राजशेखरने भी इसे पश्चिम दिशाका प्रदेश लिखा है। दशेरक सिन्धु-मरुका भू-भाग है। इसमें ऊँटोंकी उत्पत्ति अत्यधिक मात्रामें होती है। इसीलिए ऊँटका नाम दासेरक है। वायुपुराणमें इसका नाम दशेरुक लिखा है। महाभारतके भीष्मपर्वमें दासेरक गणोंके नाम हैं (दे० ४६, ५२, ८)।

८३. **देवसभा**—राजशेखरके मतानुसार देवसभा पश्चिमीय भारतका प्रदेश है। अनुमानतः देवास रियासत या उदयपुरके धेवार झीलके प्रदेशको देवसभा कहा जा सकता है। हमारी समझमें देवास देवसभाका विकृत रूप है। धेवर झीलके प्रदेशसे सरस्वती और साबरमती नदियाँ निकलकर पश्चिम भारतकी ओर जाती हैं।

कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें चन्दनके भिन्न-भिन्न प्रकारोंमें 'देव-समेय' नामक चन्दनकी चर्चा की है; जो सम्भवतः देवसभा पर्वतोंमें उत्पन्न होता है। राजशेखरने देवसभा-पर्वत और उसके उपत्यका प्रदेश दोनोंको एक ही नामसे उल्लिखित किया है। राजशेखर भी देवसभाको चन्दनका उत्पादक पर्वत मानता है।

८४. **देविका**—उत्तर भारतकी एक नदी। यह वर्तमान 'डीग' नदीका प्राचीन नाम मालूम होता है। यह नदी रावीकी सहायक नदी है; जो मध्य प्रदेशमें बहती है। यह जिला स्यालकोटसे होती हुई और जिला गुजराँवालाका स्पर्श करती हुई कालाशाह—काकूसे आगे टपियाला ग्रामके पाससे बहती है। इस नदीको आज भी द्योका कहते हैं। नीलमत पुराणमें लिखा है—

'यैव देवी उमा सैव देविका प्रथिता भुवि।
मुद्राणामनुकम्पार्थं भवद्भिरवतारिता'

८५. **द्रमिल**—यह द्रविड़ देशका नाम है (दे० द्रविड़)।

८६. **द्रविड़**—द्रविड़ या द्रमिल दक्षिण भारतका साधारण नाम है। यह नाम किसी जनपद–विशेषका नहीं है। गौड़ देशके समान ही द्रविड़ देश भी साधारणतया दक्षिण देशका नाम है। कृष्णा और पोलार नदियोंके मध्य भागका देश द्रविड़ देश कहलाता है; जिसकी राजधानी किसी समय कांची थी।

८७. **द्रोणाचल**—यह कूर्माचल श्रेणीका एक पर्वत है; जिसे आजकल दूनागिरि कहते हैं। यह अल्मोड़े जिलेके रानीखेतसे १६ मीलकी दूरी पर है।

८८. **नर्मदा**—राजशेखरने इसे दक्षिण भारतकी नदियोंमें लिखा है। यह विन्ध्य पर्वत-श्रेणीके अमरकंटक या मेकल नामक शिखरसे निकलकर भरुकच्छ (भड़ोच) के पास अरब समुद्रमें गिरती है।

८९. **नागद्वीप**—भारतके नौ खंडोंमें एक; जो पश्चिमी भारतमें है।

९०. **नाशिक्य**—प्रसिद्ध नाशिक पंचवटी है। यह गोदावरीके तटपर स्थित है। महाभाष्यमें पतंजलिने इसका नामोल्लेख किया है। इसके समीप त्रिरश्मि पर्वतपर पांडुलेना गुफा है। यहाँ आंध्रों, क्षत्रपों और आभीरोंके शिलालेख अब भी मिलते हैं।

९१. **निषध**—जम्बूद्वीप या एशियाके प्रसिद्ध पर्वतोंमें एक। इसके साथ रम्यक वर्षका सम्बन्ध है।

९२. **नीलगिरि**—यह जम्बूद्वीप या एशियाके प्रसिद्ध पर्वतोंमें है। इसके साथ रम्यक-वर्षका सम्बन्ध है। यह नीलगिरि, महामेरुसे उत्तरकी ओर है।

९३. **नेपाल**—राजशेखरने नेपाल पर्वत और नेपाल देश दोनोंको पूर्वीय भारतमें सम्मिलित किया है। यह प्रसिद्ध है।

९४. **पयोष्णी**—दक्षिण भारतकी एक नदी; जिसे आजकल पूर्णा कहते हैं। यह तापीकी सहायक नदी है।

९५. **पल्लव**—दक्षिण भारतके कुछ भागपर पल्लव वंशका शासन पाँचवीं शताब्दीसे नवीं शताब्दी तक रहा है। कांची पल्लव-वंशकी राजधानी थी। कांचीके चारों ओरका प्रदेश पल्लव प्रदेश कहा जाता था। राजशेखरने कांचीको एक स्वतन्त्र जनपद माना है। वायु-पुराणमें इसका नाम आया है। उसके अनुसार पह्लव देश उत्तर भारतमें था।

९६. **पश्चाद्देश**—राजशेखरने पश्चिमी भारतको पश्चाद् देश कहा है। इसमें सिन्ध, पश्चिमी राजपूताना, कच्छ, गुजरात तथा नर्मदा तटका नीचेका भाग सम्मिलित था। इसकी पूर्वीय सीमापर देवसभा नामका पर्वत है।

९७. **पांचाल**—पांचाल नाम मध्य देशका है। थनेसरसे लेकर प्रयागतक और हिमालयकी उपत्यकासे लेकर यमुनातक फैला हुआ यह प्रसिद्ध देश है; जो उत्तर और दक्षिण दो भागोंमें विभक्त है। दक्षिण पांचालकी राजधानी अहिच्छत्रा और उत्तरकी कांपिल्य थी। इन दोनों भागोंको गंगा नदी पृथक् करती है। राजशेखरने पांचालको 'अन्तर्वेदी' नामसे भी लिखा है। राजशेखरके समय पांचालकी राजधानी, सभ्य और सुशिक्षित नगर कान्यकुब्ज या कन्नौज थी। गंगाके उत्तर प्रदेशको उत्तर-पांचाल कहते हैं। इसकी राजधानी कांपिल्यसे ३५ मील उत्तर अहिच्छत्रा थी। इसे आजकल 'अहिच्छत्ता' कहते हैं।

९८. **पाटलिपुत्र**—मगधकी प्रसिद्ध राजधानी पटना नगर।

९९. **पांड्य**—मद्रासके वर्तमान मदुरा और तिन्नीवेली जिलोंका प्राचीन नाम पांड्य है। कालिदासने रघुवंशके चतुर्थ-सर्गमें पांड्यकी राजधानीका नाम उरगपुर लिखा है। यह वर्तमान उरयूर स्थान है जो त्रिचनापल्ली जिलेमें है। उरयूर नाम उरगपुरका अपभ्रंश प्रतीत होता है। कुछ लोग उरगपुरका अर्थ नागपुर करते हैं; जो इतिहासविरुद्ध है। कुछ लोग मद्राससे १६० मील दक्षिणकी ओर स्थित नागपट्टमको कालिदासका नागपुर या उरगपुर मानते हैं। दक्षिणका प्रसिद्ध रामेश्वर मन्दिर भी पांड्यदेशके अन्तर्गत है। आजकलके द्रविड़ प्रान्तमें चेर, चोल और पांड्य तीनों सम्मिलित हैं।

१००. **पारियात्र**—यह कुमारीद्वीप या भारतवर्षका एक कुलपर्वत है। यह सम्भवतः विन्ध्य पर्वतमालाका एक भाग है; जो कच्छकी खाड़ीकी ओर है। कुछ ऐतिहासिक विद्वानोंके मतसे यह हिमालयकी शिवालक पर्वतमालाका नाम है।

१०१. **पाल**—राजशेखरने दक्षिणापथमें पाल-मंजरका उल्लेख किया है। यह संदिग्ध है कि यहाँ पाल और मंजर पृथक् देश हैं या एक ही। डा० भंडारकरने पालको महाड़ के समीप माना है। (दे० डा० भंडारकरः हिस्ट्री ऑफ डेक्कन ८।)

१०२. **पुण्ड्र**—यह पुंड्रवर्धन नामसे प्रसिद्ध है। यह पूर्व बंगालके मालदा जिले में है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी इस देशका नाम आया है। वर्तमान बोगरा जिलेका महास्थान-

गढ़ नामक ग्राम पुंड्र जनपदमें था। इस ग्राममें अशोकका एक शिलालेख मिला है। उसमें पुंड्र नगरके महामात्रके लिए आज्ञा दी गई है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (अ० ३२) में लिखा है कि पुंड्र देशका वस्त्र श्याम और मणिके समान स्निग्ध वर्णका होता है। महाभारत (सभापर्व ७८, ९३) में पुंड्रके राजाओंका दुकूल आदि लेकर महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उपस्थित होना लिखा है। यादव-प्रकाश कोशकारके अनुसार 'पुंड्रास्तु वरेन्द्रा पुंड्र लक्षणा' अर्थात् वरेन्द्र पुंड्र था।

१०३. **पूर्वदेश**—पूर्वीय भारत। बनारससे आसाम और वर्मा तकका बृहत् भू-भाग पूर्व-देश कहा जाता है।

१०४. **पृथूदक**—पूर्वी पंजाबके कर्नाल जिलेका प्रसिद्ध पिहोवा या पृथूदक तीर्थ। यह सरस्वती नदीके तटपर बसा है। राजशेखरने इसे उत्तरापथका जनपद माना है। वर्तमान पिहोवा सरस्वतीके उत्तरी भागमें है। यह थनेसरसे पश्चिम ४० मीलकी दूरी पर है।

१०५. **प्रयाग**—भारतका प्रसिद्ध तीर्थस्थान। जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती (त्रिवेणी) का संगम होता है। यह मध्यदेशको अंतिम पूर्वीय सीमा है।

१०६. **प्राग्ज्योतिष**—आसाम प्रान्तकी राजधानी कामरूप या कामाक्षा। कालिदासने रघुवंशके चतुर्थ-सर्गमें कामरूप और प्राग्ज्योतिषपुरको एक ही माना है। राजशेखरने पर्वतका नाम कामरूप लिखा है। इसी पर्वतके नामसे देशका नाम भी कामरूप हुआ। प्राग्ज्योतिष के नामसे यह प्रतीत होता है कि ज्योतिष नामके दो नगर थे। प्राग्ज्योतिष पूर्व दिशाका कामाक्षा है और उत्तर ज्योतिष अमर पर्वतके समीप है। महाभारत (सभापर्व ३५।११) में इसका नाम आया है। रामायण (बालकांड ३०।६) में प्राग्ज्योतिषकी स्थापनाका उल्लेख है।

१०७. **बर्बर**—राजशेखरने इसे उत्तरी भारतके जनपदोंमें लिखा है। पुराणोंके अनुसार भी यह देश उत्तर या उत्तर पश्चिम माना गया है। कनिंघमके अनुसार यह सिन्धु नदीका तटवर्ती 'भम्बूरा' नामक स्थान है। यह चन्दनका उत्पत्तिस्थान है। प्राचीन ग्रन्थोंमें बार्बरिक चन्दनका नाम आता है। यह बर्बर देश सिन्धु नदी के पश्चिम तटपर स्थित बर्बरीक, बर्बरी और बर्बरीकम् नामसे भारतकी पश्चिमोत्तर दिशामें स्थित है। राजशेखरके मतानुसार यह देश उत्तर दिशामें हैं। ऐसी स्थितिमें यह बलूचिस्तानका उत्तरी भाग हो सकता है।

१०८. **बाल्हवेय**—राजशेखरने उत्तर दिशाके जनपदोंमें इसकी गणना की है। यह सम्भवतः मुलतानके समीपका भाटिया नामक स्थान है। भारतीय और अरब इतिहासकारोंने भाटियाको मुलतानके पास एक सुदृढ़ किलेके रूपमें वर्णित किया है; जो सिन्धु नदीके तटपर स्थित था। कनिंघमके मतानुसार बाहिया या वहाटिया मुलतान और अरोर या अलोरके बीच था।

१०९. **बाह्लीक**—प्राचीन ग्रन्थोंमें बाह्लीक और वाहीक नामोंमें बहुत गड़बड़ी देखी जाती है। वाहीक पंजाब और पंचनदका भाग था तथा बाह्लीक भारतकी उत्तर-पश्चिम सीमाका देश था। यह काम्बोज और लम्पाक आदिके पास था। बाह्लीक देशकी हींग और केसर प्रसिद्ध है। कोषोंमें हींग और केसरका नाम ही बाह्लीक है। वाह्लीक बाहीकसे

भिन्न वर्तमान बदख्शांका एक भाग होना चाहिए। बाह्लीकके वैद्य कांकायनका नाम आयुर्वेदमें अत्यधिक सम्मानके साथ लिया जाता है। वर्तमान बलख बाह्लीक था।

११०. **बिन्दुसर**—यह हिमालयका एक गुप्त सरोवर है। यहींसे गंगानदीका उद्गम होता है। यह प्रसिद्ध गंगोत्रीके स्थानसे दो मील दक्षिणकी ओर है। यहींसे चक्रवर्ती क्षेत्र प्रारंभ होता है।

१११. **बृहद्गृह**—राजशेखरने इसे पूर्व दिशाके पर्वतोंमें लिखा है। यह हिमालयकी पूर्वीय श्रेणीमें गौरी-शंकर-शृङ्ग (एवरेस्ट माउंट) का नाम है। यह कुछ ऐतिहासिकोंका मत है।

११२. **ब्रह्म**—पूर्वदिशाका वह देश, जिसे वर्तमान अपर और लोअर बर्मा कहा जाता है।

११३. **ब्रह्मशिला**—यह कान्यकुब्ज जनपदकी पूर्वीय सीमापर स्थित एक स्थान है।

११४. **ब्रह्मोत्तर**—यह पूर्व दिशाका जनपद है, जो बर्माका उत्तरीय भाग या अपर वर्मा है।

११५. **ब्राह्मणवाह**—राजशेखरने इसे उत्तरीय देशके जनपदोंमें लिखा है। कनिंघमके मतानुसार ब्राह्मण नामक नगर अलेक्जेन्डर द्वारा आक्रान्त हुआ था। ग्रीक-लेखक हरभवालियाने इसका उल्लेख किया है। इसका संस्कृत नाम ब्राह्मण-स्थल था। मुसलमानोंने इसका नाम ब्राह्मणावाद रखा। इसका वास्तविक नाम ब्राह्मणवाह था। यह सिन्धु नदीके पूर्वीय तटपर स्थित था।

११६. **भादानक**--भादानक देश भारतकी किस दिशामें है ? इसकी चर्चा राजशेखरने नहीं की है। भादानक, टक्क और मरु—इन तीन देशोंका नाम भाषाओंके प्रसंगमें आया है कि किस देशके व्यक्ति किस भाषाका अधिक प्रयोग करते हैं। इसी प्रसंगमें अपभ्रंश भाषा बोलने वाले देशोंमें इन तीन देशोंके नाम आये हैं। इनमें मरु शब्दका प्रयोग तो राजस्थान या मारवाड़के लिए किया गया है; किन्तु भादानक देशके सम्बन्धमें ऐतिहासिक विद्वानोंका मतभेद है।

पाली भाषाकी पुस्तकोंमें भादीय या भादी नगरका नाम आता है। इस नगरकी यात्रा जैन सम्प्रदायके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीरने की थी। अतः नन्दूलाल दे का मत है कि बिहारके भागलपुर नगरसे आठ मील दक्षिण भादिया या भादरिया गाँव भादानक था। किन्तु राजशेखरका भादानक इससे भिन्न राजस्थान और टक्क देशके आस-पास कहीं होना चाहिए, जो उत्तरीय भारतका एक देश होगा। महाभारत (सभापर्व, ३२ अध्याय) में भाटधान या भादानक जनपदका नाम आता है, जो उत्तर भारतमें था। यह विनशन (थानेसर) से सतलजके मध्यका भाग होना चाहिए, जो भाषाकी दृष्टिसे राजस्थानसे मिलता-जुलता है। भटिंडा, पेप्सू, अम्बाला आदि इसमें आ सकते हैं।

११७. **भृगुकच्छ**—गुजरातका प्रसिद्ध भड़ोच या ब्रोच जनपद ही भृगुकच्छ है। यूनानी लेखक 'टाल्मी' ने इसे 'बारिगज' लिखा है।

११८. **भैमरथी**—दक्षिण देशकी प्रसिद्ध नदी। भीमाका जहाँ कृष्णाके साथ संगम होता है वहाँ इसका नाम भैमरथी हो जाता है।

११९. मगध—बिहार या दक्षिणी बिहार। इसकी प्राचीन राजधानी गिरिव्रज थी, जिसे आजकल राजगृह भी कहते हैं। यहाँ पाँच पर्वत हैं, जिनके कारण इसका नाम गिरिव्रज कहा जाता है। वे पाँच पर्वत—विपुलगिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि, शोणगिरि और वैभारगिरि या व्याहारगिरि हैं। इसकी दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र है। प्राचीन साहित्यमें मगधका नाम कीकट भी लिखा है। महाभारतमें मगधका नाम कीकट आया है। पुंड्र आदि देशोंके समीपका मगध प्रदेश शूद्र प्रकृतिका हो गया था, अतः उसका नाम कीकट रखा गया। राजगृह आदि नगर कीकटमें थे (वायु पु०, १०८, ७३)। निरुक्तकार यास्कने कीकटको अनार्य-निवास या अनार्य-देश लिखा है, (दे० नि०, ६, ३२)।

१२०. मंजर—देखिये, पालदेशका विवरण।

१२१. मध्यदेश—इस देशकी सीमा इस प्रकार है—पश्चिममें सरस्वती (कुरुक्षेत्र), पूर्वमें प्रयाग, दक्षिणमें विन्ध्य और उत्तरमें हिमालय। अन्तर्वेदी और पांचाल भी इसी देशके आन्तरिक भागोंके नाम हैं।

१२२. मरु—राजपूताना या मारवाड़।

१२३. मलद—शाहाबाद या आरा जिलेका एक भाग; जो बिहार प्रान्तमें है। राजशेखरने इसे पूर्व भारतके जनपदोंमें लिखा है।

१२४. मलय—दक्षिण देशकी पर्वत श्रेणियोंका वह प्रदेश; जो कावेरीके दक्षिणतक फैला है। मैसोरसे ट्रावनकोरतक फैली हुई पर्वतमालाका नाम मलय श्रेणी है। मैसोरकी दक्षिण-पूर्व सीमाके घाटका ही नाम सम्भवतः दर्दुर हो, जिसे कालिदासने मलयके साथ लिखा है। (देखिए—रघुवंश सर्ग ४)

१२५. मल्लवर्तक—राजशेखरने पूर्वी भारतके जनपदोंमें इसकी गणना की है। यह मालवा या मल्लदेश (मुलतान) नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह पूर्वी भारतका प्रदेश नहीं है। यह मल्ल पर्वतके आस-पासका प्रदेश है, जो मल्लवर्तकके नामसे प्रसिद्ध था। यह मल्लवर्तक पार्श्वनाथ हिलके नामसे प्रसिद्ध है। अतः यह देश बिहारके हजारीबाग और मानभूम जिलोंका भू-भाग है। महाभारतके अनुसार दो मल्लराष्ट्र थे। दक्षिण मल्ल भोगवान पर्वतके समीप था, (दे० सभापर्व ३२, १२)। भीष्मपर्व (९, ४४) में भी मल्लराष्ट्रका नाम आता है। जैन-ग्रन्थोंके अनुसार पावा और कुशीनगर इसकी राजधानी थे।

१२६. महाराष्ट्र—इसे आजकल मराठा प्रदेश कहते हैं। यह महाराष्ट्र प्रदेश गोदावरीके ऊपरी भागसे लेकर कृष्णा नदी तक का विस्तृत भू-भाग है। इसे रामायणमें दंडकारण्य कहा गया है, (दे० भांडारकरका दक्षिणका इतिहास २)।

१२७. मही—एक नदी; जो मालवा प्रदेशसे निकलकर कच्छकी खाड़ीमें गिरती है। मही और नर्मदाके मध्यभागका नाम माहेय है।

१२८. महेन्द्र—राजशेखरने महेन्द्रको दक्षिण दिशाका पर्वत लिखा है। कालिदासने रघुवंशमें इसे कलिंग देशका पर्वत माना है। राजशेखरने इसे दक्षिण पर्वतोंमें लिखा है और कलिंगको पूर्व जनपदोंमें लिखा है। गंजाम जिलेके पास, महेन्द्र पर्वत, कलिंग देशकी ऊपरी सीमा बनता है। महानदी और गोदावरीके मध्यका पूर्वी घाट महेन्द्रमालासे व्याप्त है।

१२९. महोदय—कान्यकुब्ज या कन्नौजका नाम है। इसका नाम गाधिनगर या गाधिपुर और महोदय भी है। राजशेखरके समय यह देश अतिसमृद्ध और सभ्य था।

१३०. मालव—मालव या अवन्ति देश। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसीका पूर्वीभाग दशार्ण देश कहा जाता था। इसकी राजधानी विदिशा या भेलसा कही जाती थी। आजकलके उज्जयिनी, धौलपुर (दशपुर) और धरा (धार) मालव देशके अन्तर्गत थे। वात्स्यायन कामसूत्र-जयमंगला टीकाके अनुसार उज्जयिनीका उत्तर-पश्चिम देश अपर-मालव कहलाता था। महाभारतमें इसे प्रतीच्य-मालव कहा गया है। (भीष्मपर्व, ११७, ३३; ११९, ८९)

१३१. माल्य शिखर—पश्चिमी भारतका एक पर्वत। रामायणमें वर्णित एक माल्यवान् पर्वत प्रसिद्ध है, जहाँ सुग्रीवकी प्रार्थनापर श्रीरामचन्द्रने वर्षाकाल व्यतीत किया था। परन्तु यह माल्यवान् दक्षिणापथका पर्वत है। राजशेखरका यह माल्य-शिखर मालवाके समीप स्थित विन्ध्य-पर्वतमालाकी एक चोटी प्रतीत होती है।

१३२. माहिषक—नर्मदाके निचले भागका वह प्रदेश; जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी।

१३३. माहिष्मती—वर्तमान महेश्वर नामक स्थान माहिष्मती नगरी है; जो इन्दौरसे ४० मील दक्षिण नर्मदाके तटपर अवस्थित है। राजशेखरने इसे दक्षिणापथके जनपदोंमें लिखा है।

१३४. मुरल—कालिदासने रघुवंशके चतुर्थ-सर्गमें सह्य पर्वत और अपरान्त देशके निकट मुरला नामकी नदीका वर्णन किया है। केरलसे अपरान्त तक सह्य पर्वतके आस-पास फैले हुए भू-भागका नाम मुरल है। यह मुरला नदीके तटपर बसा हुआ एक जनपद है। सम्भवत: यह मिरज देश है; जिसके भीतर बहती हुई मुलमुधा या मुरला नदी भीमा नदीके साथ संगम करती है। कुछ ऐतिहासिक केरल देशकी काली नदीको मुरला मानते हैं।

१३५. मेकल—विन्ध्य-पर्वत-श्रेणीका एक भाग; जिसे अमर-कंटक कहते हैं। यहाँसे नर्मदा नदीका उद्गम होता है। इसी अमर-कंटकका नाम मेकल है और इससे प्रसूत नर्मदा नदीका नाम मेकल-कन्यका है।

१३६. मेरु—इसे महामेरु कहते हैं। यह जम्बू-द्वीपके मध्यमें अवस्थित है। यह चारों ओर इलावृत्त वर्षसे घिरा हुआ है।

१३७. यमुना—प्रसिद्ध यमुना नदी (दे० कलिंद)।

१३८. यवन—राजशेखरने भारतके पश्चिमी भागमें यवन देशका अस्तित्व माना है।

१३९. रत्नवती—मलय पर्वतमालाकी एक नगरी। इसका वर्णन एक कथानकमें आया है।

१४०. रमठ—राजशेखरके मतानुसार उत्तरीय भागमें रमठ देश है। कनिंघमके अनुसार यह रौमक पर्वतका समीपवर्ती भू-भाग है। सिन्धु नदके उत्तर यह समवान् या रौमक पर्वत है; जो साल्टरेंज कहा जाता है। इसे नमकका पहाड़ कहते हैं। इसके समीपका देश रमठ कहा जाता है। रामठ नाम हींगका है। रमठ देशमें उत्पन्न होनेके कारण ही इसका नाम रामठ है। अतः यह निश्चय उसी दिशामें है।

१४१. रावण-गंगा—राजशेखरने इसे दक्षिण दिशाकी नदी माना है; किन्तु इसके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं चलता कि यह वर्तमान समयमें किस नामसे प्रसिद्ध है।

१४२. लंका—लंकाके सम्बन्धमें ऐतिहासिक विद्वानोंका मतभेद हैं। वर्तमान समयमें सिंहलद्वीप या सीलोनको लंका माना जाता है। राजशेखरके मतसे सिंहलद्वीप लंकासे पृथक्

माना गया है। बालरामायण नाटकके दशम अंकमें लंकाविजय करके पुष्पकविमान द्वारा लौटते हुए श्री रामचन्द्रको विभीषण कहता है कि "पश्यस्यग्रे जलधिपरिखं मण्डलं सिंहलानाम्"। अतः यह लंकासे आगे और कुमारीद्वीपके पहले था। दूसरे, लंकाका सीधा रास्ता रामेश्वरम्से न होकर त्रावंकोरसे ठीक पड़ता है। अतः मेडागास्कर नामक वर्तमान द्वीपको लंका माना गया है। यहाँ सोनेकी खानें भी मिलती हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि सोनेकी लंका सम्भवतः यही हो। ऐसा भी ऐतिहासिकोंका मत है। यह मत राजशेखरसे मिलता है।

१४३. लाट—यह देश दक्षिणी गुजरात और खानदेशको मिलाकर लाट कहा जाता था। माही और महोवाके निचले भू-भाग लाट देशमें थे। लाट देश-वासी संस्कृत बोलनेमें मन्द और प्राकृत भाषणमें प्रौढ होते हैं। राजशेखरने लाट देशका पर्याप्त वर्णन किया है। वर्तमान भड़ोच, बड़ोदा, अहमदाबाद और खेड़ाके जिले लाट देशमें थे।

१४४. लम्पाक—राजशेखरने लम्पाक जनपदका अस्तित्व उत्तरीय भारतमें लिखा है। कनिंघमके मतानुसार यह ह्वेनत्सांगका 'लोपो' नगर, पुटोलमीका 'लम्बाटू' नगर और वर्तमान समयका 'लमघम' नामक नगर है। यह लम्पाक जनपद काबुल नदीके उत्तरीय तटपर अलीनगरसे पश्चिम कुनार नदीसे पूर्व और स्नो-पर्वतसे उत्तर है। लम्पाक नामक ज्योतिषका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। कवियोंके वर्णनमें भी चन्द्रभागाके ऊपरी देशोंमें लम्पाकका होना प्रतीत होता है।

१४५. लोहित गिरि—यह पूर्व भारतका एक पर्वत है; जो हिमालय पर्वत मालाकी पूर्वी श्रेणीमें है। यहींसे लौहित्य या ब्रह्मपुत्र नदका उद्गम होता है।

१४६. लौहित्य—ब्रह्मपुत्र नदका नाम है। यह लोहित गिरि या लोहित सरोवरसे निकलकर तिब्बतकी सीमापर पूर्वकी ओर बहता हुआ और हिमालयकी परिक्रमा करके दक्षिणकी ओर आसामसे होता हुआ बंगालमें गंगासे मिलता है और सहस्र-मुख होकर बंगालकी खाड़ीमें गिरता है। इसकी लम्बाई १८०० कोश है।

१४७. वंग—बंगालप्रदेश। इसे समतट देश भी कहते हैं। किसी समय टिपरा और गारो पर्वततक इसकी सीमा थी।

१४८. वंजुला—यह वंजुला या मंजुला गोदावरीकी सहायक नदी है। इसका उद्गम पश्चिमी घाट या सह्य-पाद पर्वतसे होता है। वंजुल नाम बेंतका है। सम्भव है, इसमें बेंत उत्पन्न होनेसे वेत्रवतीके समान इसका नाम वंजुला पड़ गया हो।

१४९. वत्सगुल्म—यह विदर्भ प्रान्तका एक नगर है। कर्पूर-मंजरीमें इसकी चर्चाकी गई है। महाभारतके वनपर्वमें वंशगुल्म नामक स्थानका वर्णन है; जहाँसे नर्मदाका स्रोत निकला है। कामसूत्रमें इसका नाम वत्सगुल्मक कहा गया है। कामसूत्रकी टीका 'जयमंगला' में लिखा है—"दक्षिणापथमें वत्स और गुल्म नामके दो सहोदर राजपुत्र थे। उनके द्वारा शासित देशका नाम वत्सगुल्म है।" बृहत्कथा मंजरीमें भी लिखा है :—

> **'अभूतां दाक्षिणात्यस्य द्विजातः सोम शर्मणः।**
> **वत्स-गुल्माभिधौ पुत्रौ'**········ बृ० क० मं० १,३,४।

१५०. वरुण—भारतके नौ भागोंमें एक भागका नाम। यह सम्भवतः वर्तमान बोर्नियो है। पुराणोंमें इसे वारुण द्वीप भी कहा है।

१५१. वर्णा—राजशेखरने दक्षिण भारतकी नदियोंमें इसका नाम लिखा है। यह सह्य पर्वतसे निकलती है।

१५२. वल्लार—यह दक्षिण भारतके वल्लाल वंश द्वारा शासित भू-भाग वल्लार कहा जाता है। मद्रास प्रान्तमें वेंकटगिरि, चित्तूर, वेल्लौरी जिलोंका यह सम्मिलित भू-भाग है।

१५३. वल्हव—उत्तरीय भारतके देशोंमें इसकी गणना की गई है। यह सम्भवतः राजतरंगिणीमें वर्णित वल्लपुर या वर्तमान वल्लवार है। यह कश्मीरके दक्षिण-पूर्वकी ओर है।

१५४. वाणायुज—राजशेखर द्वारा यह उत्तर-भारतमें उल्लिखित किया गया है। यह अरब देश है। कालिदासने वनायु देशके घोड़ों की चर्चा रघुवंशमें की है। कौटिल्यने भी अर्थशास्त्रमें घोड़ोंके लिए इस देशको उत्कृष्ट माना है।

१५५. वानवासक—यह उत्तर कनारा देश है। टाल्मीने इस देशका नाम 'वनाउसी' लिखा है। यह वरदा नदीके बाएँ तटपर बसा है, जो वरदा तुंगभद्राकी सहायक नदी है। वनवासी कदम्ब वंशके राजाओंकी राजधानी थी। इसके प्रवर्तक राजाका नाम मयूरध्वज था।

१५६. वामनस्वामी—वामनस्वामीका यह मन्दिर कन्नौजके पश्चिमी भागमें है। पद्मपुराणके सृष्टिखंडमें लिखा है कि अयोध्याके राजा रामचन्द्रने महोदय या कान्यकुब्ज नगरमें विष्णुके अवतार—वामनस्वामीका मन्दिर स्थापित किया था। (देखिए—नन्दूलाल दे का भौगोलिक कोष, पृ० ८९)

१५७. वाराणसी—वाराणसी प्रसिद्ध नगरी काशी या बनारस। बनारसके समीपका भू-भाग इसी नामसे प्रसिद्ध था।

१५८. वार्तघ्नी—राजशेखरने पश्चिमी भारतकी नदियोंमें इसका उल्लेख किया है। यह सम्भवतः साबरमतीकी सहायक नदी वात्रक है; जो खेड़ाके पास साबरमतीसे मिलती है।

१५९. वाल्हीक—यह व्यास और सतलजके मध्यका भूभाग है जो कैकयदेश के उत्तरमें है। त्रिकांड शेष कोषके अनुसार यह त्रिगर्त देशका नाम है। वाह्लीक, वाहीक या जर्तीकके नामसे यह देश प्रसिद्ध है। महाभारत (कर्णपर्व अध्याय ४४) में लिखा है कि ये वाहीक बलखकी ओर से भारतमें आए और उन्होंने रावीके पश्चिम शाकल या स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया। कनिंघमने अपने नोट (पृ० ६८३) में इसकी पुष्टि की है। कैय्यटने इन्हें बहिस् लिखा है और इनसे गौ की उपमा देते हुए 'गौर्वाहीकः' शब्दका प्रयोग किया है।

१६०. वाहीक—यह पंचनद देशका नाम है। इसे आरट्ट और टक्क भी कहते हैं। कुवलयमाला-कथामें इसे टक्क देश लिखा है। राजशेखरने भी इसे टक्क लिखा है। महाभारतके टीकाकार नीलकंठने इस देशका परिचय लिखा है:—**'पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां यत्र संगमः। वाहीका नाम ते देशाः'**। महाभारत, महाभाष्य और अष्टाध्यायीमें वाहीक देशके अनेक नगरों और ग्रामोंके नाम आते हैं। कैय्यटने वाहीकोंकी उपमा गौ से दी है। सरस्वती कंठाभरणमें इन्हें बाहरी कहा गया है, **'बहिर्भवो वाहीकः'**। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है कि रुद्रका शर्व नाम पूर्व देशमें और भव नाम वाहीकोंमें प्रचलित है (दे० स० कं० १. ७. ३. ८)। भरत नाट्यशास्त्रके अनुसार वाहीक लोग उदीच्य भाषाका प्रयोग करते थे। मध्यदेशवासी वाहीकोंको प्रायः अनार्यवृत्तिका समझते थे।

१६१. वितस्ता—पंजाबकी प्रसिद्ध झेलम नदी।

१६२. विदर्भ—यह बरार और खानदेशके कुछ भागको मिलाकर एक भू-भागका नाम था। कालिदासने विदर्भ और क्रथ-कैशिक दोनों देशोंको एक ही लिखा है। यह भारतका प्राचीन

और प्रसिद्ध राज्य है । समय-समयपर इसकी सीमाओं और राजधानियोंमें प्रायः परिवर्तन होता रहा है । कुन्तल देशके उत्तरीय भागसे और कृष्णाके तटसे नर्मदाके मध्यका भाग विदर्भ था । वर्तमान समयमें इसका व्यापक नाम महाराष्ट्र है । वरदा नदी विदर्भको दो भागोंमें विभक्त करती है । उत्तरीय भागका प्रधान स्थान अमरावती और दक्षिणभागका प्रतिष्ठान या पैठन है ।

१६३. **विदेह**—बिहार प्रान्तका तिरहुत जनपद; जिसकी राजधानी मिथिला थी । यह देश मगधके पूर्वोत्तर है । यह एक ओर नेपालसे सुरक्षित है । सीतामढ़ी, जनकपुर और सीताकुंड तिरहुतका उत्तरीय भाग और चम्पारनका पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेह में था । यह भारतका अतिप्राचीन और प्रसिद्ध देश है । इसका प्राचीन नाम तीरभुक्ति है; जिसका अपभ्रंश तिरहुत है ।

१६४. **विनशन**—जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हुई । यह स्थान थनेसरसे पश्चिमकी ओर है ।

१६५. **विन्ध्य**—प्रसिद्ध विन्ध्य पर्वत या विन्ध्यपर्वतमालाकी वह शाखा, जिसका नाम सतपुड़ा है । यह ताप्ती और नर्मदाका मध्यभाग है ।

१६६. **विपाशा**—पंजाबकी एक प्रसिद्ध नदी । यह कुल्लूके ऊपर व्यास कुंडसे निकलकर पंजाबके मैदानोंमें आकर सतलजसे मिलती है । इसका प्रसिद्ध नाम व्यास है ।

१६७. **विशाला**—अवन्ति देशकी प्रधान नगरीका एक नाम ।

१६८. **वेणा**—कृष्णानदीकी एक सहायक नदी (देखिए, वर्णा) ।

१६९. **वैदिश**—भोपाल राज्यमें वेत्रवती या बेतवा नदीके तटपर भिलसाके नामसे प्रसिद्ध विदिशा नगरीके आस-पासका भू-भाग वैदिश कहलाता है । यह विदिशा या भेलसा नगरी भोपालसे २६ मील दक्षिण-पूर्व है । यह दशार्ण देशकी राजधानी थी । सम्राट् पुष्यमित्रका पुत्र अग्निमित्र अपने पिताके समय इसी नगरमें राज्यपाल (गवर्नर) के रूपमें निवास करता था । कालिदासके मालविकाग्निमित्र नाटकमें इसकी चर्चा है । बाणभट्टके कादम्बरीका प्रधान नायक शूद्रक विदिशाका राजा था ।

१७०. **वोक्काण**—यह हिन्दुकुश पर्वतका बदख्शान नगर है । कनिंघमने इसे अफगानिस्तान माना है । यह मत प्रामाणिक मालूम होता है । बदख्शान सम्भवतः वाह्लीक देशका नाम था ।

१७१. **शक**—शक लोगोंने भारतमें प्रवेशकर जहाँ सर्वप्रथम अपना स्थान बनाया; उसे शकस्थान कहते हैं । यह पंजाबका प्रसिद्ध नगर स्यालकोट है । भारतमें प्रथम आनेवाले ग्रीक राजा दमित्रस्, मिहिरकुल और हूण सभी पहले-पहल इसी देशमें आए तथा यह परम्परा पाँच वीं शताब्दीतक प्रचलित रही । दरददेशसे पश्चिमकी ओर वक्षु (आक्सस) या चक्षु (जिहुँ) नदीके तटपर शकोंका निवास था । पुराणोंमें इस देशको शकद्वीप कहा है । नन्दूलाल दे के भौगोलिक कोशमें पुराणोंके शकद्वीपकी यूनानी के लेखक टाल्मीके सीथियासे अपूर्व तुलना की गई है । टाल्मीका वर्णन पुराणोंके लेखोंसे अत्यधिक मिलता है । यवन और काम्बोजोंके समान शक कभी आर्य थे । ब्राह्मणादर्शनसे म्लेच्छ हो गए । महाभाष्यमें **'शक-यवनम्'** समाससे आर्यावर्तसे निर्वासित शूद्रोंका ग्रहण है, चरक संहितामें शक लोग यवनोंके समान मांस, गेहूँ और माध्वीकका सेवन करते थे ।

१७२. शतद्रु—पंजाबकी प्रसिद्ध नदी है। यह सतलजके नामसे प्रसिद्ध है।

१७३. सिप्रा—मालवाकी प्रसिद्ध नदी; जिसके तटपर उज्जयिनी नगरी बसी है। कालिदासने अपने मेघदूतमें सिप्राका वर्णन किया है।

१७४. शुक्तिमान्—यह हिमालय पर्वतकी श्रेणीका एक भाग है; जो भारत के कुल पर्वतोंमें एक है। नेपालकी हिमालय स्थित शाखाका नाम शुक्तिमान् है।

१७५. सूरसेन—सूरसेन राज्यकी राजधानी मथुरा थी। राजशेखरने इसे उत्तर दिशाके देशोंमें उल्लिखित किया है और सूरसेनके किसी कुविन्द नामक राजा की भी चर्चा की है। इसके अन्तःपुरमें ट,ठ,ड,ढ, ख और घ आदि कठोर अक्षरोंका उच्चारण वर्जित था। विविध-तीर्थ-कल्पमें लिखा है कि सूरसेन जनपदमें पाँच स्थल और बारह वन थे।

१७६ शृंगवान्—यह महामेरुके उत्तरी ओर तीसरा पर्वत हैं; जो उत्तर कुरु-वर्षका पर्वत है।

१७७. शोण—पूर्वदेशका प्रसिद्ध नद शोण; जो गोंडवानेसे निकलकर पटनाके समीप गंगासे मिलता है।

१७८. श्रीपर्वत—राजशेखरने दक्षिण भारतमें इस पर्वतका उल्लेख किया है। यह प्रसिद्ध श्रीशैल भारतके विख्यात तीर्थोंमें है। इसमें द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें एक मल्लिकार्जुन शिवका मन्दिर है। श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्। यह स्थान सेंट्रल रेलवेके कृष्णा स्टेशनसे ५० मील दूर कुरुनुल नगरके समीप है।

१७९. श्वभ्रवती—यह गुजरातकी प्रसिद्ध साबरमती नदी है। श्वभ्रवतीका अपभ्रंश साबरमती है। यह उत्तरी गुजरातसे चलकर कच्छकी खाड़ीमें गिरती है।

१८०. श्वेतगिरि—यह महामेरुसे उत्तर दूसरा पर्वत है; जिसपर हिरण्यवर्ष स्थित है।

१८१. सरयू—उत्तर प्रदेशकी प्रसिद्ध नदी सरयू; जिसके तटपर अयोध्या स्थित है। यह नदी कुमाऊंकी शैलमालासे निकलकर छपराके पास गंगासे संगम करती है।

१८२. सरस्वती—राजशेखरने दो नदियोंका नाम सरस्वती रखा है; उनमें एक उत्तर भारतकी सरस्वती है और दूसरी पश्चिम भारतकी। उत्तर भारतकी सरस्वती थनेसर और पृथूदक (पिहोवा) के पास बहती हुई विनशनमें लुप्त हो जाती है। पश्चिमी सरस्वती बड़ौदाके पट्टनके समीप बहती है। इसकी एक छोटी शाखा कच्छकी ओर जाती है। उदय-पुरके पास घेवर झीलसे इस सरस्वतीका उद्‌गम होता है।

१८३. सहुड़—राजशेखरने इसे उत्तरी भारतके जनपदोंमें लिखा है।-यह पश्चिमी अफगानिस्तानका एक भाग है। इसे वर्तमान समयमें 'सफेदकोह' और 'सब्ज बाजार' नामसे कहा जाता है।

१८४. सह्य—दक्षिण भारतके प्रसिद्ध पर्वतोंमें हैं; जो पश्चिमी घाटमें स्थित है। उसके दक्षिणकी ओर कावेरी और उत्तर की ओर गोदावरी बहती है।

१८५. सिन्धु—भारतके उत्तरी भागमें सिन्धके नामसे प्रसिद्ध है। इसे अंगरेजीमें इंडस् कहा जाता है। इसकी कई शाखाएँ अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हैं। महाभारत कालमें सिन्धु नामका महाजनपद था। इसके अन्तर्गत दस राष्ट्र और थे।

१८६. **सिंहल**—प्रसिद्ध सीलोन द्वीपका नाम सिंहल है। राजशेखरके मतसे यह लंकाके अतिरिक्त एकद्वीप है। (देखिए, लंका)

१८७. **सौराष्ट्र**—भारतकी पश्चिम दिशाका प्रसिद्ध काठियावाड़ जनपद और गुजरात प्रदेशका कुछ भाग सौराष्ट्रके नामसे कहा जाता है। द्वारका नगरी इसी देशकी राजधानी थी। इसे आनर्त देश भी कहते हैं। कुछ दिनों तक वलभी भी इसकी राजधानी थी।

१८८. **सुम्ह**—राजशेखरने पूर्वी भारतके जनपदोंमें इसकी गणना की है। कालिदासने रघुवंशके चतुर्थ सर्ग (३५,३८ श्लोक) में इस देशकी चर्चा कपिशा नदीके समीप की है। यह बंग और उत्कल देशके मध्यमें स्थित बंगालकी खाड़ीके समीपका देश है। इसकी राजधानी ताम्रलिप्ति या प्रसिद्ध तामलुक थी। प्राचीन ग्रन्थोंमें इसके चार नाम पाये जाते हैं—ताम्रलिप्त, दामलिप्त, ताम्रलिप्ति या तमालिनी। यह वर्तमान तामलुक, कपिशा या कसयाके दक्षिण तटपर अवस्थित है। प्राचीन समयमें यह भारतीय व्यापारका प्रसिद्ध बंदरगाह था। इसके निवासी सुम्हराढ़ कहे जाते हैं; जो पश्चिम बंगालके निवासी हैं। वर्तमान मिदिनापुर, हुगली और वर्दमान आदि जिले सुम्हमें थे।

१८९. **सूर्पारक**—राजशेखरके मतानुसार यह देश दक्षिण भारतमें है; जो थाना (टाणा) जिलेका प्रसिद्ध सोपारा नामक जनपद है। यह बम्बईसे दक्षिण ३७ मील और वासिमसे दक्षिण पूर्व ४ मील है। प्राचीन समयमें यह विस्तृत जनपद, एक राज्य रहा होगा। सूर्पारक कोंकणका एक प्रदेश है। मंखने श्रीकंठचरित (२५, १००) में लिखा है, जहाँ जमदग्निका निवासस्थान है। महाभारत (आरण्यक पर्व) में लिखा है, '**वेदी शूर्पारके तात! जगदग्नेर्महात्मनः**'।

१९०. **सौम्य**—पृथ्वीके नौ खंडोंमें एक। यह भारतके दक्षिण पश्चिमकी ओर है।

१९१. **हंसमार्ग**—इसे कालिदासने मेघदूतमें हंस-द्वार या क्रौंच-रन्ध्र लिखा है। पुराणोंके अनुसार परशुरामने अपने बाणसे क्रौंच पर्वतका भेदन किया था। अतः कालिदासने इसे **भृगुपति-यशोवर्त्म'** लिखा है। यह कुमाऊँसे कैलासके मार्गमें आनेवाला प्रसिद्ध नीति-दर्रा है; जो भारतको तिब्बतसे मिलाता है।

१९२. **हारहूरव**—राजशेखरने इसकी गणना उत्तर प्रदेशके जनपदोंमें की है। यह सिन्धु नदी और झेलमका मध्य भू-भाग प्रतीत होता है। यह गंडगढ़ पर्वत और नमकके पर्वतोंके आस-पासका स्थान है। कनिंघमका भी यही मत है। कौटिल्यके अर्थशास्त्र में हारहूरव सुराका वर्णन है। महाभारतके आरण्यकपर्व (अ० ४८) में इसका नाम हारहूण है—

"पह्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनान् शकान्।
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवाँस्तथा।
जागुडान् रमठान् मुंडान् स्त्रीराज्यानथ तद्गुणान्" (२०–२१)

अन्यत्र हारपूरिक या हारहूरिक नाम भी मिलता है।

१९३. **हस्तिनापुर**—कुरु देशकी प्रसिद्ध राजधानी, जिसे हास्तिन नामके राजाने बसाया था। यह गंगाके दक्षिण तटपर, मेरठसे २२ मील दूर उत्तर पश्चिम कोणमें और दिल्लीसे ५६ मील दक्षिण पूर्व आज भी खंडहरोंके रूपमें विद्यमान है।

१९४. **हिडिम्बा**—राजशेखरने हिडिम्बा नदीका उल्लेख पश्चिमी भारतकी नदियोंमें किया है। इसे विन्ध्यसे निकलनेवाली चर्मण्वती या चम्बल नदी माना जा सकता है। यह

पश्चिम भारतमें बहती हुई इटावाके पास एकचक्रामें यमुनासे मिलती है। महाभारतके मतानुसार एकचक्रा नदी हिडिम्ब वनके समीप है। यहीं भीमसेनने हिडिम्बको मारकर हिडिम्बासे विवाह किया था। यह चर्मण्वती नदी हिडिम्ब वनके समीप बहती है। सम्भवतः इसके नामकरणका यही कारण हो।

१९५. **हिमवान्**—भारतका प्रसिद्ध पर्वत हिमालय।

१९६. **हिमालय**—भारतका प्रसिद्ध पर्वत।

१९७. **हूण**—राजशेखरने इसे उत्तरी भारतका एक प्रदेश लिखा है, कालिदासने रघु-दिग्विजयमें भी इस देशका नामोल्लेख उत्तरकी ओर ही किया है और उन्होंने पारसीक या पर्शियासे इसके मार्गका वर्णन किया है; जो वंक्षु (सिन्धु) नदीको पार करनेपर प्राप्त होता है।

१९८. **हुडुक**—यह उत्तर देशके जनपदोंमें एक है, जो कश्मीरका उत्तरी भू-भाग प्रतीत होता है। ह्वेनत्सांग जब पश्चिमसे कश्मीरकी घाटीकी ओर गया, तब उसने 'हू-से-किया-लो' नगरमें प्रवेश किया, जो हुष्कर कहा जाता था। राज-तरंगिणीमें वराह या वारामूलाके समीप हुष्करपुरका वर्णन किया है। आज भी वेहट नदीके पूर्व तटपर 'पुष्करपुर' या 'उष्कर' नामक गांव स्थित है, जो राजशेखरके हुडुक जनपदका प्रतिनिधित्व करता है। सम्भव है, यह समूचे कश्मीरका नाम हो; क्योंकि उत्तरी भारतके देशोंमें राजशेखरने कश्मीरका नाम नहीं लिखा है।

१९९. **हेमकूट**—यह एक वर्ष पर्वत है, जो महामेरुके दक्षिण ओर का दूसरा पर्वत है। यह किंपुरुष वर्षका प्रधान पर्वत है। यह पर्वत हिमवान्, हिमालय तथा भारतके उत्तरकी ओर स्थित है। श्री नन्दूलाल दे इसे नेपालका पर्वत मानते हैं। कुछ ऐतिहासिक विद्वानोंके मतसे यह तिब्बत कहा जा सकता है।



परिशिष्ट—३

काव्यमीमांसामें उद्धृत ग्रन्थ और आचार्य

काव्यमीमांसामें जिन ग्रन्थोंसे उदाहरण दिये गये हैं; उनके नामोंका उल्लेख राजशेखरने नहीं किया है। किन्तु जिनका पता लग सका है, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

१—ऋग्वेद, २—यजुर्वेद, ३—शतपथ ब्राह्मण, ४—ऐतरेय ब्राह्मण, ५—निरुक्त, ६—पातंजल महाभाष्य, ७—रामायण, ८—महाभारत, ९—गीता, १०—रघुवंश, ११—कुमारसम्भव, १२—विक्रमोर्वशीय, १३—शाकुन्तल, १४—किरातार्जुनीय, १५—जानकी-हरण, १६—कादम्बरी, १७—शिशुपालवध, १८—हयग्रीववध, १९—मालतीमाधव, २०—सूर्यशतक, २१—वेणीसंहार, २२—महानाटक, २३—महिम्नः स्तोत्र, २४—बालरामायण, २५—बालभारत एवं २६—विद्धशाल-भञ्जिका।

राजशेखरने जिन साहित्यकारों एवं आलंकारिक आचार्योंके मत काव्यमीमांसामें उद्धृत किये हैं; उनके नाम ये हैं—

१—सुरानन्द, २—श्यामदेव, ३—वामन, ४—उद्भट, ५—आपराजिति, ६—द्रौहिणी, ७—रुद्रट, ८—कालिदास, ९—वाक्पतिराज, १०—अवन्तिसुन्दरी, ११—आनन्दवर्द्धन, १२—बौद्ध आचार्य पाल्यकीर्ति और १३—मंगल।

इनमें वामन, उद्भट, आनन्दवर्द्धन और रुद्रट प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। कुछ विद्वानोंके मत उनकी रचनाओंके अनुकूल-वाक्यों द्वारा तर्कित किये गये हैं। अलंकारशास्त्रके प्रसिद्ध और सर्व प्राचीन विद्वान् भामह तथा दण्डीका नाम नहीं दिया गया है; यद्यपि उनके अनुयायियोंके मत और भामहके अनेक विचारों पर स्पष्टरूपेण मीमांसा की गई है। अनेक विषयोंके सूत्र उन्हें भामह द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। उनके मतोंका उल्लेख 'आचार्याः' के रूपमें प्रायः प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण और विष्णु-धर्मोत्तर पुराण आदिके आधार लिये गये हैं। पाल्यकीर्ति, मंगल आदि जैन विद्वानोंके उद्धरण भी दिये गये हैं।

भरत-नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन-कामशास्त्र और कौटिलीय-अर्थशास्त्रके नामोंका उल्लेख तो नहीं किया गया; किन्तु उनके भाव, उनकी शैली और कहीं-कहीं इन ग्रन्थोंके पूरे वाक्य भी उद्धृत किये गये हैं।



परिशिष्ट—४

ऐतिहासिक-प्रकाश

राजशेखरकी काव्यमीमांसाके अध्ययनसे संस्कृत-साहित्य सम्बन्धी कुछ ऐसी समस्याओंका समाधान होता है; जो कुछ दिनोंसे विद्वानोंके लिए सन्देहका स्थान हुई थीं। हम संक्षेपतः उनकी चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं।

महाकवि भवभूति संस्कृतके प्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने महावीरचरित, उत्तर-रामचरित और मालती-माधव नामक तीन नाटक लिखे हैं। इन तीनोंका अभिनय उन्होंने भगवान् कालप्रियनाथकी यात्राके अवसरपर कराया है। अतः ऐतिहासिक विद्वानोंमें यह सन्देहका विषय बन गया कि यह काल-प्रियनाथ कौन हैं? इन नाटकोंके कतिपय टीकाकारोंने उज्जयिनीके महाकालकी ओर संकेत किया है। किसीने विदर्भ देशके पद्मपुर नामक ग्रामके आस-पास कालप्रियनाथका अस्तित्व मान लिया है। इसका कारण यह कि भवभूतिने अपना निवासस्थान नहीं लिखा है। दूसरे, ऐसे महाविद्वान्का उज्जैन जैसे विद्यानगरीके किसी राजाके आश्रित होना आवश्यक है। इस कल्पनाके आधारपर भवभूतिका उज्जयिनीके साथ आनुमानिक सम्बन्ध जोड़ा गया है। ऐसी स्थितिमें कन्नौजके राजा यशोवर्माके साथ भवभूतिका या उनके नाटकोंका सम्बन्ध जोड़नेमें कोई तुक नहीं बैठता। अतः ऐतिहासिकोंके लिए यह एक समस्या थी।

राजशेखरके एक प्रकरणसे इस समस्याका सुन्दर और समीचीन समाधान होता है। राजशेखर भी भवभूतिके एक-दो शतकोंके अनन्तर कन्नौजके राजा महेन्द्रपालके गुरु रहे और उन्होंने भी अपनी नाट्य-रचनाएँ वहीं कीं। इतना ही नहीं; वे कन्नौज के परम भक्त थे। उन्होंने यहाँकी स्त्रियोंके वेष-विन्यासको सारे भारतके लिए आदर्श माना है और काव्य-पाठकी सबसे अधिक प्रशंसा की है। भौगोलिक वर्णनमें उन्होंने प्रसंगानुसार कन्नौजकी चौहद्दी का वर्णन करते हुए ब्रह्मशिला, वामन स्वामी, गाधिपुर और कालप्रियनाथकी चर्चा की है। वामन स्वामीका मन्दिर प्राचीन पुराणोंमें वर्णित है और कन्नौज के पास है। इसी प्रकार कालप्रियनाथ भी कन्नौजके एक भागमें थे। यह सर्वथा सम्भव है कि शिवरात्रि आदिके अवसरपर इनका विशाल मेला लगता होगा और उसीको लक्ष्य करके भवभूतिने अभिनय प्रदर्शन कराया हो और उनके स्वामी यशोवर्माका उत्सवमें पूर्ण सहयोग हो।

अतः भवभूतिके वर्णित कालप्रियनाथ उज्जैन या विदर्भके कोई कल्पित कालप्रिय नहीं; कन्नौजके कालप्रियनाथ हैं—यह निर्विवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार भवभूतिके नाटकोंकी रचनाका यशोवर्माके समय उसके राज्यमें होना संगत हो जाता है। काव्यमीमांसामें इसी प्रकार अन्य अनेक विचारणीय ऐतिहासिक स्थल हैं, जिनपर विस्तृत विमर्श करनेका अवसर है। विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया गया।



अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका में (टि०) संकेत से टिप्पणी समझना चाहिए और उल्लिखित पृष्ठ-संख्याओं की टिप्पणी में शब्द को ढूँढ़ना चाहिए। किन्तु, जो शब्द ग्रन्थ और टिप्पणी—दोनों में हैं, उनका निर्देश अलग नहीं किया गया है।

श